प्रकाशकीय

ब्रह्मसूत्र-प्रवचनका यह द्वितीय भाग आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष है। अभी चार मास पूर्व ही इसका प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है। उसमे जिज्ञासाधिकरण भी देनेका ख्याल था और भूमिकामे इसका उल्लेख भी कर दिया गया था किन्तु वह न जा सका। अब इस भागमे हम उसे दे रहे है।

पुस्तकका कलेवर अधिक बडा न हो इसलिए समस्त चतु:सूत्रीके शारीरिक भाष्यका प्रवचन हम इस भागमें भी समाविष्ट नही कर पा रहे है। इस भागमे केवल जिज्ञासाधिकरण सूत्र-१—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायका प्रथम पाद) जन्माद्यधिकरण सूत्र-२ 'जन्माद्यस्य यत:', शास्त्रयोनित्वाधिकरण सूत्र-३ 'शास्त्रयोनित्वात्' मात्रके प्रवचन प्रस्तुत किये जा रहे है।

आशा है विज्ञ पाठकजन इससे लाभ उठायेंगे और अगले भागकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे।

इस द्वितीय भागके प्रकाशनमे पहले भागकी ही भाति श्री डी. एम दहानुकर चैरिटेबुल ट्रस्ट, बम्बईके हम अत्यन्य कृतज्ञ है जिसने १५००० रुपयेका अनुदान इसे प्रकाशित करनेमें दिया है।

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

श्री दहानुकरजीका पत्र

॥ ॐ श्री श्री राम कृष्ण ॥

'रत्नाकर'
बम्बई–६
१०-६-७६

परमपूज्य अनन्तश्री स्वामी
श्रीमत् अखण्डानन्द सरस्वती जी
संस्थापक · सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

हे, भगवन्,

आपके ब्रह्मसूत्रके सरल-सुलभ प्रवचन-श्रवण करनेसे मुझे बहुत लाभ और प्रसन्नता हुई. स्वाध्याय-प्रेमी मुमुक्षुओंको आध्यात्मिक प्रगतिमें इस ग्रन्थसे गहन विषयका मार्ग-दर्शन कर करामलकवत् हो जायगा.

आपके अमूल्य ग्रन्थके प्रकाशनके लिए और रुपये १५००० (पन्द्रह हजार) अर्पण करता हूँ. यह मैं आत्मीय भावनासे उपासना करता हूँ.

मैं तो अभी भ्रमके समुद्रमे (भ्रम-महार्णवे) डूबा हूँ. भगवन् ! मुझे वहाँसे उठाकर ब्रह्म-समुद्रमे (ब्रह्म-महार्णवे) डुबा दीजिये.

मैं प्रार्थना करता हूँ कि महाराज ! मुझपर अनुग्रह कीजिये कि 'इहैव' जीवन-मुक्तिका आनन्द प्राप्त हो जाय और ब्रह्मसूत्रके अध्ययनसे ब्रह्म भवन द्वारके अभिमुख हो हाऊँ.

सविनय, भवदीय
दत्तात्रय दहानुकर

विषय-सूची

●

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

(ब्र० सू० अध्यय १, पाद १, सूत्र १)

'इसके अनन्तर अब सम्पूर्ण अनर्थोंसे मुक्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिए हम ब्रह्मका विचार करते हैं।'

अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ब्रह्मसूत्र-प्रवचन (२)

(६.०)

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-१

('अथ' पदका विचार)

मूलभाष्य—

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ १.१ ॥

तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति । पूर्व-प्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् ।

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्त नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह कर्मावि-बोधानन्तर्यं विशेषः । न, धर्मजिज्ञासाया. प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ।

यथा च हृदयाद्यवदानानामान्तर्यनियम. क्रमस्य विवक्षितत्वाम्न तथेह क्रमो विवक्षित', शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणा-भावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च । अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षम् । निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् ।

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्र-

त्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्य नित्यत्वात् न पुरुषव्यापार-तन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षण सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुष-मवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽ-वबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्य यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति।

उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्म-जिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितु ज्ञातु च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

(शारीरक भाष्य-ब्रह्मविचार भाष्याश)

अर्थ :—व्याख्यानके विपयीभूत वेदान्तमीमासा-शास्त्रका यह आदि सूत्र है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१ १ १)

सूत्रमे 'अथ' शब्द आनन्तर्य-अर्थमे परिगृहीत है, आरम्भके अर्थमे नही, क्योकि ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ नही किया जा सकता और मगलका वाक्यार्थमे समन्वय नही होता, इसलिए आनन्तर्य अर्थमे ही प्रयुक्त हुआ 'अथ' शब्द मगलरूप प्रयोजन-वाला होता है। विचाररूप फलकी कारणभूत पूर्वप्रकृतके साथ जो अपेक्षा है उसका आनन्तर्यसे भेद नही है।

तो 'अथ' शब्दके आनन्तर्यार्थक होनेपर जैसे धर्मजिज्ञासा पहिले नियमसे होनेवाले कारणभूत वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी पहिले नियमसे होनेवाली जिस वस्तुकी अपेक्षा रखती हो, उसको कहना चाहिए। इस सम्बन्धमे स्वाध्याय और वेदाध्ययन तो दोनोमे (धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासामे) समान है। यदि कहो कि ब्रह्मजिज्ञासामे धर्म जिज्ञासाकी अपेक्षा

कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है, तो यह युक्त नही है, क्योकि वेदान्त पुरुषको भी धर्मजिज्ञासासे पहिले ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है।

और जैसे हृदयादिके अवदानो (छेदन)मे आनन्तर्य क्रमका नियम है, क्योकि वहाँ क्रम विवक्षित है, वैसे यहाँ ब्रह्मजिज्ञासामे क्रम विवक्षित नही है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामे अगागी-भाव अथवा अधिकृताधिकार माननेमे कोई प्रमाण नही है एवं दोनोके फल और जिज्ञास्यमे भी भेद है। धर्मज्ञान अभ्युदय फलवाला है तथा वह अनुष्ठानकी अपेक्षा रखता है। ब्रह्मज्ञान तो मोक्षरूप फलवाला है और वह अनुष्ठानकी अपेक्षा नही रखता।

धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म भव्य (साध्य) है और धर्मज्ञानके कालमे नही है, क्योकि वह पुरुष-व्यापारके अधीन है। यहाँ ब्रह्म-मीमासामे सिद्ध ब्रह्मजिज्ञासा है और वह नित्य होनेसे पुरुष-व्यापारके अधीन नही है। बोधक प्रमाणकी प्रवृत्तिके भेदसे भी भेद है। जो विधि धर्मका बोध कराती है वह पुरुषको स्वविषयमे नियुक्त करती हुई बोध कराती है। परन्तु ब्रह्मबोधक प्रमाण पुरुषको केवल बोध ही कराता है, अवबोध ब्रह्मप्रमाणसे जन्य है। इसलिए ब्रह्मप्रमाण पुरुषको ज्ञानमे नियुक्त नही करता, जैसे इन्द्रिय विषयके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञानमे नियुक्त नही होती। इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है, ऐसा कोई असाधारण हेतु कहना चाहिए।

कहते है—नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहलौकिक, पारलौकिक विषय-भोगोसे विराग, शमदमादिसाधनसम्पत्ति और मुमुक्षता। उन साधनोके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नही। इसलिए अथ शब्दसे पूर्वोक्त साधन सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है। •

(६.१)

वेदान्तमीमांसा-शास्त्र

वेदान्तमीमासाशास्त्रस्य व्याचिख्यासि तस्येदमिदं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

(भाष्य)

वेदान्तमीमासाशास्त्रका जिसका हम व्याख्यान करेंगे यह आदि सूत्र है। क्या ? अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

ब्रह्मज्ञान वेदान्त-शास्त्रैकगम्य है, अन्यथा नही। उसीकी मीमासा ब्रह्मसूत्रमे है जिसका भाष्य भगवान् श्रीशकराचार्य करने जा रहे हैं।

वस्तु-ज्ञान प्रमाणके अधीन होता है। जैसे रूप-विषयका ज्ञान नेत्रेन्द्रियके अधीन है; रूपके सम्बन्धमे नेत्र जो ज्ञान बताता है यह न तो किसी अन्य इन्द्रियसे झूठा सिद्ध हो सकता है और न रूप किसी अन्य इन्द्रियसे जाना ही जा सकता है। अत रूपके विषयमे नेत्र प्रमाण है। प्रमाण अर्थात् प्रमाका करण अर्थात् यथार्थज्ञान जिस यन्त्रसे प्राप्त हो वह। प्रमाण माने लिखन्त या दस्तावेज नही होता, अदालतमे भले ही उसका वह अर्थ होता हो। विपय (वस्तु) और प्रमाणका ठीक-ठीक सन्निकर्ष होनेपर अन्तःकरणमे जो यथार्थ ज्ञानकी वृत्ति होती है वह 'प्रमा' कहलाती है। तव वस्तुको प्रमेय वोलते हैं और उक्तज्ञानके अभिमानीको 'प्रमाता'।

ब्रह्मका ज्ञान किस प्रमाणके अधीन है ? तो कहा—वेदान्त शास्त्रके। नपी-तुली भापामे कहे तो वेदान्तोक्त महावाक्यजन्य

प्रमाके। प्रमाणान्तरसे, अर्थात् वेदान्त शास्त्रके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे ब्रह्मज्ञान शक्य नही है।

यदि ब्रह्म अन्तःकरणसे वाहर कोई विषय होता तो वह इन्द्रियादि प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय बन सकता है। परन्तु जो अन्त.करणका साक्षी-अधिष्ठान है उस ब्रह्मको प्रत्यक्ष प्रमाणसे कोई कैसे जानेगा ?

आओ तो फिर अनुमान करें! परन्तु अनुमान भी प्रत्यक्ष-मूलक एवं प्रत्यक्षफलक होता है। आजकल अनुमानको बहुत वड़ा प्रमाण मानते है। दर्शनकार भी अनुमान प्रमाण मानते है। जिन बौद्धोने शास्त्रको प्रमाण नही माना वे भी प्रत्यक्षके साथ अनुमानको प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी, जो शास्त्रको गौण-प्रमाण मानते है (तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्) वे भी प्रत्यक्ष और अनुमानको प्रमाण मानते है। नैयायिक चार प्रमाण मानते है: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (शास्त्र)। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमासा (वेदान्त) छः प्रमाण मानते हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, और शब्द। इनमे शब्द और प्रत्यक्षको छोड़कर शेष चार अनुमानके ही कच्चे-बच्चे है। ऐतिहासिक लोग एक ऐतिह्यप्रमाण और मानते हैं, पौराणिक लोग 'सम्भव प्रमाण' और मानते हैं और नाट्यशास्त्री चेष्टाको भी प्रमाण मानते है। परन्तु इन सबमे अनुमान ही आधार है। चार्वाक अनुमानको यो स्वतन्त्ररूपसे नही मानते हैं परन्तु प्रत्यक्षके अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार अनुमान प्रत्यक्षका बच्चा है तथा शेष प्रमाण (शब्दको छोड़कर) अनुमानके बच्चे-कच्चे हैं।

तो पहिले रसोई घरमे आग और धुएँके सहसम्बन्धका (आग-का लिंग धुँआ है, इसका) ज्ञान हो तब वनमे धुएँको देखकर

आगका अनुमान लगाया जा सकता है। उसपर भी पास जाकर देखनेमे जब प्रत्यक्ष अग्निका ज्ञान हो जाय तब हो अनुमान प्रमाण होगा अन्यथा तो वह अनुमानाभास ही होगा। इस प्रकार अनुमान प्रत्यक्षका पिछलगुआ है : मान = प्रत्यक्ष, अनु = पीछे चलनेवाला। अनुमान = प्रत्यक्षके पीछे चलनेवाला। अनुमान पहिले और पीछे प्रत्यक्षसे बँधा हुआ है।

अब जब ब्रह्म प्रत्यक्ष ही नही है तब उसमे अनुमानकी भी पहुँच कहाँ होगी ? यदि अनुमान कर भी लें तब भी प्रत्यक्ष हुए विना अनुमानका कोई अर्थ नही होता।

ब्रह्मका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना चाहिए। पञ्चदशीकारने कहा : **घटवत् किं न भासते** ? ब्रह्मके सिवाय जब कुछ है ही नही तब ब्रह्म घटवत् प्रत्यक्ष क्यो नही भासना चाहिए ? वह घटकी तरह प्रत्यक्ष भी भासता है, अग्नि धूमकी तरह अनुमानसे भी भासता है, ललरीवाली गौकी तरह उपमानसे भी भासता है— माने सारे प्रमाणोसे ब्रह्म भासता है। ब्रह्मज्ञान हो जाय तो सारा प्रमाण-प्रमेय मात्र ब्रह्मके अन्तर्भूत हो जाता है और ब्रह्मज्ञान न हो तो किसी भी खण्डप्रमाणसे अखण्डका साक्षात्कार नही हो सकता, यह बडी अद्भुत लीला है।

ब्राह्मज्ञानके सम्बन्धमे प्रमाण क्या ? परिच्छिन्नत्वकी निवृत्तिमे प्रमाण क्या ? ब्रह्मप्रमाके लिए प्रमाण क्या ? यह बड़ी उत्तम जिज्ञासा है, अन्यथा तो लोग 'यह सत्य है, यह मिथ्या है' इस प्रमाभ्रमसे तप रहे है **प्रमाभ्रमास्या लोको तप्यते**।

तो बोले कि ब्रह्मनिरूपण करनेवाला जो वचन होगा (शब्द प्रमाण) वही हमारे अन्तःकरणमे ब्रह्मप्रमा उत्पन्न करेगा। यह आँख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष और न इनके आधारपर कल्पित आनुमानिक ज्ञान ब्रह्माकार-वृत्ति उत्पन्न नही कर सकते। केवल

तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि जो ब्रह्मनिरूपक वचन है वे ही हमारे अन्त.करणमे ब्रह्मप्रमा उत्पन्न करनेमे समर्थ हैं। वे ब्रह्म-निरूपक 'शब्द' ही वेदान्तके नामसे जाने जाते हैं।

वेदान्तको वेद क्यो नही बोलते ? बोल सकते है परन्तु प्रत्येक वेदवाक्य वेदान्त नही होता। वेद सामान्य है और वेदान्त प्रकृष्ट। वेद सब प्रकारके अधिकारियोके लिए है जबकि वेदान्त एक विशेष अधिकारी (ब्रह्मजिज्ञासु)के लिए है।

वेद सबसे पहिले रागी अधिकारीको देखता है। रागीको धन भी चाहिए, भोग भी चाहिए और भोगके प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए क्रोध भी। रागीको केवल धनसे सुख नही होता क्योकि प्रतिबन्ध रहते न तो धनका भोग होता है और न सुख।

एक वार हम कोई २५ साधु एक सेठके घर गये। वह सेठ तो वहुत उदार था। साधु लोग कोई एक-एक सेर खीर खा गये। किन्तु उधर उस सेठको दो सूखी रोटी चौबीस घण्टोमे मुश्किलसे हजम होती थी।

तो रागवश सब लोग धन, भोग और प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए प्रयत्नशील होते है। ऐसे लोगोके लिए वेद कहता है : 'बावू, तुम लोग स्वर्ग चले जाओ ! वहाँ धन भी खूब है और भोग भी ज्यादा मिलेगा, प्रतिबन्ध भी वहाँ नहीके बराबर है। क्यो धरतीपर धन और भोगके लिए लोगोको तकलीफ देते हो ?'

लोगोने आपत्ति की कि 'क्या वेद लोगोमे स्वर्गकी अप्सरा, स्वर्गका अमृत, स्वर्गका भोगानुकूल दिव्य-देह इत्यादिकी वासना पैदा नही करता ?' तो कहा कि यह विहित भोगकी वासना है अतः अधर्म नहीं है। इसमे आश्चर्य यह है कि स्वर्गके सुखभोगके लिए मनुष्यको इस लोक और इस जीवनके राग-प्राप्त जो विहित भोग हैं उसमे भी त्यागभावसे भोग करना पड़ता है अथवा

उनका परित्याग करना पडता है। इस प्रकार वेद अनजानेमे ही रागी हृदयमे वैराग्यका आधान कर देता है। यह शास्त्रकी हित-कारिता है और यही शास्त्रमे स्वर्ग-वर्णनका अभिप्राय है।

स्वर्गकी प्राप्ति केवल वेद-शास्त्रमे ही वर्णित है, इसलिए विहित है। जब विहितके लिए प्रयत्न करोगे तो रागमूलक जो तुम्हारी निषिद्ध प्रवृत्ति है—धनके लिए, भोगके लिए, प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिए, वह मिट जायेगी। इसीलिए वेदमे शत्रु-मारणके प्रयोग मिलते हैं जैसे कि 'श्येन-याग' करो, शत्रुकी हत्या मत करो, उसको डडा मत मारो अपितु उसके मूलोच्छेदके लिए 'श्येन-याग' करो। अब देखो, रोक लिया न? भोग यहाँ मत करो, वहाँ करना। माने न केवल यहाँ भोगमे नियन्त्रण करके वैराग्यका आधान हुआ बल्कि साथ ही देहातिरिक्त आत्मापर विश्वास दृढ हुआ। यहाँ शरीर व्यापारमे सयम, मनमे श्रद्धा-त्याग-वैराग्य-का आधान और बुद्धिमे देहातिरिक्त आत्मामे आस्था—इतने लाभ हो गये केवल स्वर्गादिका वर्णन करनेसे। शास्त्रको कोई बच्चोका निर्माण मत समझना।

नरककी प्राप्ति रागकी प्राप्ति नही है। स्वर्गकी तारीफ सुनकर स्वर्ग तो जाना चाहेगे परन्तु नरकके दु ख सुनकर नरक जाना नही चाहेगे। यह जो विधि है वह राग-प्राप्त कर्मोका रूपान्तरण है, लेकिन जो शास्त्रीय निषेध है (कि यह नही करना, वह नही करना) वह श्रद्धालुके लिए नही है, अश्रद्धालुके लिए है। स्वर्गके यज्ञ-यागादिक साधनोका वर्णन श्रद्धालु अधिकारीके लिए है और नरकके दुर्गुण तथा अधर्मका वर्णन अश्रद्धालु अधिकारीके लिए है। कोई भी जो बुरा कर्म करेगा उसे बुरा फल मिलेगा, नरक मिलेगा। श्रद्धासे नरक नही मिलता। परन्तु यदि श्रद्धालु भी बुरा काम करेगा तो उसे भी कीट-पतगादिकी निम्नयोनियाँ प्राप्त

होंगी। ऐसा वेदशास्त्रका प्रतिपादन है। जो कानून नहीं मानता उसे सजा मिलती है और जो कानून मानता है उसे पुरस्कार भी मिलता है। कानून न माननेकी छूट नही है और जान-बूझकर न माननेका दण्ड कडा है।

अब विरक्त अधिकारीपर वेदकी दृष्टि गयी। आप विरक्त है और ब्रह्मको देखना चाहते है, मगर अपने 'मै'को आप कहाँ रखकर ब्रह्मको देखना चाहते हैं ? सीधा सवाल है ! आप फोटो लेते समय अपने कैमरेको किस कोणपर रखना चाहते हैं ? कहाँ बैठेंगे आप कि आपको अनन्त ब्रह्मका दर्शन हो ?

जबतक आप मरनेवाली चीजमे मै करके बैठेंगे और देखना चाहेंगे अमृतको, तो कैसे देख पायेंगे ? भला मृतसे तादात्म्यापन्न 'मै', परिवर्तनशीलसे तादात्म्यापन्न 'मै', परिवर्तनके पूर्व और उत्तरके साक्षीका साक्षात् कैसे करेगा ? आप देशके कोनेमें बैठकर देशातीतका साक्षात्कार कैसे करेंगे ? जिद्द या बेवकूफीसे इसमे काम नही चलता। आप देहको 'मै'-करके बैठ जायँ तो ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे करेंगे ? आप यदि मानापमानके चक्करमे पड़ जायँ तो सत्संग तक भी नही कर सकेंगे। अहकारके घोड़ेपर बैठकर सत्यके स्वरूपका साक्षात्कार नही किया जासकता।

तो विरक्त अधिकारी अपने मैको कहाँ बैठावे ? देश कितना लम्बा-चौड़ा है, इसकी कल्पना अन्त करणमे है और इसी प्रकार काल कितना लम्बा-चौड़ा है, इसकी कल्पना भी अन्तःकरणमे है तथा सर्व (व्यष्टियोका कुल, वस्तु-समष्टि) कितना लम्बा-चौडा है उसकी कल्पना भी अन्त करणमे है। इनकी कल्पना ही अन्तः-करणमे है, ये हैं या नही, यह तो भगवान् ही देखता है (अर्थात् केवल इनकी व्यष्टि-प्रतीति होती है, समष्टि-प्रतीति शक्य नही है)। इन कल्पनाओके तुम साक्षी हो। इसका अर्थ है कि देश-

काल-वस्तु, वस्तुमे कार्य-कारण-भाव, देशमे सक्षेप-विस्तार, कालमें परिवर्तन, इन सबके, (इन सबकी कल्पनाओके) तुम साक्षी हो और इन कल्पनाओका जो उदय-विलय हो रहा है उसके भी तुम साक्षी हो। अब इस साक्षीको नापो जरा! साक्षीकी लम्बाई-चौडाई कितनी? साक्षीकी उम्र कितनी? साक्षीका वजन कितना? अरे भाई! तुमने तो सारी लम्बाई-चौडाई, वजन, उम्र पहिलेसे ही एक ओर रख दिया था, क्योकि इनकी कल्पना अन्त करणमे है और तुम उस कल्पनाके साक्षी हो। फिर साक्षीके बारेमे ये प्रश्न ठीक नही। साक्षी इन सबका साक्षी होता है और इसलिए इनसे न्यारा ज्ञानस्वरूप है। उसको देखो। वही तुम हो!

अब प्रश्न यह है कि अन्त करणमे जो देश-काल-वस्तुकी कल्पना होती है वह क्यो होती है? अर्थात् देश-काल-वस्तु अन्त.-करणके बाहर हैं इसलिए उनकी कल्पना अन्तःकरणमे होती है अथवा देश-काल-वस्तुकी स्थिति और उनकी कल्पना अन्त करणमे होती है अथवा देश-काल-वस्तु है ही नही फिर भी उनकी कल्पना अन्त·करणमे होती है?

यदि ये बाहर है तो किसमे हैं? माने बाह्य देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान क्या है? तो वेद कहता है कि कल्प्य देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान है अदेश-अकाल-अवस्तु-रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्यमे तत् पद-लक्ष्यार्थ है। यह जो साक्षी है वह त्व-पद लक्ष्यार्थ है।

यदि तत्-पदार्थ भी अपने चेतन-स्वरूपसे अलग होगा तो उसमे अदृश्यत्व या दृश्यत्वकी कल्पना होगी। तब तत्-पदार्थ चेतन नही होगा। जो अधिष्ठान हमसे जुदा है वह चेतन नही है और यदि हम उससे जुदा हैं तो हम पूर्ण नही हैं। हमारे बिना ईश्वर बेहोश है और ईश्वरसे अलग होकर हम कटे-पिटे परिच्छिन्न

है। जब दोनोकी एकताका बोध होता है तो हमारी परिच्छिन्नता और उसकी बेहोशी मिट जाती है और बीचमे जो माया-काया प्रपञ्चका बखेडा था वह सब मिट जाता है, दोनोके एकत्व-बोधसे बीचकी माया पिस जाती है।

विरक्त अधिकारीके लिए वेदका यही तत्त्वज्ञान आदेश है, उपदेश है, अभिप्राय है। यह तत्त्वज्ञान न सस्कारजन्य है और न सस्कारजनक ! परिच्छिन्न वस्तुमे प्रिय-अप्रियका भान सस्कार-जन्य होता है और प्रिय-अप्रिय वस्तुका ज्ञान सस्कारजनक होता है। परन्तु यह जो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान है वह सस्कारजन्य नही है और स्मृतिरूप भी नही है, क्योकि अनन्तका पहिले अनुभव नही हुआ; हुआ होता तो मुक्त हो गये होते, बद्ध क्यो अनुभव करते ? यह संस्कारजनक नही है क्योंकि द्वैत न होनेपर इसमे प्रियका भोग अथवा अप्रियसे परहेज नही है। जब कोई वस्तु परोक्ष रह ही नही गयी, अज्ञात सत्ता ही कट गयी, तो सस्कार किसका ? यहाँ तो सस्कारका आधारभूत करण ही उच्छिन्न हो गया मानो संस्कारका लिंगशरीर ही भंग हो गया।

वेदके इसी आशयको प्रकट करनेवाले भागका नाम वेदान्त या उपनिषद् है। उस वेदान्तकी मीमांसा क्या ? वेदान्तमे जो मन्त्र कर्मपरक या उपासनापरक मालूम पडते हैं उनका वेदान्त-की दृष्टिसे समन्वय करना, विचार करना, इसीका नाम वेदान्त-मीमासा है। यही ब्रह्मसूत्र है।

शास्त्र विधि-निषेध वाक्योसे शासन करता है और वेदान्त वाक्यो द्वारा सत्यका शंसन करता है। जहाँ असत्यका वर्णन होता है वहाँ शासन होता है और जहाँ अपने आप (आत्मसत्ता) का वर्णन हो वहाँ विधि-निषेधकी आवश्यकता नहीं होती, केवल इस कथनकी आवश्यकता होती है कि तुम ऐसे हो, वैसे नहीं हो।

श्री शकराचार्य भगवान् कहते हैं कि इस वेदान्त-मीमांसा-शास्त्रका आदि-सूत्र है—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।**

कुछ लोग पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासाको एक मानते हैं। शकर भगवान् कहते हैं कि दोनो एक नही है, अलग-अलग हैं। यह बात वेदान्त मीमासाका आदि सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है, इस कथनसे प्रकट होती है। यो भी दोनो मीमासाओमे भेद स्पष्ट है (जैसा निम्न तालिकासे प्रकट होता है) :—

भेदक	**पूर्वमीमांसा**	**उत्तर मीमांसा**
वक्ता	जैमिनी	व्यास (वादरि)
विषय	उत्पाद्य (भव्य) धर्म	सिद्ध ब्रह्म
अधिकारी	रागी	विरक्त
प्रयोजन	लौकिक पारलौकिक सुख-भोगकी प्राप्ति	मोक्ष
सम्बन्ध	कर्ताभोक्ता-आत्माके सम्बन्धमे	साक्षी आत्माके सम्वन्धमे
फल	अनित्य	नित्य

इसके अतिरिक्त इन शास्त्रोके श्रवण-विधि, अनुष्ठानविधि, मान्यताओ आदिमे भी भेद है। अत इनको एक मानना ठीक नही है।

सूत्र माने क्या ? थोडे अक्षरोमे, स्पष्ट, सार, व्यापक दृष्टि-कोणसे, दोषरहित और अकाट्य बात कहनेवाली शब्दराशि सूत्र कहलाती है ·

> अल्पाक्षरं असंदिग्धम् सारवत् विश्वतोमुखम्।
> अस्तोभं अनवद्यं च सूत्रः सूत्रविदो जनाः॥

(इसकी व्याख्या अध्याय-१ मे की जा चुकी है। विवरणके लिए कृपया वही देखें)।

●

(६. २.)

'अथ' पद विचार—१

(अथ = आनन्तर्य)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्यामंगलप्रयोजनो भवति । पूर्व-प्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् । (भाष्य)

अब ब्रह्मसूत्रके प्रथम अधिकरण 'जिज्ञासाधिकरण' की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

एक सीधा सवाल है आत्माकी ब्रह्मरूपता अवचनसिद्ध है या वचनसिद्ध है ? माने आत्मा ज्यो-का-त्यो, विना वोले ही ब्रह्म है या वोलनेपर ब्रह्मरूप हो जाता है ?

इस प्रश्नका सर्वसम्मत उत्तर यही है कि आत्मा विना वोले ही ब्रह्म है; आत्मा स्वय ब्रह्मरूप है। क्या विवरण-प्रस्थान, क्या भामती-प्रस्थान क्या श्रौत-स्मार्त सिद्धान्त, सब इस सिद्धान्तसे एकमत हैं कि आत्माकी ब्रह्मरूपता अवचन-सिद्ध है; कुछ वोलनेकी जरूरत नही है।

प्रश्न—फिर इतनी खटपट क्यो करते हो ?

उत्तर—इसलिए कि यह जो अध्यास है, अविद्या है, वह निवृत्त हो जाय। खटपट आत्माको ब्रह्म वनानेके लिए नही है, वल्कि जितनी उल्टी समझ हैं कि 'हम देह हैं', 'मनुष्य है, जीव हैं' इत्यादि उनको मिटानेके लिए है। ब्रह्मविचारका फल अविद्याकी निवृत्ति है, ब्रह्मभावकी प्राप्ति नही है, अन्यथा वह ब्रह्म भी नश्वर हो जायेगा। अत· ब्रह्मविचार करो।

आप अपने मैंको कहाँ वैठाकर अनन्त ब्रह्मका विचार करना चाहते हैं ? आप अपने आपको इतनी गहराईमे ले जाइये, इतना प्रत्यक् (भीतर) इतना प्रत्यक् ले जाइये कि जहाँ अपना आपा भी नही देखा जाता। स्वय द्रष्टा कभी दृश्य नही हो सकता। तब आप देश-काल-वस्तुसे अतीत, उस अतीतसे उपलक्षित आप स्वय हैं और ऐसे जो अदेश, अकाल, अद्रव्यसे उपलक्षित आप हैं उसको कोई काटनेवाला नही है। आप स्वय देश-काल-द्रव्यकी कल्पनाके अधिष्ठान और उसके प्रकाशक हैं और आपके स्वरूपमे देश-काल-द्रव्य नही है, आप अद्वितीय हैं। यह वचन आपके इसी स्वरूपकी अविद्या-निवृत्तिके लिए है। अतः आइये 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रपर विचार प्रारम्भ करें।

भगवान् श्री शंकराचार्यने भाष्यके प्रारम्भमे कहा कि 'अथ' शब्दका अर्थ है आनन्तर्य, अधिकार नही। क्यो ? क्योकि ब्रह्म-जिज्ञासा अधिकार्य नही है। **तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्।**

सस्कृतमें 'अथ' शब्दके कई अर्थ होते हैं। असलमें जो 'अर्थ' है वही 'अथ' हो गया है (रेफका लोप हो गया)। अथ = मगल, आनन्तर्य, प्रारम्भ, प्रश्न, सम्पूर्णता, विकल्प, समुच्चय—इनके अतिरिक्त दो और अर्थ मिलाकर कुल नौ अर्थोंमे 'अथ' शब्दका प्रयोग होता है। **अथ ज्योति', अथ ब्राह्मणा., अथ मुनिर्भवति।**

मगलके अर्थमे अथ शब्द केवल उच्चारणमात्र होता है उसका वाक्यमें अन्वय नही होता, जैसे वीणाध्वनि, शखध्वनिका सुननेसे ही मगलार्थ-बोध हो जाता है। यदि सूत्रमे 'अथ' शब्द मगलार्थमे हो तो वाक्यार्थमे अन्वय न होनेसे उसका प्रयोग ही निरर्थक हो जायेगा।

आरम्भके अर्थमे 'अथ' शब्दका प्रयोग है जैसे **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, अथातो धर्मजिज्ञासा, अथ योगानुशासनम्।** परन्तु यहाँ यह अर्थ ठीक नही है। क्यो ? क्योकि जहाँ कुछ कर्तव्य होता है वहाँ 'अथ' शब्द अधिकारके अर्थमे (आरम्भके अर्थमे) प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ ब्रह्मजिज्ञासा पद इसका विरोध करता है। यदि ब्रह्मजिज्ञासाको 'ब्रह्मकी इच्छा' मात्रमे ग्रहण करते हो तो 'इच्छा करो' यह विधान शास्त्रमे नही हो सकेगा क्योकि शास्त्र कर्मका विधान करता है इच्छाका नही। आदमी अपनी बुद्धिमे जिस चीजको अपने लिए सुखद, हितकारी और अच्छी समझता है उसकी इच्छा स्वयं उदित हो जाती है। इच्छा रागसे उत्पन्न होती है हुकुमसे नही, विधानसे नही। इच्छा होती है

करायी नही जाती। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ करने योग्य नही हैं अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा अधिकार्य नही है।

इसपर टीकाकारो, भाष्यकारोने कहा कि जिज्ञासा यहाँ विचारका उपलक्षण है। 'ब्रह्मजिज्ञासा=ब्रह्मका विचार' ब्रह्मकी इच्छा नही, इच्छासे पूर्ववर्ती विचार। और ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है : ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मविचार.) कर्त्तव्या। ठीक है, परन्तु 'जिज्ञासा'-का अर्थ 'विचार' करनेपर भी 'अथ' शब्दका अर्थ 'अधिकार' ('आरम्भ') करनेकी कोई आवश्यकता नही क्योकि वह अर्थ तो अध्याहारसे निकल ही आयेगा। इसलिए भाष्यकार कहते हं कि अथ शब्दका अर्थ 'आनन्तर्य' है।

यहाँ एक प्रश्नपर और विचार करे। प्रश्नसे घबड़ाना नही। पहले हम साधुओसे खुलेआम प्रश्न किया करते थे। जो घबड़ा जाता या गुस्सा हो जाता या चुप हो जाता उसपर हमारी श्रद्धा ही नही जमती थी। असलमे गुस्सा अपनी कमजोरीका ही चिह्न है। अदालतोमे वकील लोग गवाहोको गुस्सा दिलाकर ही उनको मूर्ख बना देते है।

प्रश्न यह है कि आखिर जब जिज्ञासा पदका अर्थ विचार ही है तो महर्षि वादरायणने साफ ही क्यो नही कहा कि 'अथातो ब्रह्म-विचार' या 'अथातो ब्रह्ममीमासा' ? 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ही क्यो कहा ?

इच्छा सदैव सुखके विषयमे होती है। जिससे सुख उसके प्रति इच्छा और जिससे दुःख उसके प्रति परहेज। अब ब्रह्मज्ञानको जिज्ञासाका विषय क्यो बनाया ? इससे लगता है कि ब्रह्म सुखका हेतु है।

चार्वाक और बौद्ध मानते हैं कि जो यथार्थ ज्ञान है वह सुख-का हेतु नही हो सकता। क्योकि चार्वाकोमे भोग ही सुखका हेतु

है और बौद्धोमे व्यक्तित्वका उच्छेद है, आत्मोच्छेद है, व्यक्तित्व-की शून्यताका बोध है। चार्वाकोंमे आत्मा ही नही है तो ज्ञान होनेपर सुख किसको ? और बौद्धोकी आत्मा क्षणिक, मिथ्या-प्रत्ययरूप, प्रतिक्षण प्रध्वंसी है, उसको जिज्ञासा करनेपर सुख कहाँ होगा ? शून्य सुख नही है अतः उसको जाननेपर सुख भी क्यों होने लगा ?

जैन लोगोमें आत्माका नास्तित्व तो नही है, वह प्रतिक्षण प्रध्वंसी भी नही है। उनके यहाँ आत्मा है और कथचित् नित्य भी है क्योकि ह्रास-विकासका पात्र बना रहता है। परन्तु जैन-मतके अनुसार ही आत्मा सुखरूप नही है। उनका आत्मा कालमें नित्य और देशमे घटता-बढता है; तथा अठारह दूषणोसे रहित होकर तथा त्रिरत्नसे (सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् सकल्प और सम्यक् समाधिसे) सम्पन्न होकर बिलकुल निर्दोष जगमग-जगमग प्रज्व-लित होता हुआ तीर्थंकर हो जाता है। परन्तु उस समय भी वह सच्चित् तो होगा, लेकिन आनन्दरूप नही होगा—ऐसी जैनमतकी मान्यता है।

इस प्रकार द्रव्यमे मर जाता है चार्वाकका आत्मा, कालमें मरता है बौद्धोंका आत्मा और देशमें घटता-बढता है जैनका आत्मा। परन्तु इनमे-से किसीका आत्मा आनन्दरूप न होनेसे इच्छाका विषय नही हो सकता। यह नास्तिक दर्शनोकी बात हुई।

आस्तिक दर्शनोमे न्यायवैशेषिक मानते हैं कि सुख आत्मा-का गुण है, स्वरूप नही है। इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, धर्म, अधर्म और प्रयत्न, ये आत्माके गुण हैं। जो गुणी द्रव्य है—आत्मा और परमात्मा, दोनो सुखधर्मी तो हैं परन्तु सुखस्वरूप नही हैं। अतः ये भी जिज्ञासाके विपय नही हो सकते।

साख्य और योग आत्माको द्रष्टा मानते हैं आनन्दस्वरूप नही। अत: द्रष्टा आत्मा भी जिज्ञासाका विषय नही हो सकता।

पूर्वमीमासामे आत्मा चिदचित् स्वभाव है। उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिए यज्ञादि करने पडते हैं, भोगके लिए स्वर्गादिकी प्राप्ति करनी पड़ती है। अथवा पूर्वमीमासाका जो खाटा सिद्धान्त है उसमे स्वर्गलोकरूप स्वर्ग-प्राप्ति अभीष्ट नही है। इन्द्राय स्वाहा कहनेसे इन्द्र देवलोकसे आता है या नही, इसमे मतभेद है : देवता **विग्रहवती वा न वा ?** एक पक्ष कहता है : मन्त्रोच्चारणसे देवता-का विग्रह बनता है, वही आहुति लेता है और कर्ताको फल देता है। दूसरा पक्ष कहता है देवता इन्द्रलोकसे आता है। उसमे सहस्र-सहस्र बननेका सामर्थ्य होता है।

परन्तु पूर्वमीमासामे भी आत्मा आनन्दस्वरूप नही है, और ब्रह्मकी तो चर्चा ही मत करो। क्योकि न्याय-वैशेषिक-पूर्वमीमासा-को तो बौद्धोका खण्डन करके आत्माको सिद्ध करना ही इष्ट है, आत्मा सच्चिदानन्दघन या आनन्दघन है यह सिद्ध करना इष्ट नही है। अत॰ यहाँ भी ब्रह्मजिज्ञासा अनुपपन्न है। जहाँ सुख मिले उसकी ही जिज्ञासा होती है।

सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुख लब्ध्वा करोति।

आनन्द भी पूर्वमीमासामे सीमित ही है।

जब हमने सबसे पहले 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढा था तो हमने पढा कि मोक्षमे-से भी वापस आना पडता है। बात बहुत खटकी, क्योंकि बचपनसे ही हमारे सनातन-धर्मी सस्कार थे। एकदिनको भी हम विधर्मी नही हुए। यह कैसा मोक्ष है जिसमे से वापस आना पडता है। बादमे जब विचार हुआ तो उनकी बात (उनके मतानुसार) सच्ची लगी। उनका मोक्ष कोई कैवल्य या ब्रह्मा-त्मैक्यबोध तो है नही, उनका तो कर्मजन्य मोक्ष है। वे कहते हैं :

सत्कर्म करो; उससे ईश्वर प्रसन्न होकर मोक्ष देगा। तो कर्मका फल और ईश्वरका दिया हुआ होनेसे मोक्षसे आना नही होगा तो क्या होगा!

फिर वैष्णवोका सिद्धान्त पढ़ा। उनके यहाँ वैकुण्ठादि भगवत्-भावापत्ति कर्मके फलसे तो नही होती, ईश्वरके अनुग्रहसे होती है। इसलिए कर्मका फल समाप्त होनेपर उनका मोक्ष समाप्त नही होता। ईश्वरके अनुग्रहसे है, इसलिए यदि ईश्वर चाहे तो मुक्त-पुरुषको भेज सकता है। वह स्वय भी अवतार लेता ही है।

योगमे पुनरावर्ती नही मानते परन्तु अभ्यास तो कर्तृत्व-मे प्रारम्भ होता है। अब यदि अभ्यासके वेगसे चित्त समाहित हो गया तो समाधि लग गयी। परन्तु समाधि तो टूटेगी, क्योकि कर्म-वेगसे लगी है, मनको भीतर धकेल कर चित्तके प्रतिलोम परिणाम-से लगी है। हाँ द्रष्टा नही टूटेगा।

परन्तु सांख्य और योग दोनोमें आत्मा द्रष्टा तो हैं आनन्दरूप नही है। अतः यहाँ भी आत्मा जिज्ञास्य नही है।

अब औपनिषद-ब्रह्मकी चर्चा करे। यहाँ ब्रह्म आनन्दरूप है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

(तैत्तिरीय उप० २.७)

वह परमात्मा रसरूप है; निरूपितरूप नही, अनिरूपित रस-रूप है। अर्थात् रस परमात्माका स्वलक्षण है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। (तैत्तिरीय उप० २.८)

वहाँ आनन्दकी मीमांसा की गयी है कि: कोई युवक हो, श्रेष्ठ आचरण वाला हो, वेदोका स्वाध्याय कर चुका हो, शासनमें कुशल हो, अंग पुष्ट हो, बलिष्ठ हो और उसे यह धनसे परिपूर्ण पृथ्वी सब-की-सब प्राप्त हो जाय तो वह मनुष्यका आनन्द है।

इससे सौ-गुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्वोका होता है और वह आनन्द उस श्रोत्रियको अनायास ही प्राप्त है जिसका अन्तःकरण कामना एवं भोगोसे आहत नही हुआ। इससे सौ-गुना आनन्द देवगन्धर्वों-का होता है वह 'श्रोत्रिय अकामहत'को अनायास ही प्राप्त है। इससे सौ-गुना आनन्द पितरोका आनन्द है। इससे सौ-गुना आनन्द अजानज देवताओका आनन्द है और इससे सौ-गुना आनन्द कर्म-देवो (देवताओ) का है। उसका सौ-गुना आनन्द शुद्ध देवताओ-का है और उसका भी सौ गुना आनन्द इन्द्रका है। इन्द्रके आनन्द-का सौ-गुना आनन्द बृहस्पतिका है और उससे सौ-गुना आनन्द प्रजापतिका है। प्रजापतिसे सौ-गुना आनन्द ब्रह्माका है। और ये सब आनन्द अकामहत श्रोत्रियको सहज ही प्राप्त हैं।

(तैत्तिरीय उप० २ ८)

इसके बाद वर्णन करते हैं कि :

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ॥

मनके सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं उस ब्रह्मके आनन्दको जानकर विद्वान् किसीसे भी भय नही करता। (तैत्ति० ३.९)

आनन्दं ब्रह्म।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंवि-शन्ति इति।

(तैत्ति० ३ ६)

इस प्रकार उपनिषदोमे ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। और उप-निषदोमे ही ब्रह्म, सौर, गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव जो भी उपनिषद्-रीतिसे अपने सिद्धान्तका वर्णन करते हैं उनके मतमे भी

ब्रह्म आनन्दस्वरूप हैं। और जीव क्या है? वह भी दुःखरूप नही है क्योकि वह ब्रह्मका अंश है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा (ब्र० सू० २ ३ ४३)

जैसे सिंधुका विन्दु भी खारा होता है वैसे ही सच्चिदानन्दका अंश भी सच्चिदानन्द होता है। इसलिए वैष्णवोमे भी जीव ईश्वरसे और ईश्वर जीवसे प्रेम करता है क्योकि दोनो आनन्दस्वरूप हैं। इसलिए जितने भी औपनिषद हैं वे मुक्तिका लक्षण करते हैं:

अखिलानर्थनिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दावाप्तिः।

केवल दुःखाभाव मोक्ष नही है वरन् सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति मोक्ष है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनपर जहाँ श्रीहर्ष आदिने आक्षेप किया है बड़ा विलक्षण किया है:

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स वाञ्छति।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जिता॥

'वृन्दावनका गीदड़ होना अच्छा है परन्तु वैशेषिकोका मोक्ष पाना अच्छा नही है।'

जो लोग मोक्षमें केवल दुःखाभाव मानते हैं वे तो निद्रावत् मोक्ष मानते हैं। दुःखकी मूलभूत अविद्याकी निवृत्ति होकर अपने स्वरूपमे जो अवस्थान है उसका नाम मोक्ष है।[1]

इस प्रकार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और मोक्षमे आनन्दकी

१. न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्यके मोक्षमें दुःखाभाव है। पूर्वमीमांसामें पार्थसारथीमिश्रके मतसे 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः' है। वेदान्तमें केवल सम्बन्ध-विलयका नाम मोक्ष नहीं है, प्रपञ्चके अधिष्ठानप्रकाशकके ऐक्यज्ञानमें प्रपञ्चका बाध हो जाना मोक्ष है।

उपलब्धि है—ऐसा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और अद्वैती सभी वेदान्ती मानते हैं। इसलिए यह सूचित करने के लिए कि यह जो ब्रह्मज्ञान है वह परमानन्दस्वरूप है इससे इच्छार्थक सन् प्रत्यय किया गया है क्योंकि इच्छाका विषय आनन्द होता है। अत. 'ब्रह्मविचारः कर्त्तव्यः' न कहकर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहा गया है।

अब पुनः प्रश्न हुआ कि सन् प्रत्यय 'ब्रह्मकी इच्छा' बोलता है या 'ब्रह्मज्ञानकी इच्छा'? अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासासे क्या विवक्षित है? ब्रह्मकी इच्छा या ब्रह्मज्ञानकी इच्छा? तो कहा · ब्रह्मज्ञानकी इच्छा। क्योंकि ज्ञानसे ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और अज्ञानसे ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्म ढका हुआ है। वह अज्ञान ज्ञानसे हो मिटेगा। ब्रह्म स्वयं न तो इच्छाका विषय है और न अनिच्छाका।

विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यम् इच्छानिच्छा विसर्जने।

दुनियाके लोग, साधक लोग, इच्छा छोड सकते हैं, व्याह, धन, स्वर्ग त्याग करते-करते अनिच्छाके बन्धनमे बँध जाते हैं, अनिच्छा-की कोठरीमे बन्द हो जाते हैं। परन्तु विज्ञका यह सामर्थ्य है कि वह विषयकी तो इच्छा नही करता और अन्त करणकी अनिच्छा-रूप कोठरीमे कैदी नही होता। वृत्ति ही न उठे, व्यवहारका लोप हो जाय, आँखे बन्द करके बैठे ही रहे—लोग इसीको नासमझीसे ब्रह्मज्ञानीको अवस्था मानकर कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी उपदेश कैसे करेगा? अरे, क्या उसकी जीभ कट गयी? वह विचार कैसे करेगा? तो क्या उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी? उसकी वही आँख रहती है, वही जीभ रहती है, वही बुद्धि रहती है जो ब्रह्मज्ञानसे पूर्व थी। फिर व्यवहारके लोपका आग्रह क्यो?

तो फिर अन्तर क्या हुआ? आत्माकी भासमानता कभी

बाधित नही होती, क्योंकि उसका कोई दूसरा अधिष्ठान नही है। लेकिन जो विषयकी भासमानता है वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न है और अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित है। इसलिए भासमानता दो प्रकारकी होती है : (१) प्रवाहशील भासमानता, प्रपञ्चमे और (२) कूटस्थ भासमानता, आत्मा मे। यदि कदाचित् तादात्म्य हो भी गया तो कूटस्थपर दृष्टि जाते हो प्रवाही भासमानता बाधित हो जाती है। जैसे जागते ही सपनेकी भासमानता। उसकी तो कोई कीमत ही नही है इसलिए व्यवहारपर तत्त्वज्ञान-का कोई प्रभाव नही पड़ता।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वा अन्यथापि वा ममाकर्तुं न लेपस्य यथाश्रम प्रवर्तताम्।

जैसा व्यवहार शुरू हो गया है, जैसा प्रारब्ध है, वैसा चलता रहेगा; तत्त्वज्ञानसे उसमे क्या फर्क पड़ता है ?

ब्रह्मजिज्ञासामे इच्छाका विषयत्व क्या ? असलमे अपनी ब्रह्मताको भूल गये हो उसीको चाहो ! कैसे मिलेगी वह ? मिलेगी कहाँ, कोई खोयी थोड़े ही है। अज्ञानसे ही खोयी है, ज्ञानसे ही मिलेगी। वास्तवमे न खोयी है न मिलेगी। यह जो तुम्हे मालूम पड़ता है कि खो गयी है, इसीलिए मिलनेकी कल्पना है।

ना कछु हुआ न होरहा ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है अपना रूप अपार॥
पाया कहै सो बावरा खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर॥

इस प्रकार 'ब्रह्मजिज्ञासा अनधिकार्यत्वात्।'

मंगल जो है उसका वाक्यार्थके साथ समन्वय नही होता। उसके तो उच्चारणका ही बहुत महत्त्व होता है। ब्रह्मजीके मुखसे पहले-पहल 'अथ' शब्द निकला। ब्रह्माके पास भाव था,

अर्थ नही था, क्योकि स्थूल अर्थ उनके सूक्ष्मशरीरमे लीन था और हिरण्यगर्भ चैतन्य जाग्रत था। प्राज्ञके शरीर कारणमें सूक्ष्मभाव भी लीन रहते हैं। हमारे सुपुप्तिवत् प्राज्ञका शरीर है, हमारे स्वप्नवद् हिरण्यगर्भका शरीर है और हमारे जाग्रद्वत् विराट्-का शरीर है। हिरण्यगर्भके सूक्ष्म शरीरमे सारी स्थूलसृष्टि लीन रहती है।

तो ब्रह्माजीने कहा अर्थ . अथ अथ। अथ अव्यय है। अथ अर्थात् अर्थ अब प्रकट हो जाये ! स्थूल अर्थ अब प्रारम्भ हो जाय !! इसीको अथ बोलते हैं। परन्तु उनके मुँहसे जो पहिले पहिल शब्द निकला 'अथ' तो मानो शब्दोच्चारण ही अर्थ है। शब्दमे अर्थोत्पादिका शक्ति है :

औत्पत्तिक' खलु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।

शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक है अर्थात् सहज है। शब्दको ही व्यवहार बोलते हैं। इसी शब्दसे ही हिरण्यगर्भकी सृष्टि प्रारम्भ हुई। इसलिए इसको मगल बोलते हैं। मगलका वाक्यमे समन्वय नही होता उसके श्रवणसे ही मगल होता है।

अत आनन्तर्य अर्थमे प्रयुक्त हुआ 'अथ' शब्द श्रवण द्वारा मगल रूप प्रयोजनवाला होता है।

मंगलस्य च समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथ शब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति।

अब कहो कि पूर्वप्रकृतकी अपेक्षासे 'अथ' कहा गया। एक वस्तुका वर्णन करते रहे भिन्न उपक्रममे, अब भिन्नका प्रारम्भ किया, इसलिए अथ कहा, तो इसका अर्थ भी आनन्तर्य हुआ।

पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्

इस प्रकार 'अथ' पदका अर्थ आनन्तर्य है।

(६. ३.)

'अथ' पद विचार–२

(ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व धर्मजिज्ञासा अनिवार्य नहीं)

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायाध्ययनान्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधनान्तर्यं विशेषः। न धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।

यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयो फलजिज्ञास्य भेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। (भाष्य)

जैसे धर्मकी जिज्ञासा करनी हो तो पहिले वेदाध्ययनकी आवश्यकता है। छिटफुट पढनेसे काम नही चलता। धर्मका सम्बन्ध शाश्वत सविधानसे है, केवल तात्कालिक निरोध, परिवर्तन या प्रवर्तनका नाम धर्म नही है। उसका हमारे अन्तःकरणपर शाश्वत प्रभाव क्या पड़ेगा, इस वातपर दृष्टि रखकर धर्मका निर्णय होता है। जिसको सूक्ष्म शरीरकी शाश्वतताका विज्ञान नही है और उसपर जो सत्क्रिया, विक्रिया होती है उसका जिसको ज्ञान नही है उसको धर्मका ज्ञान नही होता।

नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।
नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् वेदान् ज्ञातुं शक्नोति॥

—(मनु०)

एकने कहा : हम लन्दनमें जाते हैं तो वहाँ दिनमें कई बार

कपड़े बदलने पडते है—नहानेकी पोशाक अलग, खानेकी अलग, सोनेकी अलग। हमने कहा : यह तो धर्मकी ही बात हुई। हम गर्म मुल्कमे रहते हैं इसलिए कई बार नहाना धर्म है। वहाँ ठण्डा मुल्क है इसलिए कई बार कपड़े बदलना धर्म है। मूलमे तो स्वच्छता-पवित्रताका ही भाव है, केवल अभिव्यक्ति भिन्न है।

तो धर्मका ज्ञान शाश्वत सविधानसे होता है और वह सविधान वेदसे प्राप्त होता है। इसलिए धर्मजिज्ञासासे पूर्व नियमपूर्वक वेदाध्ययनकी अपेक्षा है। वेदज्ञान धर्मज्ञानका हेतु है।

वेदमे धर्मका निरूपण है :

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।
लोके धर्मिष्ठम् प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापम् अपनुदति।

धर्मे विश्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् धर्मं परम वदन्ति।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासम्।

ऋग्वेदमे धर्म शब्दका बहुत प्रयोग है। वेदसे ही ज्ञात होता है कि उत्सर्ग क्या होता है, अपवाद क्या होता है, निषेध क्या होता है, विधि क्या होती है।

यह जो शास्त्रीय निषेध हैं वह बाधित और अबाधित दोनो प्रकारके अध्यासोमे लागू होते हैं और जो विधियाँ है वे केवल अबाधितमे लागू होती है, बाधितमे नही। जैसे किसीको तत्त्वज्ञान हो गया तो 'मनुष्योऽहं' अध्यास स्वप्नवत् प्रतीत होता रहता है। इसी प्रकार 'मै ब्राह्मण हूँ', मैं सन्यासी हूँ' यह अध्यास भी प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु उसपर वह विधियाँ जैसे **स्वर्गकामो यजेत** लागू नही होती यद्यपि निषेध उस तत्त्वज्ञानीपर भी लागू रहते हैं जैसे **अक्षैर्मादीव्या** (जुआ मत खेलो)। निषेधवाक्य यावज्जीवन लागू रहते हैं—बाधित, अबाधित दोनो अवस्थाओमे। यदि

शरीरकी विस्मृति ही हो जाय तो बात दूसरी है। उस अवस्थामें तो अज्ञानीपर भी विधि-निषेध लागू नही होता !

इस प्रकार धर्म-विज्ञानके लिए वेद-विज्ञान आवश्यक है। अत. यदि 'अथ' का अर्थ आनन्तर्य ही है तो ब्रह्मविज्ञानके पूर्व क्या आवश्यक है, यह बताना चाहिए। कहो कि धर्मजिज्ञासासे पूर्व जैसे वेदाध्ययनकी आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व भो वेदाध्ययन आवश्यक है तो स्वाध्यायानन्तर्य तो दोनोके लिए समान ही है। इसमें कोई आपत्ति भी नही है परन्तु इसके कहनेसे कोई विशेषता भी सिद्ध नही होती।

तब कहो कि कर्मबोधके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। अर्थात् पहिले कर्मको समझे, फिर ब्रह्मको समझें। तो यह तो बड़ा भारी व्यवधान हुआ, क्योंकि सारा जोवन कर्म समझनेमें ही चला जायेगा; बादमे गौरी-गणेशका आवाहन-विसर्जन समझें (यही वेदान्तका अध्यारोप-अपवाद और कर्मका विधि-निषेध कहलाता है)। इसलिए 'अथ' का तात्पर्य 'कर्मबोधके अनन्तर' नही है।

मूलमे अविद्याको बैठाकर ही कर्मकी व्यवस्था होती है। इसकी इतनी शाखाएँ निकलती है कि बस ! गृहस्थ अहका धर्म अलग और वही अहं यदि सन्यासी हो जाय तो ? तो उसका धर्म अलग। अहकारके परिवर्तनसे धर्म अलग-अलग हो जाता है। परन्तु यह क्रियात्मक धर्म है। **धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।** धर्मकी गति सूक्ष्म है। गोता भी कहती : ***गहना कर्मणो गति*** ।

कहो कि पहिले कर्म करके स्वर्ग देख आवें, उपासना करके बैकुण्ठ देख आवें या योग करके समाधि लगा ले, तब वेदान्त बादमे पढ लेंगे। तो जिन्दगी तो बीत गयी—अब क्या वेदान्त पढेंगे। दस-बोस जन्म इन्हीमे बीत जायेंगे। कर्म, उपासना और

योग तथा उनके फलके सम्बन्धमे भामतीने वहुत विचार किया है। वही देख लेना चाहिए।

कर्म, उपासना और योगसे व्यक्तित्वका उत्कर्ष दूसरी वात है और मिट्टी, दिक्-काल-वस्तु क्या है, अधिष्ठान क्या है, यह विचार दूसरी वात है। यह तत्त्वानुसन्धान है, वस्तुका ज्ञान है, वह अपनेको घेरेमे डालनेवाली चीज नही है।

कुछ वनना चाहते है या कि जो है उसे जानना चाहते हैं? वनना-वनाना है तो कुछ करना पडेगा। विना किये कही कुछ नही वनता, न यहाँ मकान और न वहाँ स्वर्ग। परमात्माको वनाना है क्या? नही, क्योकि जो वनाया जायेगा वह परमात्मा हो नही होगा। परमात्मा पहिलेसे मौजूद है, उसे जाना जाता है।

दूर हो तो चलकर देखना पडेगा—घोघा है या गख! फिर भी ठीक पहिचानमे न आवे तो हाथमे उठाकर देखना पडेगा। परन्तु यदि वस्तु यही हो विलकुल नजदीक हो, तो? परमात्मा यही है। उसके लिए चलकर जाना आवश्यक नही। परमात्मा यदि भीतर ही हो तो आँखें वन्द करके प्राणायाम करके और समाधि लगाकर उसे देखना पडता। कई लोगोका ख्याल है कि मास-पिण्ड कलेजेमे ईश्वर रहता है, देहमे जरायु वँधा रहता है। अगर ईश्वर केवल वाहर ही हो तो आखें खोलकर ही ईश्वरको देखा जाता। परन्तु ईश्वर तो सर्वत्र है और जैसा वाहर है वैसा ही भीतर भी है। इसलिए ईश्वरको न आँखें खोलकर देखनेकी जरूरत है और न आँखें वन्द करके ही। खुली आँखसे देखो, वन्दसे देखो, यहाँ देखो, कही जाकर देखो, मगर देख लो वस, इतनी ही अपेक्षा है। उससे कर्मकी अपेक्षा नही है। जहाँ मौजूद वस्तुको जानना है वहाँ केवल प्रमाण (देखनेके करण) की प्रवृत्ति ठीक-ठीक होनी चाहिए।

इस प्रकार कर्मशोधके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, यह सिद्धान्त ठीक नही है। धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, यह नियम बनाना बिलकुल गलत है।

(इस जन्ममे या पिछले जन्ममे धर्मानुष्ठान करके) जिसकी वृत्ति ऐसी अवस्थामे पहुँच गयी है कि वह बाहरके विषयोमे सुखकी कल्पना नही करती उसे धर्मजिज्ञासासे पूर्व ही ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। यह जो ख्याल है कि सुख बाहर है, इससे बड़ी भूल और कोई नही है। सुख तुम्हारे ज्ञानमें फुरफुराता है या बाहर फुरफुराता है ? तो ज्ञानसे बाहर विषयमें सुख है इससे बडी भूल और कोई नही है। लेकिन यहाँ तो कुएँमे ही भाग पड़ गयी है। सारा गाँव सुख ढूढनेके लिए जंगलमे निकल गया है। वहाँ रग-बिरंगी चिड़ियाँ, फूल, फल मिल सकते है और दु:खी भी नही होगा क्योकि वहाँ नयी-नयी चीजें हैं और दूसरेपर दृष्टि नही है। परन्तु ऐसा सुख तो उच्छृङ्खल व्यभिचारीको भी होता है। उसे किसी स्त्रीके वियोगका दुःख नही होता ? पर क्या सुख स्त्रीमे है ? नया-नया दृश्य, नये फूल, फल, नयी-नयी स्त्री देख रहे हो; बड़ा मजा आया। परन्तु बात क्या है ? वहाँ क्योकि तुम्हारी आसक्ति कही नही जुड़ती, इसलिए आसक्ति न होनेसे दु:ख नही जुड़ता। इस दुःखाभावको ही तुम मजा कहते हो।

धर्म वह चीज है जो बाहरसे सुखकी भ्रान्तिको निकाल दे। जैसे ब्रह्मचर्य धर्म है। क्यो ? क्योकि प्रश्न यह है कि सुख भोगमे है या शान्तिमें ? महात्माओंका यह अनुभव है कि भोगसे जो सुख मिलता है उससे ज्यादा सुख शान्तिसे मिलता है। वेदमे लिखी होनेसे ही यह बात सच्ची नही हैं, यह बात आप ईमानदारीसे करके देख लो।

दस तरहसे भोजन घरमें बनाकर खाना, सुख इसमे है या अपने अनुकूल रोटी, दाल बनाकर खा लिया और स्वस्थ रहे, सुख

इसमे है ? स्वास्थ्यका सुख रोटी दालमे है और बीमारीका सुख, डाक्टरीका सुख, यह सब अधिक भोजनमे है। इसलिए धर्म वह है जो 'सुख बाहर है' इस भ्रान्तिको मिटाये; इसके विपरीत सुख अपने हृदयकी वृत्तिके निर्माणमे है, यह प्रतीति करा दे। चाहे वह स्नान करानेसे हो या स्नान न करानेसे हो, दान करके हो या दान न करके हो, इससे कोई मतलब नही, अन्त करणकी वृत्तिको भोगरहित अन्तःकरणमे सुखका भान कराते, यह धर्मका काम है। धर्मका यह काम है कि 'मैं पवित्र हूँ' यह अनुभव करावे। किसीको मन्त्रसे, किसीको स्नानसे, ध्यानसे, विवेकसे या दानसे यह वृत्ति उदय होती है। धर्मका फल है . अपने अहमे उत्तम विशेपणको जोड़ देना। और अधर्मका फल है : अपने अहमे निकृष्ट विशेषणको जोड़ देना।

वह धर्म सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण मानवजातिके लिए आवश्यक है। जो मनमे आवे सो बोल दें। परिणामपर विचार करके बोलना या करना चाहिए। बोलनेमे, कर्ममे, भोगमे औचित्य नही छोडना। और सत्य जिज्ञासुके लिए वचनमे, धर्ममे, भोगमें कितना आवश्यक है इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

हम ऐसे वैज्ञानिकोंको जानते हैं जो विज्ञानमे तन्मय होकर खाने-पहिननेको ही भूल जाते हैं और तुम ब्रह्मको ढूँढने चले हो ! यह कोई कौतूहल है क्या ? जो कौतुकवश ब्रह्मज्ञानके मार्गमे चलता है कि चलो देख लें ब्रह्मज्ञानमे क्या होता है, उसको ब्रह्म-ज्ञान नही होता।

तो धर्म और ब्रह्म ! धर्मका फल है . हमारी वृत्ति बाह्यभोगके बिना भी केवल जीवन-निर्वाहसे सन्तुष्ट रहे और ज्ञान भिन्न-भिन्न विपयोको प्रकाशित न करके केवल स्वरूपके प्रकाशसे सन्तुष्ट रहने लग जाय ! ज्ञानमे विक्षेपकी आवश्यकता न रहे भले विक्षेप होवे, और आनन्दमे विपयकी आवश्यकता न रहे, भले विषय-भोग होवे और सत्तामें (जीवनमें) बहुत-सी वस्तुओ और कर्मोंकी

आवश्यकता न रहे। भले वे रहें, जोर आवश्यकतापर है। यह धर्मका काम है।

धर्म सच्चिदानन्दका पहरेदार है कि कही हमारी सत्ता, चित्ता और आनन्द बहुत-सी वस्तुओ, वहुत-से कर्मों; वहुत-से विषयोके ज्ञान अथवा विषयसुखके पराधीन न हो जाय। धर्म जब अन्त करणमें रहता है, चाहे पहिलेका किया हुआ हो या अब किया जा रहा हो, उसको ठीक-ठिकानेसे रखनेके लिए धर्म होता है। यह जानमे भी होता है और अनजानमें भी। कई लोगोके जीवनमें धर्मज्ञान नही होता है परन्तु धर्म होता है और कईके जीवनमे धर्मज्ञान होता है परन्तु धर्म नही होता।

धर्म और ब्रह्म अलग-अलग नही हैं; क्योकि निर्विशेष सत् (धर्म) और निर्विशेषज्ञान (ब्रह्म) एक ही होता है। सविशेष ज्ञान जहाँ होता है वहाँ विशेष और विशेष ज्ञान अलग-अलग होते हैं। दृष्टिसे द्रष्टा न्यारा होता है। विशेषसे उसका ज्ञाता न्यारा होता है।

यदि कहो कि पहिले धर्मको जानो और पीछे ब्रह्मको, तो इसकी जरूरत नही। यदि धर्मका फल अपनेको मिल गया है और यदि वह अपने अन्त करणमे है तो पहिले धर्मको जाननेकी आवश्यकता नही है। क्योंकि धर्मका स्वरूप अलग है और ब्रह्मका स्वरूप अलग है, धर्म ज्ञानका फल जुदा है और ब्रह्मज्ञानका फल जुदा है। उसमे न शेष-शेषी भाव है, न अधिकृत-अधिकार भाव है, न क्रम भाव है[1]।

---

१. धर्मअंग और ब्रह्म अंगी—इस भावका नाम अंगांगी भाव या शेष-शेषी भाव है। जिसको धर्मजिज्ञासा हो उसीको ब्रह्मजिज्ञासाका भी अधिकार हो—यह अधिकृत-अधिकारभाव है। जैसे यज्ञपशुके एकके अनन्तर एक अवयव-स्पर्श करनेकी विधि है उस प्रकारसे धर्मके अनन्तर ब्रह्म, यह क्रमभाव है। परन्तु ब्रह्मजिज्ञासामें यह कोई भाव नहीं है।

फिर धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानमे फरक (भेद) क्या है ?

यह वात हमे वहुत पहले ही मालूम हो गयी थी। 'अनुभूति-प्रकाश' नामका एक ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं श्री विद्यारण्य स्वामी। उसमे उन्नीस उपनिषदोका सार अनुष्टुप् छन्दोमे लिखा हुआ है। मै मोकलपुरके वावाके दर्शनार्थ जाता था। १४ मीलके करीव दूर था। चार वजे घरसे निकल पडता, साढे आठ वजे गंगाजी पहुँचता, स्नान करता। पैसा होता तो नावसे पार होते और फिर तीन मील और पैदल जाते या सीधे नावसे चले जाते तो नावमे घंटा-डेढ-घंटा लगता। उस समय मैं अनुभूति-प्रकाशको घोटता था। उसमे एक श्लोक था :

न वेदानुष्ठानं विना वेद वेदनं पर्यवस्यति।
ब्रह्मधीस्तावतैव स्यात् फलदेति परामता॥

चारो वेद पढ जाओ और अनुष्ठान न करो तो वेदका ज्ञान निष्फल चला जायेगा। वेदका ज्ञान करनेके लिये है। अनुष्ठानके बिना वेदज्ञान फलित नही होता। परन्तु ब्रह्मज्ञानको पराविद्या क्यो कहते हैं ? क्योकि अनुष्ठान विना ही केवल ज्ञानमात्रसे ही ब्रह्माकार वृत्ति फलित हो जाती है, अर्थात् सम्पूर्ण अविद्या और वन्धकी निवृत्ति हो जाती है।

तो धर्मज्ञान अनुष्ठानापेक्ष्य है और उसका फल है अभ्युदय, इस लोक और परलोक दोनोमे अभ्युदय। धर्मात्मापर लोग विश्वास करते हैं। अगर प्रजाका विश्वास प्राप्त करना है तो धर्मका पालन करना चाहिये। थोडे दिन तकलीफ होगी। फिर जव यह मालूम पड जायेगा कि यह आदमी झूठ नही बोलता तो सव विश्वास करने लगेंगे। गांधीजीका उदाहरण हमारे सामने है।

मैं जव वालक ही था, वावाने हमे दो रुपया जूते पहिननेके

लिये दिये। एक मुसलमानकी दुकानपर गया। जूता पहिन लिया-कीमत पूछी। उसने दो रुपया माँगा सो मैंने दे दिया। जब चलने लगा तो उसने आठ आना (५० पैसे) वापस कर दिया। बोला: मैंने मोलभाव करनेके लिये आठ आना बढाकर कीमत बतायी थी। तुमने मोलभाव नही किया, इसलिये आठ आना वापस करता हूँ। अब देखो! उस समय उसकी दुकानपर कोई दस-बीस जोडे जूते थे, परन्तु ईमानदारीके बलपर आज उसके पास लाखोकी सम्पत्ति है और उसकी ईमानदारी आज भी कायम है।

अभ्युदय अर्थात् अभिमुखसे उन्नति आवे, चारो ओरसे उन्नति उसका सेवन करे—लोकमे भी और परलोकमे भी। यह धर्मका फल है। परन्तु धर्म करना पड़ता है। इसमे तथा सत्य, अहिंसा अस्तेय सब करने पड़ते है।

परन्तु ब्रह्मज्ञान जो है वह **निश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानापेक्षम्**। ब्रह्मज्ञानका फल निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष है और उसमे अनुष्ठानकी अपेक्षा नही है।

निःश्रेयस अर्थात् **निःशेषं श्रेयः** अथवा **निष्क्रान्तानि श्रेयानसि यस्मात्** (जहाँ कोई श्रेय बाकी न रहे) आत्यन्तिक कल्याणका नाम निःश्रेयस है।

एक बात देखो! दूर हो चीज, भविष्यमे होनेवाली हो, या अपनेसे अलग हो, तो इसकी इच्छा करनी पड़ेगी और प्रयत्न करना पड़ेगा। उदाहरणके लिये अमेरिकाकी चीजकी किताब पढ़कर जानोगे तब इच्छा होगी परन्तु उसे प्राप्त करनेके लिये वहाँ जाना पड़ेगा। छः मास आगे होनेवाली बात यदि हो तो उसे जानो अब, फिर सावधान रहना पड़ेगा और छः मासतक प्रतीक्षा करनी पडेगी तब वह बात ग्रहण होगी। दूसरी कोई चीज हो तो उसे पकड़ना पड़ेगा। परन्तु जो तुम खुद हो हो उसको जानोगे

अब तो ? इच्छा होगी उसे पानेकी ? प्रयत्न करोगे उसे पानेका ? नहीं, कोई आवश्यकता ही नहीं। इसलिये इच्छा और प्रयत्नसे मुक्ति तभी होगी जब अपने आपको जानेंगे।

अच्छा, अपने आपको तो जाना परन्तु कोई दबा दे तो ? परन्तु अपना आपा अद्वय हो तो उसका भी भय नहीं। देश, काल, वस्तु अपनेमे कभी भासता है, कभी नही भासता परन्तु अपना आपा अबाधित भासमान है, फिर डर किसका ? अद्वयमे भय कहाँ ?

लोग कहते हैं : ब्रह्म परपूर्ण है परन्तु 'मैं' ब्रह्म नहीं है। यह चना ब्रह्म नहीं है। वह तो फिर ब्रह्म ही नहीं होगा। उसमे तो छेद हो गया। 'मैं' का अलग होना ब्रह्मकी परिपूर्णतामे न्यूनता है और 'मैं' कट गया, परिच्छिन्न हो गया। और ब्रह्म यदि मैं-से जुदा होगा तो ब्रह्मकी दुर्दशा होगी। कोई भी वस्तु जो चेतन होगी उसका आत्मत्वेन ही अनुभव होगा। 'मैं जानता हूँ' और जो जाना जायेगा वह दृश्य होगा और ज्ञाता चेतन होगा। दृश्य विकारी परापेक्ष, पराधीन एवं जड़ होगा तब ब्रह्म भी अन्य रूपसे ज्ञेय होगा तो उसे जड-विकारी आदि होना पड़ेगा और यदि अज्ञेय हो तो वह कोरी कल्पना होगा। ब्रह्म जब आत्मत्वेन जाना जायेगा तभी ब्रह्म ब्रह्म होगा।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। (ब्रह्मसूत्र ४ १ ३)

आत्मा ब्रह्म है यह बात समझायी जाती है और आत्मा ब्रह्म है यही जाना जाता है अर्थात् यही अनुभव होता है।

ब्रह्म यदि मुझसे दूर हो, देर हो, अन्य हो—तो वह परिच्छिन्न होगा। ब्रह्म मुझसे न ज्ञातरूपसे अलग हो सकता है और न अज्ञातरूपसे अलग हो सकता है क्योंकि वह या तो जड़ होगा या कल्पित। ब्रह्मसे यदि मैं अलग होऊँ तो मैं परिच्छिन्न टुकडे टुकड़े हो जाऊँगा। इसलिए ब्रह्मसे अलग मैं और मुझसे अलग ब्रह्मकी

अनुभूति कभी हो ही नही सकती। इसका अर्थ है कि अपने आपको ब्रह्म जानते ही अद्वितीयता हो जाती है। तब न कोई दृश्य है, न विकारी है, न कोई अपने-से जुदा है, न कोई इच्छा है, न प्रयत्न। यदि अपनेसे अन्य कोई होगा तो इच्छा भी बनी रहेगी और प्रयत्न भी। और यदि इच्छा और प्रयत्न बने रहे तो मुक्ति किस बातकी?—इच्छावालेकी मुक्ति? प्रयत्नवालेकी मुक्ति? इच्छावाला कंगाल है और प्रयत्नवान मजदूर है। यदि कंगाली और मजदूरी बनी रही तो फिर मुक्ति कैसी? इच्छा-प्रयत्नसे सम्पूर्ण छुटकारा ब्रह्मज्ञानसे ही मिलता है। इसके बाद न कर्म है, न गति, न फल।

ब्रह्मविज्ञानके साथ तीन चीजें कटनी चाहिए! कर्म, गति और फल। जब अपनेको अद्वय, अनन्त ब्रह्म जान लिया तो कुछ पानेकी इच्छा नही और इसलिए प्रयत्न नही—कर्म कट गया। जब अपने अद्वय स्वरूपमे देशान्तर ही नही है तो कही जाना नही है—गति कट गयी और स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक सब कट गये। श्रुतिने कहा :

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव प्रविलीयते।

जब अपने अद्वय स्वरूपमे कालान्तर ही नही है फल क्या उदय होगा? फल कट गया। सबका फल तो ब्रह्मज्ञान है अब फल क्या उदय होगा?

इस प्रकार ब्रह्मविज्ञानसे अपने अद्वयस्वरूपमें देशान्तर न होनेसे गति कट गयी, कालान्तर न होनेसे फल कट गया और द्रव्यान्तर, वस्त्वन्तर न होनेसे इच्छा-प्रयत्नरूप कर्म कट गया। ब्रह्मविज्ञानके साथ ही ये सब कट जाते हैं।

हिमालयमें बैठकर ब्रह्मविद्या नही सीखी जाती वह ब्रह्मज्ञके पास मिलती है। वैराग्यमे-से ब्रह्मज्ञान नही निकलता, वह ब्रह्मज्ञमे-से निकलता है।

निष्कर्ष कि ब्रह्मज्ञानमे अनुष्ठानकी अपेक्षा नही है।

× × × ×

अब धर्म जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका अन्तर और स्पष्ट करते हैं —

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापार-तन्त्रत्वात् इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्य नित्यत्वात् न पुरुषव्यापार-तन्त्रम्। (भाष्य)

धर्म जिज्ञासाका विषय भव्य है अर्थात् होनेवाला है और ज्ञानकालमे वह नही है, क्योकि वह पुरुष व्यापारके अधीन है। कैसे ? पहिले धर्मका ज्ञान किया जाता है तदोपरान्त उसको किया जाता है। धर्मको जिज्ञासा करनेके लिए होती है। ज्ञानकालमे कर्म नही होता बादमे होता है। पर्युपण कैसे होता है ? एकादगी कैसे की जाती है ? तो पहिले मालूम करो और फिर करो। केवल भूखा रहनेसे एकादगी नही हो जाती। दशमीकी रातको अन्न नही खाना, फिर द्वादशीकी रातको भी अन्न नही खाना। यह कोई रोजा नही है कि सूर्योदयसे पहिले खालो। या द्वादशीको माल-टाल बनने दो और एकादशी फलहार ही चलने दो, सो नही। व्रतमे छल नही चलता।

न व्याजे नाचरेत् धर्मम्। असकृत् जलपानादि च।

धर्ममे व्याज (बहाना) नही होना चाहिए। बार-बार जल-पानादिसे व्रत नही रहता। एक बार पान खानेसे, दिनमे सोनेसे, मैथुनसे व्रत टूट जाता है।

धर्म करनेसे पहिले उसके सकल्पको जान लो : बारह बरस-के लिए कि एक बरसके लिए, केवल शुक्ला या कृष्णा एकादशी करेंगे। जो लोग केवल क्रियाको धर्म समझते है वे

लोग धर्मका रहस्य बिलकुल नही जानते हैं। उसमे विहितत्वसे धर्मकी उत्पत्ति होती है।

धर्मो जिज्ञास्यः अर्थात् जो धर्म अभी बनाना है भव्यश्च, जो इस समय नही है, उसके बारेमे जानकारी कर लो। धर्मके ज्ञान-कालमें धर्म पैदा नही हुआ, अभी पैदा करना पडेगा। क्योंकि **पुरुष व्यापारतन्त्रत्वात्।** इसका अर्थ है कि धर्म तब होता है जब वह किया जाता है। यह विचित्र बात है।

पुरुषतन्त्र क्या? धर्ममे हमारा सामर्थ्य काम करता है। किसीने कहा: पाँच रुपये देदो। अब हम चाहे तो दे-न-दें, अथवा कम-ज्यादा दें। यही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् है। इसीको पुरुष-तंत्र बोलते हैं।

परन्तु 'यह घड़ी है' यह ज्ञान हो रहा है। इसमे हमारा (पुरुषका) सामर्थ्य कहाँ तक है? क्या हम चाहे तो इसे घडी न देखकर गणेश देख सकते है? नही। यदि हम घड़ीको न देखें और कहे कि घडी है हो नही तो क्या घड़ी हो जायेगी? नही। ज्ञानसे जो वस्तु सिद्ध होती है उसमे ज्ञाताका सामर्थ्य ज्ञेयवस्तुको बदलनेका नही होता।

हमारे एक ओर पुरुष बैठे है और दूसरी ओर स्त्री बैठी है। यदि हम चाहे कि सब पुरुष हो जायँ या सब स्त्री हो जायँ तो क्या हो सकता है? नही। सच्ची चीज इच्छासे नही बदलती। यह जो ब्रह्म है जिसके विज्ञानकी हम चर्चा करते है वह पुरुषतन्त्र नही है। वह हमारी इच्छासे अपना स्वरूप बदलता नही है। उसमे इन्द्रियोको जोडे बिना, अन्तःकरणको जोड़े बिना, उसका जो असली स्वरूप है वह सदैव एकरस रहता है। हम अल्ला-अल्ला कहे या गॉड-गॉड या दोनोको गाली दें, इसमे हमारा स्वातन्त्र्य है परन्तु प्रकाशसे, ज्ञानसे हम मुकर नही सकते। आप इस ज्ञानसे मुकर जाइये कि हम हैं? है आपमे सामर्थ्य?

ब्रह्मज्ञान और धर्मज्ञानमें यही अन्तर है।

इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।

जो 'भूत' अर्थात् पहिलेसे मौजूद ब्रह्म है वह ब्रह्म जिज्ञासाका विषय है और वह नित्य है। जैसे धर्म धर्मज्ञान-कालमे नही रहता वैसे ब्रह्म ब्रह्मजिज्ञाकालमें न रहता हो सो नही। जैसे धर्मज्ञान पुरुष-व्यापारतन्त्र हैं वेसे ब्रह्मज्ञान पुरुष-व्यापारतन्त्र नही है।

भूतं ब्रह्म। सृष्टिकी आदि कहाँ ? वही ईश्वर मिल जायेगा। तो किसीने कहा अंगुलीके ऊपर (आकाशमें ऊर्ध्व दिशामें), किसीने कहा · नीचे। योगीसे पूछा : ईश्वरकी प्राप्ति कहाँ ? बोले · सहस्त्रारमे, सिरमे। कमल खिल जायेगा तव वहाँ ईश्वर मिलेंगे। भक्तसे पूछा : ईश्वर कहाँ ? तो बोले : दिलमे। वाक्‌के उपासकने वताया · मूलाधारमे परावाणीके रूपमे। अब परमात्मा क्या खिलौना है कि किसीके सिरमे रहे तो किसीके दिलमे तो किसीके मूलाधारमे ?

सृष्टिकी आदि कहाँ ? किसीने ऊपर कहा तो किसीने नीचे। किसीने क्षीरसागरमे कारणको सोता पाया तो किसीने शिवसे, देवी मैयासे या गणेश भगवान्‌से या सूर्य भगवान्‌से सृष्टिकी उत्पत्ति वतायी। भाई मेरे, सृष्टिकी आदि वही है जहाँसे सृष्टि मालूम पडती है। जिससे ब्रह्मा-विष्णु-महेश मालूम पडते हैं और जिसमे ये ब्रह्मादि मालूम भी नही पड़ते वही सृष्टिकी आदि है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रकृति, ईश्वर जो कुछ भी अपनेसे जुदा है वह सव मैंके होनेपर ही मालूम पडते हैं। इसलिए जहाँसे 'मैं' मालूम पडता है वही सृष्टिकी आदि है। वही ईश्वर है। उसका नाम है ज्ञान। वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वह ब्रह्म है, सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है।

एकने कहा . हमारे गुरुजीने सृष्टि बनायी। हमने कहा :

हमारे बेटेने बनायी। उसने कहा : सिद्ध करो। हमने कहा : तुम सिद्ध करो। अरे भाई! पहिले गुरुजी बने, तब सृष्टि उनसे बनी न! गुरुजी भी तो पहिले बने ही, वे बने थोडे ही है। अनजान लोगोको जो कह दो उसीमें फँस जाते है।

तो 'भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं' जो वस्तु मौजूद है और ऐसी मौजूद है कि उसे सिद्ध करनेके लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नही है। वृहदारण्यककी श्रुति उसे अप्रेमयम् ध्रुवम् कहती है और अचिन्त्यं, अलक्षणं अनिर्देश्यम्, अव्यपदेश्यम् कहती है—ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासाका धर्मजिज्ञासासे क्या सम्बन्ध!

प्रमेय अर्थात् जो प्रमाणसे जाना जाय; प्रमेयका करण प्रमाण। इसलिए अप्रेमय वह जो प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीको प्रकाशित करता है। एक वेदान्त भाषाका नियम ही सुना देते है :

अन्यत्वे नाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे तु दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती आत्मन्यव्यवसिता भवेत्॥

यदि वस्तु हमसे जुदा है तो प्रमाणसे उसे जानो। प्रमाण अर्थात् इन्द्रियाँ, मन बुद्धिसे, सुषुप्तिमे, समाधिमे। परन्तु वह वस्तु अप्रमेय नही होगी। यदि प्रमेय होगी तो दृश्य होगी, जड़ होगी, विकारी होगी, पराधीन होगी, परिच्छिन्न होगी। फिर श्रुति अप्रमेय किसको बोलती है? अपनेको। सुषुप्तिका नाम अप्रमेय नही है क्योंकि उसमे तो सर्व प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयका बीज लीनरूपसे रहता है। समाधि और उपास्यलोकमे भी अप्रमेय नही रहता। यही जो साक्षी है, द्रष्टा है, वही अप्रमेय है। यही 'इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं' है और वह 'पुरुष व्यापारतन्त्र' नही है।

न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। हम अपनेको जानें कि हम हैं और न जानें या अपनेको बदल दें कि हम नही है? है किसीमें सामर्थ्य कि यह निश्चय करे कि 'मै नही हूँ?' यह निश्चय करनेवाला

कौन होगा ? अच्छा; कोई निश्चय कर सकता है कि 'मैं नही जानता ?' कोई निश्चय कर सकता है कि 'मैं अपना प्रिय नही हूँ ?' यह वेदान्त सिद्धान्त अकाटथ है। ज्ञान पुरुपव्यापार-तन्त्र नही है।

विद्यारण्य स्वामीने बहुत अच्छे शब्दोमे कहा है—

वस्तुतन्त्रे भवेत् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।

ि ।सको जानते हैं उसके अनुरूप ज्ञान होता है और जैसा हम करते हैं वैसी उपासना होती है। घड़ीको घडी जानना ज्ञान है और उसको ईश्वरका वरदान समझना उपासना है : अपनेको अपना आपा जानो, यह ज्ञान है और अपनेको सखी जानो तो ? यह उपासना है। चाहे सखी समझो या सखा, चाहे दोनो न समझो और चाहे अपनेको चर्वाकका अवतार समझो—इसमे आप स्वतन्त्र हैं। जिसमे आपकी क्रिया-भावनाके अधीन जो वस्तु है वह उपास्य उपासना है। और जिसमे आप कुछ भी हेर-फेर नही कर सकते और दुनियाका कोई भी आदमी हेर-फेर नही कर सकता वह ज्ञान है।

न हि कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मीति।

बौद्धोने निष्प्रपञ्चताका वर्णन किया। वेदान्तियोके प्यारे हैं बौद्ध। क्योकि द्वैतका मिथ्यात्व निश्चय करनेमे वे वेदान्तियोका बहुत दूरतक साथ देते है।

जैन अन्तकरण शुद्ध करानेमे बहुत दूरतक वेदान्तका साथ देते हैं।

शैव, वैष्णव, शाक्त तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वरके स्वरूप-निर्णयमे बहुत दूर तक साथ देते हैं।

साख्य और योग त्व-पदवाच्यार्थ आत्माके स्वरूप निर्णयमे वेदान्तका बहुत दूरतक साथ देते हैं।

बौद्ध शून्यको तत्त्व कहते हैं। वेदान्त कहता है कि शून्य जिसको मालूम पड़ता है वह तत्त्व है; वही परमार्थ है। इसलिए आपका अपना जो आत्मस्वरूप है वह एक रस है, उसे कोई बदल नही सकता। वह पुरुष-व्यापारतन्त्र नही है। वह भव्य नही, साध्य नही सिद्ध है।

× × ×

अब एक तीसरा भेद धर्मजिज्ञासाका बताते हैं और वह है विधिमें।

चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। (भाष्य)

ब्रह्मके लिये और धर्मके लिये जो शास्त्रमे उपदेश हैं, उसमें अन्तर है। धर्मके बारेमे जान-सुनकरके जैसी प्रवृत्ति होती है वैसी ब्रह्मके बारेमें जान-सुनकर नही होती। उपदेशकी प्रक्रियामें भी अन्तर है और बादकी प्रवृत्तिमे भी अन्तर है। **चोदनाप्रवृत्ति भेदाच्च**। क्या अन्तर है? कहते है.

या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति।

धर्मके लिये जब कोई उपदेश किया जाता है जैसे—होम करो, यज्ञ करो तो वे उपदेश 'वेदी कैसे बनाना, समाधि कैसे लगाना, साकल्य कैसे बनाना इत्यादि ब्राह्मण, ऋत्विज, होम, विधि, मन्त्र—इन सब कर्मोंमे मनुष्यको लगाते हुए ही धर्मके विधान होते हैं।

धर्मके बारेमे भी लोगोकी धारणा अलग-अलग होती है। कोई कालमें धर्म मानते है जैसे अमावस्याके दिन किसीको खिलाओ।

कोई देशमे धर्म मानते हैं जैसे गयाजीमे जाकर खिलाओ। कोई वस्तुमे धर्म मानते हैं जैसे चावलका दान करो।

खाओ तो धर्म—इसको बहुत लोग जल्दी मान लेंगे। खिलाओ तो धर्म—इसको कम लोग देरसे मानेंगे। परन्तु द्रव्यका उपयोग दूसरेके बारेमे और अपने बारेमे करना, यह दोनों अलग-अलग धर्म है।

कोई शारीरिक क्रियाको धर्म मानते है ऐसे हाथ जोडो तो धर्म। पूजा हाथकी नही होती पाँवकी होती है। क्योंकि पाँवमे गतिके देवता विष्णु रहते हैं जबकि हाथमे कर्मका देवता इन्द्र रहता है। पूजा विष्णुकी होती है, हाथकी नही।

कुछ लोग हृदयमे भावसे धर्म मानते हैं। भाव भी विधिके अनुकूल होना चाहिए तथा सकल्पपूर्वक-कर्तृत्वपूर्वक होना चाहिए, श्रद्धा-भावनापूर्वक होना चाहिए।

आत्मज्ञानमे वस्तुकी जरूरत नही, न सोनाकी जरूरत है न तुलसीकी। लोग मरते समय मुँहमे तुलसी, सोना डालनेका बन्दोबस्त तो करते हैं, परन्तु ईमानदारीसे जीवन बिताकर मुक्त हो जायँ, इसकी फ्रिक्र नही करते। ऐसे लोग क्या मुक्तिमे आस्था रखते हैं? नही। सारी जिन्दगी तो बेईमानीमे बीती और मरते समय तुलसीसे मुक्ति! यह तुलसीका खण्डन नही करते परन्तु आप अपनी जाँच-पडताल करो कि आप वास्तवमे चाहते क्या है?

मुक्ति होगी, कैसे? देह हिलानेसे? हाथ, पाँव, मन, बुद्धि हिलानेसे? नही भाई। जब तुम अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त जानोगे, तब देखोगे :– तुमने अपनेको झूठ-मूठ ही बद्ध मान रखा था। तुम्हारा स्वरूप नित्यमुक्त है।

तो धर्मका ज्ञान कर्ममे लगाता हुआ धर्मका बोध कराता है

परन्तु ब्रह्मबोधक शास्त्र केवल ब्रह्मका ज्ञान कराता है, वह कही लगाता नही है।

कुछ लोग होते हैं किसी 'साहब'से मिलने जाते है तो पहिले वे चपरासीसे मिलेगे। चपरासी उन्हे किसी क्लर्कसे मिलायेगा, क्लर्क हैडक्लर्कसे मिलायेगा और अन्तमे वे साहबसे मिले बिना ही लौट जायेगे। थोडा-बहुत काम उनका हो जाता है। दूसरे लोग होते हैं जो सीधे साहबसे मिलते हैं, बीचके लोगोकी ओर वे ध्यान ही नही देते। यह परमेश्वरसे सीधे मिलनेका जो विज्ञान है वही ब्रह्म-विज्ञान है।

ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्। अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते।

ब्रह्मका ज्ञान दूसरेका ज्ञान नही है और अपना ज्ञान भी नही है; अपना आपा ही ज्ञान है। ब्रह्मका ज्ञान नही होता। असलमे ज्ञान ही ब्रह्म है; ब्रह्म अर्थात् देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय चेतन तत्त्व।

देखो, यह रूमाल है। रूमालका ज्ञान रूमाल होनेसे है। लो रूमाल हटा दिया। यदि इन्द्रियोसे भी है तो इन्द्रियाँ हटा दो; माने मनमे लौट जाओ। यदि मन भी ज्ञानमे सहकारी है तो उसे भी हटा दो। अर्थात् अन्त.करणकी उपेक्षा कर दो। अब ज्ञान कहाँ गया ? ज्ञानके अभिमानी ज्ञातामे। इसका भी ख्याल हटा दो। अब ज्ञान शुद्ध है। न उसमे रूमाल-विषयका ज्ञान है (ज्ञेयमुक्त ज्ञान) और न ज्ञान करणका सयोग है (अर्थात् ज्ञान-करणके जन्य जनक भावसे मुक्त ज्ञान है) और न उसमें कोई अभिमानी है (ज्ञातामुक्त ज्ञान)। तो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे मुक्त, सबसे व्यावृत्त जो ज्ञान है वह ब्रह्म है। वह

अखण्ड है, परिपूर्ण है और अद्वय है। वह ज्ञान ही ब्रह्म है और वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।

जिस ज्ञानसे यह मकान मालूम पड रहा है, यह शरीर मालूम पड रहा है, मन मालूम पड़ रहा है, अभिमानी मालूम पड रहा है, वही ज्ञान है : **ज्ञप्तिर्ज्ञानम्**। ज्ञानके करणका नाम ज्ञान नही—**ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्** नही—बल्कि ज्ञप्तिर्ज्ञानम् अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयके लेशसे विनिर्मुक्त जो ज्ञप्तिमात्र, ज्ञान-मात्र, चिन्मात्र है वह ज्ञान है। जहाँ विषयज्ञान प्राप्त नही करना वहाँ ज्ञानमे करणत्व नही है।

एक-एक शरीरमे बैठकर ज्ञानी मत बनो। नाक, आँख, कान-वाले बनकर ज्ञानी मत बनो। मन, बुद्धि, चित्तवाले बनकर ज्ञानी मत बनो। 'मै' वाले बनकर ज्ञानी मत बनो।

'जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमे जोड़ दो।' यह मै भी दृश्य है, जाने दो इसे। इससे एक बार अपनेको व्यतिरिक्त कर लो। न यह मै है और न मेरा। न यह है, न वह। इनसे मुक्त अपना ज्ञान 'मैं' ब्रह्म है। श्रुतियाँ है :

ज्ञान ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

ज्ञान और प्रज्ञानमे क्या अन्तर है। ज्ञानके पेटमें यदि फूल (विषय, ज्ञेय) तो ज्ञान और फूल निकाल दिया तो प्रज्ञान। ज्ञानके पेटमे मै भी न हो, फूल भी न हो और फूल-ज्ञानका कारण भी न हो, तो वही ज्ञान फूलका असली आत्मा ज्ञान है—बाध-सामानाधिकरण्यसे। फूलकी आत्मा ज्ञान है बाधसामानाधिकरणसे और अपना अहमर्थ ब्रह्म है मुख्यसामानाधिकरणकी रीतिसे।

ब्रह्मसूत्रका सबसे पुराना भाष्य जो मिलता है वह है भगवान् श्री शङ्कराचार्यकृत शारीरक-भाष्य जिसपर प्रवचन चल रहा है। श्री रामानुजाचार्यने 'बोधायनवृत्ति'का ज़िक्र किया है परन्तु

वह मिलती नही है। अद्वैतियोंमे शंकर, वैष्णवोंमे रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, शैवोमें श्रीकण्ठ, श्रीकर और अप्पय-दीक्षित सब-के-सब 'ब्रह्मजिज्ञासा'से ब्रह्मसूत्र प्रारम्भ होनेके कारण मानते है कि ब्रह्म परमानन्द है; क्योकि इच्छा तभी होती है जब वस्तु आनन्दरूप हो। आत्मा और ब्रह्म दोनो परमानन्द-स्वरूप हैं। दूसरेका होना और सम्बन्ध होना दुःख है। दूसरेका होना शत्रु-मित्र होना है और दूसरेसे सम्बन्ध होना पराधीन होना है और दूसरेके लिए इच्छा होना कगाल होना है। अत यह ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका अर्थ है आत्मरूप परमानन्दकी इच्छा।

जब ज्ञानमात्रसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है तो इसका अर्थ है कि परमानन्द अज्ञानसे प्रतिबद्ध है। इसलिए यदि अज्ञान मिट जाय तो तुम परमानन्दस्वरूप ही हो। अज्ञानसे अप्राप्त होना और ज्ञानसे प्राप्त होना नित्य-प्राप्तका लक्षण है।

आत्मा कैसा है ? तो कहा ब्रह्म है। यह शरीरमे रहता है परन्तु शरीरसे खण्डित नही होता, घटाकाशवत्। वह प्रकृति-पर्यन्त समस्त कार्य-कारणमें रहता है परन्तु कही किसीसे खण्डित नही होता। देहमे जीव और प्रकृतिमें ईश्वर यही आत्मा है। जहाँ माया नही, प्रकृति वहाँ भी और उससे परे भी यह रहता है, पिण्डमें भी और ब्रह्माण्डमे भी; भावमें भी और अभावमें भी और है-नही दोनोमें भी। उसे घेरेमें मत लो। जहाँ तक माया है वहाँ तक ईश्वरत्व है और जहाँ तक देह है वहाँ तक जीव है। इसके आगे कुछ नही है, वही वही है :

न कश्चित् जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचित् न जायते॥

(गौडपादीय कारिका)

"जीव उत्पन्न नही हुआ है; ब्रह्ममें जीवत्व सम्भव ही नही है। जहाँ कुछ भी उत्पन्न नही होता वही उत्तम सत्य है।"

ज्ञान अपना आपा है, ब्रह्म है। वह अज्ञानमे अप्राप्त है और ज्ञानसे प्राप्त है। केवल ज्ञानसे ही प्राप्त है, विना कुछ किये, विना हाथ-पाँव पटके, विना ध्यानके, विना बुद्धिका विषय बनाये, विना समाधिके, विना वैकुण्ठ गये। वह ज्यो-का-त्यो ब्रह्म है और इसका साक्षात्कार होनेपर (?) स्वय साक्षात्-स्वरूप है। यह जन्मने-मरनेका डर, आने-जानेका डर, पराधीनताका डर, बन्धनका डर, ज्ञान होनेपर नही रहेगा। काल बाधित हो जायेगा, देश बाधित हो जायेगा, देह बाधित हो जायेगा और समस्त कार्य-कारण भाव बाधित हो जायेंगे।

इस आत्माके सिवाय कोई दूसरी चीज ही नही है। कैसे? तो सूत्रकारने कहा: जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १.१.२) ब्रह्म सर्वकारण कारण है। उसे उपादान बता दिया। परन्तु जैसे घडामे मिट्टी उपादान है वैसे ब्रह्म सृष्टिका उपादान नही है। अपितु जैसे वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् वैसे।

जड़मे कार्य-कारणभाव होता है, चेतनमे नही। अल्पकालिक कार्य और बहुकालिक कारण ऐसा भेद चेतनको स्पर्श नही करता; क्योकि चेतन कालका साक्षी है। आकृतिभेद भी चेतनको स्पर्श नही करता क्योकि वह आकृति सामान्यके अत्यन्ताभावका साक्षी है। इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यत'से यह बताया गया कि जिज्ञास्य ब्रह्म अद्वितीय है।

तीसरा सूत्र शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसूत्र १.१ ३) बताता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है क्योकि सारे शास्त्र उसीमे-से निकले हैं। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'से ब्रह्मकी परमानन्दरूपता, 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मकी सन्मात्रता और 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मकी ज्ञान-

स्वरूपता सिद्ध होती है। चौथा सूत्र तत्तु समन्वयात् (ब्रह्मसूत्र १.१.४) ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्दस्वरूपकी एकता बताता है कि ब्रह्ममे अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, परम आनन्द अद्वयरूपसे प्रतिष्ठित हैं।

ऐसा ब्रह्म जिन वेदवाक्यो द्वारा बोधित होता है वे केवल बोध ही कराते हैं **पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्**। वे पुरुषको ज्ञानमें नियोजित नही करते : **न पुरुषोदबोधे नियुज्यते**। क्यों ? क्योंकि बोध प्रमाणजन्य है : **अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात्**।

केवल ज्ञानसे ब्रह्मसाक्षात्कारमे कोई दृष्टान्त भी है या केवल प्रतिज्ञामात्र ही है ? इसपर कहते है कि दृष्टान्त है :

यथाऽक्षार्थ संनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।

शकर भगवान्‌की यह पंक्ति अजर-अमर है। जैसे यदि आँख ठीक है और यदि आँख और उसके विषय माला-आदिका सनिकर्ष (मेल) ठीक-ठीक हो जाय तो माला-आदिका रूप बिना कुछ अन्य प्रयत्न किये प्रकाशित होगा ही। वैसे ही यदि तुम्हारी वृत्ति अन्य विषयसे हटकर तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे ब्रह्मको देखने लग गयी तो तुमको ब्रह्म वैसा ही दीखने लग जायेगा जैसे खुली आँखसे संसार दीख रहा है। उसमे अन्य प्रयत्नकी अपेक्षा नही है।

अपना ब्रह्मपना प्रत्यक्षकी वस्तु है। यह मरनेपर मुक्ति नही है। अपने आपको जानो। तुम मुक्त हो हो।

ब्रह्मज्ञान कोई विधि नही है नियोग नही है। हम केवल उस दृष्टिकोणका सकेत करते हैं जिससे आप अपनेको अनन्त ब्रह्मके रूपमे देख सकें। परन्तु देखनेका विचार होनेसे पहिले क्या ? अर्थात् किसके होनेके बाद ब्रह्मका विचार होगा ? 'अथ' शब्दसे यही आनन्तर्य सूचित किया गया है। ●

(६. ४.)

'अथ'पद विचार-३.

(साधन-चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा)

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यम् उपदिश्यते।

(भाष्य)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'मे 'अथ' शब्दका केवल मङ्गल नही आनन्तर्य है यह निश्चय हुआ। अब किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा ? तो 'स्वाध्यायाध्ययनान्तर्य' तो है ही, परन्तु धर्मजिज्ञासा आनन्तर्य अपेक्षित नही है, क्योकि धर्मजिज्ञासासे पूर्व भी वैराग्यवान अधिकारीको ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। फिर ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासाके फलोमे भेद है। ब्रह्मजिज्ञासाका फल मोक्ष है और धर्मजिज्ञासाका फल है अभ्युदय। धर्ममे अनुष्ठानकी अपेक्षा है, ब्रह्मज्ञानमे यह अपेक्षा नही है। धर्म पुरुषव्यापार-तन्त्र है ज्ञान पुरुषव्यापार तन्त्र नही है। दोनोके बोधक प्रमाणोमे और विधिमें भेद है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व धर्मजिज्ञासा अनिवार्य नही है और धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होनी अनिवार्य नही है।

इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है, उसे कहना चाहिए :

तस्मात् किमपि वक्तव्यम् यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति ।

जिज्ञासापदसे ब्रह्मकी परमानन्दस्वरूपताका सकेत है अन्यथा तो प्रवृत्ति ही नही हो सकती। जिज्ञासा अर्थात् विचार, विचार-मात्र। इससे संकेत किया कि—उस परमानन्दस्वरूपतापर अज्ञान ही आवरण है और वह विचारसे निवृत्त हो जायेगा। विचारका प्रतिभट अविचार विचारसे निवृत्त हो जायेगा। सृष्टिमे जितना अनर्थ है वह सब अविचारमूलक है, मूर्खतामूलक है, मोहमूलक है, अज्ञानमूलक है। इसलिए ये सब एक साथ ब्रह्मविचारसे निवृत्त हो जायेंगे। ब्रह्म अर्थात् परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षित तत्त्व अर्थात् जितने प्रकारकी परिच्छिन्नताएँ हैं उनके अभावसे उपलक्षित तत्त्व जिसमें वे सब परिच्छिन्नताएँ बाधित है।

लोग साधारणतया कहते हैं कि सबको ब्रह्मजिज्ञासा क्यों नही होती ? एक लड़का किसी लड़कीसे व्याह करना चाहता है तो वह लड़कीका विचार करेगा या ब्रह्मका ? माने जो लक्ष्य होगा उसीका विचार होगा न ! लक्ष्यके प्रतिवन्ध निवृत्त होनेपर ही ब्रह्मका विचार सम्भव है अन्यथा नही। यह प्रतिबन्धकी निवृत्ति ही आनन्तर्य है।

यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत न तु ब्रह्मजिज्ञासा भवति ।

यहाँ यह नही कहा जा रहा है कि 'जिसके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा होती है' बल्कि यह कहा जा रहा है कि 'जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है।' ऐसा क्यों ?

गुरु जाँच-पड़ताल करके उपदेश करता है, चेला बनानेके लिए उपदेश नही करता। ब्रह्मज्ञानका उपदेश पर्चा बाँटकर, लाउड-स्पीकरसे प्रचार करके नही किया जाता। जिसको हजारबार गरज हो कि 'हमको ब्रह्मज्ञान चाहिए,' वह गुरुके पास जाये और ब्रह्मज्ञानके विषयमें गुरुसे बोध प्राप्त करे। गुरु कहेगा : तू तो स्वयं

ब्रह्म है, तू ब्रह्मज्ञान क्यो चाहता है ? इसपर शिष्य कहेगा . आपका कहना ठीक है, लेकिन यह बात अनुभवमें नही आती, इसलिए मैं ब्रह्मज्ञान चाहता हूँ ।'

गरज चेलेकी है गुरुकी नही । अतः चेला ही गुरुके पास आता है चाहे गुरु गगा-किनारे हो या छप्परमें हो ।

इसके विपरीत गरजी गुरु चेलाजीके पास जाते हैं । टेलीफोन-पर गुरुजी कहते हैं सेठजी, हम उपदेश करने आगये हैं, आ जाइये । दूसरी ओरसे सेठजी उत्तर देते हैं : 'अच्छा महाराज, परन्तु अभी तो फुर्सत नही है । थोडी देरमें सुनेगे ।'

लोग मन्त्र लेने आते हैं । कहते हैं : 'महाराज, हमारे लिये तो सगुण-निर्गुण सब एक हैं । अब आप जो ठीक समझे सो मन्त्र दे दें ।' इसका अर्थ है कि शिष्य तो अभेदज्ञानी और गुरुजी भेद-ज्ञानी हैं ।

ब्रह्मजिज्ञासामें जिज्ञासुकी इच्छा होनी चाहिए । गुरुकी दृष्टिमें तो सब मुक्त हैं । गुरु अकेले मुक्त नही हो सकते । वस्तुतत्त्व यदि मुक्त है तो सब मुक्त ही हैं ।

ब्रह्मजिज्ञासामें पहिले क्या ? तो शकर भगवान् बतानेवाले हैं कि साधन-चतुष्टय चाहिए ! परन्तु साधन-चतुष्टयके पश्चात् ही ब्रह्मज्ञान क्यो ? वह इसलिए कि ब्रह्मज्ञानके पश्चात् अखण्ड स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिए गुरुजीकी यह जिम्मेदारी है कि वे शिष्यको ऐसी अवस्थामें पहुँचाकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश करें कि ब्रह्मज्ञानके अनन्तर भी वह भारतका नागरिक, वैदिक, सदाचारी एव सद्भाववान् बना रहे अर्थात् वह ब्रह्मज्ञानका उपयोग अपनी उच्छृङ्खलताके लिए न करे । यदि यह बात गुरुजो नही देख लेंगे तो असुरज्ञान हो जायेगा, वह राक्षस-भूमिका नागरिक हो जायेगा । इसलिए गुरुको पक्का करा लेना चाहिए । यह

वायदा करनेसे नही होगा; नही होता। गुरु पहिले जिज्ञासुको बनाते हैं निष्ठावान् और तब आत्माको बताते है ब्रह्म—यही प्रणाली है ब्रह्मके उपदेशकी।

साधन-चतुष्टयकी बात उपनिषद्‌में ऐसे ही कही है जैसे शंकराचार्य भगवान् यहाँ कह रहे है .

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन। (मुण्डक० १.२.१२)

परीक्षा करना कि कर्मसे क्या मिलता है और ज्ञानसे क्या मिलता है, यह नित्यानित्यवस्तु-विवेक हुआ। और परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय—यह वैराग्य हुआ।

शान्तोदान्त उपरतस्तितुक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो (समाहितो) भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत् (पश्यति)॥

(बृहद० ४.४.२३)

'शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—इन छः धन-सम्पत्तिसे भरपूर होकर जिज्ञासु अपनी आत्मामे आत्माको देखे।' यही षट्सम्पत्ति है। यहाँ श्रद्धाका अर्थ आस्था है : आस्था लक्ष्यके प्रति, मोक्षके प्रति, ब्रह्मके प्रति, ब्रह्मज्ञानके प्रति। यह आस्था ही मुमुक्षा बन जाती हैं।

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि

या तो मेरा यह शरीर गिर जायेगा या मेरा यह कार्य सिद्ध हो जाय! ऐसी आस्था होनी चाहिए। कौतूहलवश जो ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिमे आता है वह तो अन्ततः डर जायेगा :

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(गौड पादीयकारिका ३.३९)

'यह स्पर्शयोग निश्चय ही योगियोके लिए कठिनाईसे दिखायी देनेवाला है। इस अभयपदमे भय देखनेवाले योगीलोग इसमे भय मानते हैं।'

इस अस्पर्शयोगरूप ब्रह्मज्ञानमे भोगनेको कुछ नही मिलेगा; इसमे दूसरेको छूना नहीं है, आनन्दका भोग भी नही है क्योकि आनन्दस्वरूप तुम हो ! इसीसे लोग डर जाते हैं, रास्तेमे-से लौट आते है।

तो साधन-चतुष्टय हुआ 'नित्यानित्यवस्तुविवेक', इहामुत्रार्थ भोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च।

नित्यानित्यवस्तुविवेकः। अर्थात् सुखदु खका विवेक।

नित्ये वसति इति नित्यं सुखम्। अनित्ये वसति इति अनित्यं दु.खम्। नित्यः प्रत्यगात्मा, अनित्या = देहेन्द्रियविषयादयः नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु तद्धर्मः नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेक'। (भामती)

जो नित्यमे रहता है सो सुख, जो अनित्यमे रहता है सो दु ख। (आत्मा नित्य है और देहेन्द्रिय-विषय आदि अनित्य है) जो नित्यानित्यमे रहता है वह नित्यानित्यवस्तु है। उसका धर्म नित्यानित्यवस्तु धर्म है। उस धर्मका नित्य और अनित्यके धर्मोसे विवेक नित्यानित्यवस्तुविवेक है।

ससारकी प्रत्येक वस्तुमे दु ख है इसलिए उसे छोड दो। परन्तु तर्क तो इसके विपरीत भी हो सकता है। क्या? ससारकी प्रत्येक वस्तुमे सुख भी है और दु ख भी हैः इसलिए सुख होनेसे उसका ग्रहण करो। कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसमे सुख-दुःख दोनो न हो, किसीको उसी वस्तुमे सुख अनुभव होता है किसीको दु:ख।

एकपक्ष है कि : घरमे रोटी वनती है तो भिखारी आते है; इस लिए भिखारीके डरसे घरमे रोटी ही मत वनाओ। अथवा पति-

पत्नीमे लड़ाईका डर रहता है इसलिए ब्याह ही मत करो। अथवा कपड़ोमें जुये पड़ जाती है इसलिए जूके डरसे कपडा मत पहिनो। माने दु:खके डरसे सुखको भी छोड दो।

दूसरा पक्ष है कि : भिखारी आवे तो क्या घरमें सुस्वादु भोजनका सुख तो होगा। पति-पत्नीमें लड़ाई भी हो तो क्या, बच्चोंकी तोतली बोलीमें बोले गये 'डैडी, मम्मो' शब्दोंका सुख तो होगा। इत्यादि। माने दुःख है, ठीक है, परन्तु सुख भी तो है। दु:खके डरसे सुख क्यों छोडा जाय ?

इसलिए वस्तुमे सुखदु:खके विवेकसे त्याग उत्पन्न होना, वैराग्य उत्पन्न होना अनिवार्य नही है। फिर वह कौन-सा नित्यानित्य-वस्तुविवेक है जिससे वैराग्य उत्पन्न होता है ? बोले : यह विवेक करो कि नित्यमे क्या सुख है और अनित्यमे क्या दु:ख है ! तो कहा कि नही, बादमे यह भी कट जायेगा। यह विवेक सत्यमूलक नही है भावमूलक है। फिर वैराग्यमे हेतु कौन-सा विवेक है ? इसपर सन्तोने बताया कि सुखके झरनेको पकड़ो, सुखका मूल स्रोत क्या है ? दुनियामे जो कुछ भी सुख या दु:ख अनुभवमें आता है वस्तुओ आदिके तारतम्यसे, वह मूलमें सुख ही होता है। वह सुखका मूल कहाँ है, क्या है, कौन है ?—यह विवेक करो।

बाँकुडामें एक सन्त आये। श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने श्रीहरिकिशनदास (उनके भाई) को महात्माके पास भेज दिया कि भोजनके लिए लिवा लाओ। महात्माजीसे उन्होने कहा : महाराज चलो! श्रीजयदयालजीने भोजनके लिए बुलाया है। महात्मा बोले : आज तो तुम खिलाओगे, कल कौन खिलायेगा ? वे नही गये। श्रीहरिकिशनदासजीने जयदयालजीसे आकर बता दिया। जयदयालजीने फिर उनको भेजा और बताया कि महात्माजीसे कहना कि जिसने कल खिलाया था, वही आज

खिलानेवाला है और कल भी खिलायेगा। महात्माजी प्रसन्न होकर भोजनार्थ आ गये। साराश, देनेवाला नित्य है और खाने-खिलानेवाले नैमित्तिक हैं।

दृष्टि सुखपर नहीं कि सुख नित्य है या अनित्य। जहाँसे सुख-का झरना बहता है उस उद्गमपर दृष्टि रखो। जहाँसे सुषुप्तिमे सुख आता है, वहीसे जाग्रत और स्वप्नमे भी सुख आता है। वह सुख जाग्रतके पैसेमे से नहीं, सपनेके दोस्तमे-से नहीं और सुषुप्तिके विश्राममे-से नहीं आता। वह आत्मसुख है। वही नित्य है।

मनमे रसगुल्ला खानेकी इच्छा हुई, इससे अशान्ति हुई, प्रयत्न हुआ। रसगुल्ला मिला, शान्ति हुई। रसगुल्लेकी इच्छा मिट गयी। शान्ति तो हुई इच्छा मिटनेसे परन्तु नाम रस-गुल्लेका हुआ।

कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है। रक्त अपने मसूड़ोमे-से निकलता है और मानता है कि रक्तका सुख हड्डीसे निकल रहा है।

जो सुख दूसरेसे प्राप्त होता है वह अनित्य है, जो अपना है, आत्मसुख है, वह नित्य है। इसलिए नित्यानित्य-वस्तु-विवेकका अर्थ है उस सुखके झरनेका अनुसन्धान जिसमे-से सुखकी अजस्र धारा बहती रहती है। वही विवेक-वैराग्यमे हेतु है।

भामतीमे नित्यानित्य-वस्तु-विवेकका कठोर ढगसे विचार किया है। एक सुगम विचार यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

(१) नित्य और अनित्यमे विशेषता क्या है? अपनी आस्था बनाओ · हमे नित्य चाहिए, अनित्य नहीं चाहिए। नित्यमे सुखका निवास है और अनित्यमे दुःखका निवास है।

(२) वस्तु नित्य होनी चाहिए जिससे नित्य-सुख हमे अपेक्षित है। नित्यता भी दो प्रकारकी होती है : एक परिणामी-नित्य दूसरा कूटस्थ-नित्य। दूसरे शब्दोमे एक समुद्रमे ज्वार-भाटे-

वाली जैसी नित्यता और दूसरी आकाशके एकरस रहनेवाली जैसी नित्यता।

घट अनित्य है; नाश हो जाता है यह प्रत्यक्ष है। पृथ्वी अनित्य कणोसे बनी है, अत. घटके समान उसके नाशका अनुमान होता है। ऐसे ही जल, तेज, वायुके नाशका अनुमान होता है। पृथ्वीके उपमानसे। आकाशका नाशवान होना शास्त्रसे सिद्ध है। क्योकि मनसे आकाशकी सिद्धि होती है; मनमे आकाशकी वासना है; स्वप्नमे हम उसे बना लेते है, जाग्रतमे वह मिट जाता है। तो मनसे आकाशका पता चलता है; आकाश मनःसापेक्ष है।

प्रकृतिकी अनित्यता स्वसवेद्य है। द्रष्टा प्रकृतिको लीन होते और प्रकट होते देखता है। परन्तु 'स्व' की नित्यता स्वसवेद्य नही है, वह अनुभव-स्वरूप है।

प्रकृति परिणामी नित्य है और आत्मा कूटस्थ नित्य है।

इसलिए हमारी आस्थाका स्वरूप हुआ : हमे अनित्य नही चाहिए, नित्य चाहिए। और नित्यमे भी परिणामी नित्य नही चाहिए, कूटस्थ नित्य चाहिए।

(३) अच्छा, वस्तु भी नित्य हो परन्तु यदि उसके साथ सम्बन्ध अनित्य हो तो? पृथ्वी तो हमेशा रहती है, परन्तु उसमें जो खेत लिया उसके साथ सम्बन्ध तो हमेशा नही रहेगा। इसलिए पहिले अपनी नित्यता (कूटस्थ नित्यता) को जानो, फिर पृथ्वीकी नित्यता (परिणामी नित्यता) को जानो, तदुपरान्त सम्बन्धको जानो तब सम्बन्धकी नित्यताकी पोल-पट्टी मालूम पड़ जायेगी। सम्बन्ध मानसिक होता है, इसलिए उसमे नित्यता कभी हो ही नही सकती। अतः दूसरेके सम्बन्धसे जितना सुख होता है वह अनित्य है।

(४) अब मान लो वस्तु भी नित्य हो, तुम भी नित्य हो,

सम्बन्ध भी नित्य हो परन्तु भोगकी शक्ति नित्य न हो तो ? तो सुख नित्य नही रहेगा। और मान लो कि शक्ति भी नित्य रहे परन्तु मनमें वस्तुके प्रति प्रियता न रहे तो ? तव भी सुख नही रहेगा। फिर यदि रुचि भी नित्य रहे परन्तु भोक्ता भी नित्य रह सके तब तो सुख नित्य रह सकेगा ? परन्तु सुपुप्ति, मूर्च्छा आदिमें भोक्ता ही स्तम्भित हो जाता है।

जो लोग समझते है कि सब नित्य है तो वे कभी अपने वारेमें अपनी नित्यताके बारेमें विचार ही नही करते। महाकालकी गोदमें यह सारा ससार भगा चला जा रहा है। भामतीकारने क्या वढिया वात कही है :

आ च सत्यलोकाद् आ चावीचे 'जायस्व म्रियस्वे'ति विपरिवर्तमानं क्षणमुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनवत्सरयुगचतुर्युगमन्वन्तरप्रलयमहाप्रलयमहासर्गावान्तरसर्गसंसारसागरोर्मिभिरनिशमुह्यमानं तापत्रयपरीतमात्मानं च जीवलोकं चावलोक्यास्मिन् संसारमण्डलेऽनित्याशुचिदुःखात्मकं प्रसंख्यानमुपावर्तते। ततोस्यैतादृशान्नित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणात् प्रसंख्यानाद् 'इहामुत्रार्थभोगविरागो' भवति। (भामती)

सत्यलोकसे लेकर नरक तक 'पैदा हो और मरा' इस तरह बदल रहा है। क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय, महासर्ग, अवान्तरसर्ग— ये ससार-सागरकी तरगें दिनरात थपेडे मार रही है। कभी वाहरसे दुःख आता है, कभी भीतरसे। कभी अपना मन ही गडवडाकर दुःख वना लेता है। पर यह सब होनेपर भी दुःख तो मनमें ही होता है। यह ससारमण्डलकी गन्दगी सव शरीरमें ही है। गन्दगी केवल शरीरमे-से निकलती है और कहींसे नही। बाहर कोई चीज गन्दगी नही होती। विष्ठा, मूत्र, हड्डी सब शरीरसे ही

निकलते हैं। इसीसे योगी लोग कहते है कि तुम किसीको पवित्र करने चले हो ? सारे दु ख कहाँसे निकलते है ? हेतु कोई भी हो पर दु ख होगा तो मनमे ही। मन ही दुःखाकार बन रहा है। यह शरीर ही सब गन्दगी और दुःखोका घर है। शरीर-सम्बन्धी सुख अनित्य है। इसलिए प्रसख्यानकी आवश्यकता है। दोष, दु ख, गन्दगो, अनित्यता, अपवित्रतापर विचार करनेकी आवश्यकता है। यही नित्यानित्यवस्तुविवेक लक्षणवाला प्रसंख्यान है जिससे इहलोक और परलोकके विषयोके प्रति वैराग्य हो जाता है। **इहामुत्रार्थभोगविरागः।**

एक सेठके घर एकबार मै ठहरा था। प्रातःकाल भागवतकी कथा करता था। उन्होने (सेठने) कहा : "स्वामीजी ! वैराग्यकी बात ज्यादा मत किया करो। हमारे छोटे-छोटे बच्चे हैं। वैराग्यकी बातें सुनकर उनकी काम-धधेमे अरुचि हो जायेगी।" उसके बाद फिर हम बम्बई आये तो वैराग्यकी बात करना ही छोड़ दिया। बम्बई माने सेठका घर। परन्तु प्रसगमे तो बात कही ही जाती है।

तो 'इहामुत्रार्थभोगविराग.' विवेकका परिणाम है। जब विवेक मनमे आता है तो अनाभोगात्मिका उपेक्षा-बुद्धि होती है; यानी विषयभोगमे आदर-बुद्धि नही रहती, उपेक्षा-बुद्धि हो जाती है।

अनाभोगात्मिकोपेक्षा बुद्धिः वैराग्यम्। (भामती)

वैराग्य माने द्वेष नही होता। अन्यथा तो पहिले रागसे ससारको दिलमे बसाया था, अब द्वेषसे ससार ही दिलमे बसेगा। द्वेष्य तो दिलमे ही बसेगा। अतः वैराग्य माने घृणा नही, वैराग्य माने त्याग नही, वैराग्य माने विस्मरण नही और वैराग्य माने सहार नही। तब क्या ?

आप दूकानमे बैठे हैं, हजारो आदमी आते-जाते हैं। आप उनसे न राग करते हैं न वैराग। आप तो अपने काममे लगे हैं, वे आते हैं चले जाते हैं।

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

उनका आदर ही न करना, उनको महत्त्व ही न देना कि क्या आया और क्या गया। यही वैराग्य है।

वैराग्यका फल है **शमदमादिसाधनसम्पत्।**

विवेक अर्थात् भले-बुरेकी पहिचान। इसका फल वैराग्य अर्थात् बुरेकी उपेक्षा। इसका फल है दिलमे शान्ति।

षट्सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी कमाई करनेके लिए पूँजी। गुरुजीको दक्षिणा दे देंगे और ब्रह्मज्ञान मिल जायेगा, सो नही। यदि ज्ञानके पट्टे से नौकरी आदि मिलती होती तो गुरुजी प्रमाण-पत्र भी दे देते। पैसेसे ज्ञान नही खरीदा जा सकता। यहाँ तक कि **तद्विद्धि प्रणिपातेन**से भी नही। क्योकि वहाँ कहा कि **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम् :** गुरुलोग ज्ञानका उपदेश करेंगे। परन्तु **परिप्रश्नेन सेवया** गुरुलोग ज्ञानका उपदेश तो कर देंगे लेकिन शिष्य द्वारा वह ग्रहण तभी होगा जब वह श्रद्धावान्, तत्पर और सयतेन्द्रिय हो। जिस अन्तःकरणमे तत्त्वमसि आदि महावाक्य-जन्य प्रमाका उदय होना है वह स्वच्छ होगा तब उसमे ज्ञान उदय होगा। उस स्वच्छताके लिए ही शमदमादि साधनसम्पत्ति चाहिए।

१ शम अर्थात् शान्ति, वासनाकी शान्ति। दूसरोंसे अच्छा काम कराके शान्ति नही होती। अशान्ति ही यही है कि सबलोग हमारे मनके अनुसार चलें। फिर भगवान् सिर्फ आपका ही मन बना देते, दूसरोके मन बनाये ही क्यो? अशुभ सकल्प करनेकी इच्छा न हो, केवल इसीका नाम शान्ति नही है। अशुभ

संकल्पकी इच्छा न हो और शुभमे विशेष प्रवृत्ति न हो, तब शान्ति होगी। यह सत्याग्रह या आन्दोलनका मार्ग नही है। अच्छे-बुरे सब कर्मोंकी वासनाकी शान्ति है शममें।

२. **दम** : निषिद्ध और विहित दोनों प्रकारके कर्मोंसे इन्द्रियों-को रोकनेका नाम दम है। दम करो, नही तो अग्नि-होम करते ही जिंदगी बीत जायेगी। दम = इन्द्रियोके विक्षेपकी शान्ति।

३. **उपरति** = बाह्य कर्मोमे साधन-भावका परित्याग। सध्या-वन्दन श्रेष्ठ है या ब्रह्मविचार? सन्यासका यही अर्थ है। उपरति अर्थात् कर्म-विक्षेपकी शान्ति।

४. **तितिक्षा** : तितिक्षा माने तपस्या नही; पंचाग्नि तापना नही, भूखा रहना नहीं। इसका अर्थ है शान्त होकर ब्रह्मविचारमें बैठो और कोई भी द्वन्द्वात्मक स्थिति उपस्थित होनेपर उसको सहन करके ब्रह्मविचारमे लगे रहो। तितिक्षा = दुःखविक्षेपकी शान्ति।

५. **श्रद्धा** : अर्थात् अभिमान मत करो। यह ब्रह्मज्ञानका मार्ग परिच्छिन्न अहको सजानेके लिए नही है। वेदान्तकी डिग्रीके लिए ब्रह्मविचार नही किया जाता। लोग हमसे पूछ-पूछकर वेदान्तपर थीसिस लिखते हैं, परन्तु वेदान्त अभिमानका भूषण बननेके लिए नही है। वेदान्त-ज्ञान अभिमानका उच्छेदक है, उसका आश्रित नही है। श्रद्धा = अभिमान-विक्षेपकी शान्ति।

ओषधि दोषान् घत्ते गुणान् इति।

जैसा रोग वैसी ओषधि।

६. **समाधान** : संशयकी दशामे बिलकुल मत बढो। संशयकी शान्ति है यह।

वेदान्त ब्रह्मविद्या है, साधना नही है। अन्तःकरणकी शुद्धिके धर्मके अनुसार कर्म है। तत्पदार्थके चिन्तनके लिए उपासना है।

त्वं-पदार्थका चिन्तन योग है। तत्, त्व और अन्त करणमे सार-वस्तुका बोध वेदान्त है। वेदान्त विद्या है। विद्या माने वस्तुका बोध। और बोधमे ही कृतार्थता है। यह कर्त्तव्यका बोध नही है, तत्त्वबोध है। कर्त्तव्यबोधके अनन्तर कर्म होता है जबकि तत्त्व-बोधके अनन्तर कर्म नही होता। रोग केवल अज्ञान है और वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाता है। इस समाधानको लेकर अब आगे बढो·

मुमुक्षुत्वं च।

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा (मोक्षकी इच्छा), इनके अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश दिया जाना चाहिए।

पूर्वपक्ष : यह जो साधन-सम्पत्ति है वह अनुपपन्न है। क्योकि 'इहामुत्रार्थभोगविराग.' (लोक और परलोकके भोगोसे वैराग्य) युक्तिसे असिद्ध है। ससारमे जो कुछ भी अनुकूल मालूम होता है वह सुख है, वह फल है·

अनुकूलवेदनीय हि फलम् इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। (भामती)
जिसके मिलनेपर वेदना अनुकूल हो वह फल है क्योकि फल इष्ट है। फलको तो हम चाहते ही हैं। जब तक दुनियामे अनुराग बना है तबतक वैराग्य नही होगा। इसलिए अनुपपत्ति है।

उत्तरपक्ष : ठीक है। देखो भाई, दुनियामे जितने सुख हैं उनमे दु ख लगा हुआ है। उस सुखमे दु खका मिश्रण है। इसलिए वैराग्य हो सकता है।

लोग चन्दन लगाके अच्छे लगते हैं परन्तु उसके घिसनेमे कष्ट भी होता है। तपस्वी लोग भस्म लगाते हैं परन्तु उसको बनानेमे कितनी तकलीफ होती है। भस्मको बेलपत्र, दूध मिलाकर पकाना पडता है। स्त्री-पुरुषका सुख एक घटा होता है परन्तु तेईस घण्टे गुलामी करनी पडती है।

पूर्वपक्ष : दुःखानुषङ्गदर्शनात् सुखेऽपि वैराग्यमिति चेत्, हन्त भोः सुखानुषङ्गाद्दुःखेष्यनुरागो न कस्माद् भवति । तस्माद् सुख उपादीयमाने दुःखपरिहारे प्रयतितव्यम् । (भामती)

सुखके साथ दुःख लगा हुआ है, इसलिए सुखको छोड़ते है। ठीक है, परन्तु दुःखमे भी तो सुख मिला हुआ है। फिर दुःखसे भी अनुराग करो। जो अयुक्त एवं अप्रसिद्ध है। इसलिए मनुष्यको दुःख देखकर सुखसे भागना नही चाहिए। उसमे-से सुख सुख निकाल लें और दुःख-दुःख छोड़ दे, यह चाहिए। कैसे ? तो कहते है :

अवर्जनीयतया दुःखमागतमपि परिहृत्य सुखमात्रं भोक्ष्यते ।
(भामती)

यदि सुखके साथ दुःख आता है तो आने दो हम दुःखको बचा लेंगे और सुखको भोग लेंगे। सो कैसे ? तो दृष्टान्त देते हैं।

तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते । यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते । (भामती)

जैसे कोई मछलीमार तालाबसे मछली मारकर काँटे छिलके-सहित ले आता है परन्तु बादमे काँटा-छिलका निकालकर अलग फेक देता है, जितना लेना होता है उतना ले लेना है। अथवा जैसे कोई धानमे-से चावल निकाल लेता है और भूसी छोड़ देता है। ऐसे ही दुःखके सहित सुख आने दो। दुःखको फेक देना और सुखको रख लेना। बड़े मजेमे रहोगे। दुःखके भयसे सुखको भी छोड़ देना उचित नही है :

तस्माद्दुःखभयात् न···सुखं परित्यक्तुमुचितम् । (भामती)

पशु आयेंगे तो उसके डरसे क्या खेती करना बन्द कर दे ?

भिखारीके डरसे क्या रोटी बनाना बन्द कर दें ? यह तो पलायनवाद है।

नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। (भामती)

यदि हम भी मान लें कि चन्दनवनितादिके दृष्ट सुखमे दुःख है, विनाश है इसलिए वे त्याज्य हैं परन्तु परलोकके सुख, स्वर्गादिके सुख तो त्याज्य नही हैं क्योकि शास्त्रके अनुसार वे सुख अविनाशी हैं। उनमे कृतकत्व हेतु नही होनेसे उनके विनाशका अनुमान भी नही हो सकता क्योकि जो कृतक है वह अनित्य है और जो दृष्ट है वह विनाशी है (यत्कृतक तदनित्यम्। यद् दृष्टं तद् नष्टम्।):

अपि च दृष्ट सुखं चन्दनवनितादिसङ्गजन्मक्षयितालक्षणेन दुःखेनाघ्रातत्वादतिभीरुणा त्यज्येतापि, न त्वामुष्मिकम् स्वर्गादि, तस्याविनाशित्वात्। श्रूयते हि 'अपाम सोमममृता अभूम' इति। तथा च 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'। न च कृतकत्वहेतुकम् विनाशित्वानुमानमत्र संभवति। (भामती)

इसलिए ऊपर वर्णित साधनसम्पत्तिका अभाव है। फिर उसके बाद ब्रह्मजिज्ञासा तो होगी ही कैसे ?

तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यभावान्न ब्रह्मजिज्ञासेति प्राप्तम्।

(भामती)

उत्तरपक्ष : संसारमे राग करके कोई सुखी नही हो सकता। अरे ! अपने देहके बचपन, जवानीका राग ही जब नही रह पाता तब दूसरेसे राग कबतक टिकेगा ? **प्रियं त्वां रोत्स्यसि।** जिससे प्रीति करोगे वह तुम्हे रुलायेगा।

हमारे बाबा सुबह चार बजे उठकर भजनसे पहिले ये प्रसिद्ध गीत गाया करते थे :—

प्रीति कर काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों पावक मॉहि दह्यो ॥

(सूरदास)

× × ×

कुसमय मीत काको कौन ?

× × ×

ऐसेहि जन्म समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि सेवक पुरुष विराने ॥

(तुलसीदास)

बाहरका विषय बिछुड़ जायेगा। इन्द्रियाँ असमर्थ हो जायेंगी। मन विमुख हो जायेगा। आत्माका भोक्तृत्व निरन्तर जाग्रत नही रहेगा। परलोक भी कर्मसे बना है इसलिए वह भी नाशवान् है।

पूर्वपक्ष : वेदकी बातमें अनुमान नही चलता; जैसे शंखके भीतरका जल कल्याणकारी होता है—**शं शंकरं ख छिद्रं कल्याणकारि करोतीति शंखम्**—इसके आधारपर अनुमान करो कि मनुष्यकी खोपडी शंखकी तरह होती है इसलिए पवित्र है, तो ऐसा अनुमान नही चलेगा। शंख वेदोक्त पवित्र है, खोपडी वेदोक्त पवित्र नही है। वेदके विरुद्ध अनुमान गलत होता है। इसी प्रकार परलोक अविनाशी है यह वेदोक्त बात गलत नही हो सकती।

उत्तर पक्ष : ऐसा नही है। वेद जो है वह अनुमान सहित श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित करता है कि स्वर्ग भी चाहने योग्य नही है। स्वर्ग चाहे झूठा हो या सच्चा, स्वर्गकी वासना तो वासनावानके हृदयमे ही रहेगी। जो स्वर्ग-नरक नही मानते और स्वर्गकी वासना जिनके हृदयमे नही है वे निर्वासनिक नही

होते। नरक-स्वर्ग मानते हो परन्तु स्वर्गकी वासना न हो तव हृदय निर्वासन होता है। नास्तिक लोग स्वर्ग तो नही चाहते परन्तु पेरिस जाना तो चाहते हैं क्योकि भोगकी वासना तो उनके हृदयमे है ही। तो पहिले इस वातपर विचार करना चाहिए कि स्वर्गकी वासना हृदयमे ही रहती है, फिर चाहे स्वर्ग विनाशी हो या अविनाशी। तदुपरान्त इस श्रुतिपर विचार करना चाहिए :

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

(छान्दोग्य० ८.१.६)

यह अनुमानगर्भित श्रुति वताती है कि जैसे यहाँ कर्मसे वना हुआ घर गिर जाता है वैसे वहाँ भी पुण्यसे वनाया हुआ घर (स्वर्गादि) गिर जाता है। इसलिए स्वर्गादिसे भी वैराग्य होना चाहिए।

वैराग्य होनेपर ही ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिए। जव आप लाख रुपया चाहते है तो दस-पाँच हजार छोडते हो या नही। वड़ेका जव ख्याल करते हो तो छोटेका ख्याल छोडते हो या नही? राष्ट्रीयताके लिए प्रान्तीयता, मानवताके लिए जातीयता, छोड़नी पडती है। महाद्वीपके लिए द्वीपको, ब्रह्माण्डके लिए महाद्वीपको और ईश्वरके लिए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डको छोड़ना पडता है।

तुम स्वामीजीके साथ रहना चाहो और कंजड़िन या वेश्याको साथ रखो! यह नही चल सकता। जो वडेसे मिलना चाहते हैं उन्हे छोटेकी उपेक्षा करनी पड़ती है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसे भी वड़े ब्रह्मविज्ञानको यदि आप चाहते हैं, मानवत्वसे और देवत्वसे भी वडे विज्ञानको यदि आप चाहते है तो नन्हे-मुन्नेकी उपेक्षा आवश्यक है।

कार्य-कारणका विवेक भी अन्यका ही विवेक है। जवतक प्रकाशका विवेक नही होता तवतक ब्रह्मका विवेक नही होगा।

प्रकाश वह जिसकी रोशनीमे 'मैं' और 'यह' दोनो दीखते हैं। 'मैं' का सार वही प्रकाश है। क्योकि हमको ही दोनो दीखते हैं इसलिए हम मै नही है। मै तो अहकार है।

कार्य-कारणका विवेक हल्का-फुल्का है। जीव और ईश्वरकी उपाधिके विवेकका नाम कार्य-कारण विवेक है। उपाधिका विवेक ब्रह्मका विवेक नही है; हाँ उसमे उपयोगी है। इसी प्रकार व्यष्टि-समष्टिका विवेक भी उपाधिका ही विवेक है, तत्त्वका विवेक नही है। सृष्टिकाल, महाकाल, उभय काल, प्रलयकालका विवेक भी कार्य-कारण-विवेक है तत्त्व-विवेक नही है। इसी प्रकार व्यष्टि-देश, समष्टि-देशका विवेक भी तत्त्व-विवेक नही है। ये सब कार्य-कारण विवेक ही हैं।

कहते हैं स्व० श्रीलाला हरदयाल एम० ए० की डिग्री इतनी थी कि दो पन्ने भर जाते थे। अब उन डिग्रियोंमे उनका नाम ही छिप जाता था। तो कार्य, कारण, व्यष्टि, समष्टि, देश, काल, सृष्टि ये सब तो उस प्रकाशात्मा ब्रह्मकी डिग्रियाँ हैं। उनमे ब्रह्मको मत छिपने दो। तत्त्व तो प्रकाश है जिससे यह सब डिग्री मालूम पड़ती हैं। व्याप्य-व्यापकभाव उसमें नही है, व्यापकता उसमें झूठी है; परिच्छिन्नता तो उसमे है ही झूठी और वह अपना आपा है। उसकी जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा है।

तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म-जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधन सम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। (भाष्य)

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन साधनोके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व या उत्तर ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, इनके अभावमें नही। अत. 'अथ' शब्दसे पूर्वोक्त साधन-सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है।

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-२

अतः पद विचार

अतः शब्दो हेत्वर्थ.। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छादोग्य० ८ १ ६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तैत्तिरीय० २ १) इत्यादिः। तस्माद्यथोक्त साधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या। (भाष्य)

अर्थ : ('अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमे) 'अत' शब्द हेतुके अर्थमे है। तद्यथेह० इत्यादि श्रुतियाँ ही श्रेयके साधनभूत अग्निहोत्र आदिका अनित्यफल दिखाती हैं। इसीप्रकार 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानसे ही परमपुरुषार्थकी सिद्धि बताती हैं। इसलिए ऊपर कहे गये साधन-सम्पत्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

'अतः पदका विचार

श्री वाचस्पति मिश्र (भामतीकार)ने कहा कि कोई भीरु मनुष्य लौकिक दुःखके डरसे भले ही सुखको त्याग दे परन्तु पारलौकिक सुखको वह कैसे छोड़ देगा, क्योकि वह तो वेदोक्त है ?

इसी बातको आजकल यो कहना पडेगा कि भले कोई व्यक्ति पारलौकिक सुखको उनमे अनास्था आदिके कारण छोड़ दे परन्तु प्रत्यक्ष सुखको प्राप्त करनेके लिए वह क्यो न तकलीफ उठायेगा ? काल-भेदसे यह अन्तर आ गया है। पहिले दु.खके डरसे यज्ञादिरूप

धर्मको नही छोडते थे, परन्तु आजकल इसका उल्टा हो गया है। चालीस साल पहले लोग झूठी गवाही नही देते थे क्योंकि उन्हे डर था कि झूठ बोलनेसे उनका सब नष्ट हो जायेगा। परन्तु आज लोग कहते है कि झूठ नही बोलेगे तो बेटोको खिलायेगे क्या? यह सब कालकी महिमा है।

मूल अन्तर तब और अबमें यह है कि तब वेदोक्त तथ्यमे तर्क नही था और अब तर्ककी प्रधानता है।

प्रश्न यह है कि तर्क बडा या आगम? बौद्धो और जैनोमे भी आगम होते है और उनमे भी देवता, मन्त्र, पुनर्जन्म, आत्माकी पवित्रता आदि सब मानते है।

अब जहाँ तक प्रत्यक्षका सम्बन्ध है उसमें बालकी खाल निकालनेवाले तर्ककी तो कोई कीमत ही नही है, क्योकि एक बडा तार्किक छोटे तार्किक द्वारा स्थापित किये गये मानोको काट देता है। अदालतमे बड़े-बडे वकीलोकी यही स्थिति है।

महाभारतकारने कहा कि जो भाव अचिन्त्य हैं उनमे तर्क नही लगाना चाहिए :

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।

जो देखी हुई चीज़ है उसमे तर्क होता है, अनदेखोमें नही। व्याकरणमें वाक्यपदीय एक ग्रन्थ है। उसमें कहा है :

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

बडे यत्नसे निश्चय किया तर्कसे कि वस्तु ऐसी है अर्थात् कुशल अनुमाताने बड़े प्रयत्नसे यह सिद्ध किया कि वस्तु ऐसी है परन्तु जहाँ दूसरा बड़ा तार्किक आया कि बात कट गयी। इसीसे भर्तृहरिने कहा :

आविर्भूतप्रकाशानां अनुपद्रुतचेतसाम् ।
अपीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते ॥

जिनके हृदयमे प्रकाश हो गया है, जिनके हृदयमे राग-द्वेष रूपी उपद्रव ऊधम नही मचाते हैं, वे तो भूत-भविष्य-वर्तमान, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-पास सबको प्रत्यक्षके समान देखते हैं।

इसीसे मनुजीने भी धर्मका निर्णय दिया :

आर्षम् धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केण नानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

जो ऋषि-वचन है, वेद-वचन है, उसमें तर्क जरूर करना परन्तु वेदशास्त्राविरोधी तर्क करना। तर्कसे उसका गूढ अभिप्राय निकालना, उसका विरोध मत करना।

जैसे ढोलकमे लगा चाम मन्दिरमें चला जाता है, परन्तु घडीके पट्टेका चाम मन्दिरमे नही जाता (भगवदर्थ और स्वार्थ होनेके नाते), वैसे शखसे अर्घ्य दिया जाता है, मनुष्यकी खोपड़ीसे नही क्योकि शखकी अपवित्रता आगमसे बाधित है। इसी प्रकार पचगव्य आगमसे पवित्र है परन्तु पञ्चाज्य नही।

निष्कर्ष यह कि प्रत्यक्ष और अनुमान-उपमान आदिसे सिद्ध जो पदार्थ अथवा सिद्धान्त हैं उसमें तार्किकको कुशलताका तारतम्य देखनेमें आता ह और जो वेदोक्त पदार्थ या सिद्धान्त हैं उनमें तर्कका नियोजन उनके गूढार्थ-प्रकाशके लिए है, उनके खण्डनके लिए नही। अस्तु।

तो प्रसग यह चल रहा था कि मनुष्य प्रत्यक्ष-सुखका परित्याग तो दुःखके भयसे कर सकता है परन्तु वेदोक्त पारलौकिक सुखका परित्याग कैसे कर सकता है? इसपर यह विचार किया गया है कि प्रत्यक्ष सुखमे तो दु खके अनेक हेतु है कि उनका समूल नाश सभव नही है। ससारमे सुखी होनेके लिए साधनको पर-

तन्त्रता है और इसलिए कोई भी सांसारिक सुख साधनजन्य होनेसे नित्य नही हो सकता। परतन्त्रता और अनित्यता, ये दो ऐसी चोजें है कि वे सुखको कभी नित्य चाहने योग्य नही बनाये रख सकते।

पारलौकिक सुखके सम्बन्धमे भी श्रुतिने सुखका वर्णन तो किया है और देखनेमें वह अक्षय भी लगता है परन्तु दूसरो अनुमानगर्भित श्रुति कहती है कि जो कृतक है वह अनित्य ही होता है। इसलिए संसारके सुखसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी साधन-सामग्रीसे उत्पाद्य सुख है वे चाहे इस लोकके हो या परलोकके, पुरुषार्थसे प्राप्त हो या अनुगृहीत हो, सबके सब अनित्य हैं।

सर्वदर्शन-संग्रहमें पाशुपात-दर्शन वैष्णव-दर्शनपर आक्षेप करता है कि अनुगृहीत सुखमे क्या सुख है, वहाँ तो परतन्त्रता है! आओ हमारे मतमे आओ! यहां तो 'अहं महेश्वरः' है। परन्तु यह वेदान्त-दर्शन नही है।

विवेक यह है कि कर्म और उपासनासे प्राप्त होनेवाले जो लोक है वे क्षयी है और (इनकी) निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली जो स्थिति है वह भी क्षयी है।

धर्मजन्य लौकिक-पारलौकिक सुख अनित्य हैं। अनुग्रहजन्य जो इष्टलोकके सुख है उनमे पराधीनता है। योगजन्य समाधिमें द्रष्टृत्व है। उसमें परिच्छेदकी निवृत्ति नही है। इसलिए ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए, क्योकि जिज्ञास्यब्रह्म न कर्मजन्य है, न अनुग्रहजन्य है, न वह स्वरूप-स्थिति है और न वह परिच्छिन्न है। अर्थात् धर्म, उपासना, योगके साध्यफलसे जो विलक्षण परमानन्दस्वरूप ब्रह्म है, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

इस विलक्षण प्रयोजनकी सिद्धि 'अत.' पदका अर्थ है।

एक छोटा सा प्रश्न : भेद जो भी होगा—जड जडका भेद, जड-चेतनका भेद, चेतन-चेतनका भेद (जीव-जीवका भेद), जीव-ईश्वरका भेद, और ईश्वर-जडका भेद यह पचवा भेद है—यह ज्ञातरूपसे होगा या अज्ञात रूपसे ? अर्थात् भेद ज्ञातत्वेन भासता है या अज्ञातत्वेन भासता है ?

तो भेद तो मालूम ही ज्ञानसे पडेगा। अत भेद, ज्ञात होकर भासता है। देशका भेद, कालका भेद, देश-काल-वस्तुका परस्पर भेद और इनका इनके अभावके साथ भेद सब ज्ञानसे ही भासते हैं। अभेद और भेदका भेद भी ज्ञानसे ही भासेगा। इसलिए ज्ञान भेदगन्धसे शून्य, भेदाभेद और इनके अभावका प्रकाशक अपरिच्छिन्न चिन्मात्र ब्रह्म है।

एक कल्पना है एक ऐसी अवस्थ की जहाँ भेद, अभेद, भेदा-भेद, भेद-विशिष्ट अभेद, और अभेद-विशिष्ट भेद, इन पाँचोका मान नही होता। यह कल्पना ही है, कोरी कल्पना। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि : यह जो भेदाभानमूलक अवस्था है उसकी तुम इस समय याद कर रहे हो या कल्पना कर रहे हो ? या कि तुम्हारा यह अनुभव-ज्ञान है ? यदि कहो कि याद कर रहे हैं तो भूतमे भेदकी लीनावस्थाका ज्ञान तुमने किया था। यदि कहो कि कल्पना कर रहे हैं तो कल्पनामे कोई प्रमाण नही होता। और यदि कहो कि हम यह अनुभव कर रहे हैं तो वर्तमानमे अनुभवस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तुम स्वय हो। भेदका होना या न होना दोनो ज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं।

भेद ज्ञानव्याप्य है। जहाँ-जहाँ भेद होगा वहाँ-वहाँ ज्ञान होगा। भेदका काल ज्ञानका अवान्तर काल है। भेदका देश ज्ञानका अवान्तर देश हैं। भेद वस्तु-ज्ञानमे अवान्तर वस्तु है। इसका अर्थ है कि भेद ज्ञानमे ही रहता है, ज्ञानमे दीखता है, ज्ञानमे पैदा

होता है और ज्ञानमें ही नाशको प्राप्त होता है। भेदकी उम्र ज्ञानमें, भेदका विस्तार ज्ञानमे और भेदका आकार ज्ञानमें। इसका अर्थ है कि ज्ञान ही भेदाकार भासता है। ज्ञान ही भेद-कालके रूपमें, भेद देशके रूपमे भासता है। भेद एक कल्पित देश, कल्पित काल और एक कल्पित आकार है। ज्ञानकी फुरनाका नाम भेद है। भेदमें प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव है, अनेकता है और बाधितता है। भेद ज्ञानसापेक्ष है। भेद जन्य है, भेद प्रध्वंसी है, भेद अनित्य है, भेद बाधित है (अधिष्ठानज्ञानसे)। इसलिए ज्ञानतत्त्वमे भेद-कल्पना करनेवाला अनुभवी पुरुष नही हो सकता।

ब्रह्मजिज्ञासा करनी है न, इसीलिए यह सब कहा। कल्पना ही करो ब्रह्मकी। हमें तो एक महात्माने ऐसा चाँटा मारा कि बस! उन्होने पूछा : 'तुम अपनी माँको माँ मानते हो ?'

'अपने बापको बाप मानते हो ?'

'हाँ'।

'अपनी पत्नीको पत्नी मानते हों ?'

'हाँ'।

'यह सब तुम्हारी कल्पना है या सच्चाई है ? संसारके सब सम्बन्ध कल्पित होते हैं। होते है न ?'

'हाँ। ठीक है।'

'जब यह मान रखा है कि यह मेरी पत्नी है और मै इसका पति हूँ और पुरोहितके कहनेसे तुम पति-पत्नी हो गये, तो गुरुके कहनेसे, वेद-शास्त्रके कहनेसे एक कल्पना और क्यो नही जोड़ लेते कि 'मै अपरिच्छिन्न हूँ'। झूठमूठ कल्पना करो कि मै परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान हूँ।'

मैने कहा : आप झूठका उपदेश करते है क्या ?

वे बोले : करके देखो इस कल्पनाको।

मैने कहा : किया।

वे बोले . 'बताओ क्या दीखता है अब ? क्या तुमको देहके मरनेका दु:ख है ?'

मुझे मानना पडा · अब दु:ख नही है।

हम तो मौतके डरसे भटकते थे। भूखे-प्यासे, नगे पैर, शरीरमे कुर्ता नही, धूपमे महात्माओके पास जाते थे।

अच्छा! अब तुम्हारी मौत कहाँ? तुम्हारा किसीसे वियोग कहाँ? तुम धनी-गरीब कहाँ? तुम सुखी दुःखी कहाँ?

'मै परिच्छिन्न हूँ' यह कल्पना है। इस कल्पनाको छोडो। यह किसी ज्ञान-विज्ञानसे सिद्ध बात नही है कि जीव नामकी कोई वस्तु ब्रह्मसे अलग है! जीवका प्रत्यक्ष नही होता, यह केवल मान्यता है। जहाँ अपने परिच्छिन्नत्वको छोड़ा तो देखना कि न तो मकान टूटने-फूटनेका भय है, न राष्ट्रभङ्गका भय है, न सुखी दु:खीपनेका भय है, न ज्ञान-अज्ञानका भय है, न जाने-आनेका भय है! यह सारा भय तो अपनी परिच्छिन्नताके पाँखपर बैठकर दिखायी देता है। जगत् सत्य है, यह भी तभी है जब मैको परिच्छिन्न कल्पित करके देहमे बैठकरके हम सृष्टिका विचार करते हैं।

अनन्तकी आँखसे देखो तो; न उसमे स्वर्ग है, न नरक, न मृत्युलोक और न इष्टलोक। फिर उन-उन लोकोके सुखोकी तो चर्चा ही क्या? वे सब सुख झूठे हैं।

इस दर्शनका नाम ब्रह्मविज्ञान है। इसी विज्ञानसे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होती है इस बातको **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** जैसी श्रुतियाँ बताती हैं। वह परमपुरुषार्थ जिसमे साधन-साध्यक्रम नही है। जहाँ न आँख बन्द करनी है न आँख खुली रखनेका आग्रह है; जहाँ यज्ञादि करना नही है और किसीके आगे हाथ जोड़ना नही है। करो, न करो, या हाथ जोड़ो या न जोड़ो, आँख

बन्द करो या न करो, जिसमें ये सब बराबर है, ऐसे निर्मर्याद स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति परमपुरुषार्थ है। वह ब्रह्मविज्ञानसे ही मिलती है:

ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्यादि।

ब्रह्मवित् ब्रह्मैवविद् परं पुरुषार्थम् आप्नोति अर्थात् केवल ब्रह्मवेत्ता पुरुषको ही यह परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

अतः शब्दो हेत्वर्थः अतः शब्द हेतुके अर्थमें है। अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासाका प्रयोजन अतः शब्दसे सूचित होता है। परन्तु किसी भी प्रवृत्तिका प्रयोजन तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंमें से किसीकी सिद्धिमें होता है। फिर यहाँ परम पुरुषार्थ-का क्या तात्पर्य है?

पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।

पुरुष जिसकी अर्चना करे, प्रार्थना करे, वह पुरुषार्थ।

भोग पुरुषार्थ नही है क्योंकि रोगके डरसे भोग छूट जाता है। धर्म पुरुषार्थ नही है क्योंकि पण्डित लोग अनधिकारका निर्णय देकर छुड़ा देते हैं। अर्थ पुरुषार्थ नही है क्योंकि पुलिसके भयसे उसे छोड़ देते हैं। तस्कर लोग पुलिसके भयसे माल समुद्रमें फेंक-कर अपनी जान बचाते हैं। मोक्ष अर्थात् छुटकारा मात्र पुरुषार्थ नही है क्योंकि जेलसे छूटनेके बादकी चिन्ताओंसे मुक्ति नही होती। इसलिए केवल दुःखनिवृत्ति मोक्ष-पुरुषार्थ नही होता बल्कि दुःखनिवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थ मोक्ष है।

न्याय-वैशेषिकमें दुःखाभावरूप मोक्ष पुरुषार्थ है। कौटिल्य अर्थशास्त्रमें अर्थको पुरुषार्थ माना है। पूर्व-मीमांसा धर्मको पुरुषार्थ मानती है। वेदान्त दुःखनिवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष पुरुषार्थ मानता है।

परन्तु पुरुषार्थ तो एक ही है—सुख। धर्मसे सुख होता है

इसलिए धर्म पुरुषार्थ है। अर्थसे सुख होता है इसलिए अर्थ पुरुषार्थ है। इसीप्रकार अन्योंके सम्बन्धमे भी समझना चाहिए। परन्तु ये सभी सुख एकसे नही होते। इनके स्वरूपमे अन्तर होता है।

अर्थसे दैहिक सुख होता है, कामसे मानस सुख होता है, धर्मसे बौद्ध सुख होता है और मोक्षसे निवृत्यात्मक सुख होता है।

परन्तु जो धर्माधर्म, अर्थानर्थ, योग-भोग, बन्धन-मुक्ति सबमे है, जो ज्ञानात्मक अधिष्ठान परिपूर्ण है, अखण्ड है वह सुखरूप है, वह ब्रह्मज्ञानैकगम्य है और वही परम पुरुषार्थ है ' **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** ।

ब्रह्मानन्द कैसा होता है ? अपने दिलमें जो सुख होता है वही ज्ञात होनेपर हमारा सुख होता है। दूसरेको सुखी देखकर भी जो सुख होता है वह तभी होता है जब वह सुख हमारे मनमें आता है। इसीसे न्याय-वैशेषिकने सुखका लक्षण यह बनाया कि :

स्वाश्रितसुखापरोक्षं ज्ञानम् ?

अपने अन्त:करणके आश्रित सुखका अपरोक्ष होना सुख है। दूसरेके मनका सुख अपना सुख नही है। यह सुखाकार वृत्तिकी बात हुई। इसीलिए न्याय-वैशेषिकमे दु:खकी निवृत्तिको ही सुख मानते हैं, सुख नामका अलग कोई पदार्थ नही मानते।

अच्छा, कहो कि हम ब्रह्मानन्दका उपभोग करेंगे। भलेमानुष ! यदि मच्छराश्रित सुखसे तुम सुखी नही होते तो ब्रह्मके सुखसे तुम सुखी कैसे होगे ? अपने दिलमे जब सुख फुरफुरायेगा तब तुम सुखी होगे, न स्त्रीसे सुखी होगे, न धनसे।

ब्रह्मका सुख जीवका सुख कैसे होगा ? जीवके अन्त करणमें जब ब्रह्म समायेगा ही नही तब जीवको ब्रह्मका सुख कहाँसे होगा ? हां, यदि ब्रह्म और जीव एक हो जायँ तो जो ब्रह्मका सुख होगा वही जीवका सुख होगा।

प्रश्न—ब्रह्मसुखी है या सुखरूप है ?

न्याय-वैशेषिकमे आत्माको सुखी-दुःखी मानते हैं, यह बिलकुल अनुभवविरुद्ध बात है। क्यो ? सुषुप्तिकालमे दुःख किसीको अनुभव नही होता, परन्तु निर्दुःखतामे जो सुखाभिव्यक्ति है उसका स्मरण जागनेपर होता है। दुःखाभावाकार वृत्तिमें सुखस्वरूप आत्माका जो प्रतिबिम्ब है उस अनुभूतिका स्मरण जाग्रतमें होता है कि 'मै सुषुप्तिमे सुखसे रहा।' माने सुषुप्तिमे सुख होता है परन्तु दुःख नही होता। अतः दुःख आत्माका स्वरूपधर्म कभी हो ही नही सकता।

सुखा भी आत्माका धर्म या गुण नही है, आत्माका स्वरूप है।

इसलिए ब्रह्म सुखस्वरूप है। आत्मा और ब्रह्म एक है। अतः आत्मा भी सुखस्वरूप है।

'मै सुखी हूँ' यह अनुभव नही होगा परन्तु 'मै सुखस्वरूप हूँ' यह अनुभव होगा।

महात्माने कहा : बाबा ! यह वृत्ति बनानेपर क्यों तुले हुए हो कि 'मै सुखी हूँ' या 'मै सुखस्वरूप हूँ' ? सुखका जो आपरोक्ष्य है, ज्ञानस्वरूपता है, इससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है ? स्टेजपर होनेवाले प्रत्येक दृश्यका—जीवन-दृश्यका या मृत्यु-दृश्यका सयोगका या वियोगका, सभीका सुख हम ले रहे हैं। नाटकमें देखनेके सिवाय और क्या सुख है ?'

मदारीने कहा : देखो, जीवन देखो, मृत्यु देखो ! आप देखो तमाशा, बस ! ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें सिनेमाके समान यह जो अध्यस्त प्रपञ्च है उसमें जीवन और मृत्यु, संयोग और वियोग, समाधि और विक्षेप, उपासना और अपासनारूप सम्पूर्ण दृश्य उपलब्ध हो रहे हैं। इस तमाशेको देखनेके अतिरिक्त और क्या सुख हो सकता है ?

हम बेहोश नहीं हैं, हम देख रहे हैं। देखते-देखते कभी बेहोशी हो रही है तो उसको भी देखते हैं। इसलिए देखना और सुख, ज्ञान और सुख, अलग-अलग नहीं हैं। ज्ञान और भेद अलग-अलग नहीं हैं।

जो ब्रह्मविद् होता है वह सृष्टि-कालमें और प्रलय-कालमें और समाधि-कालमें ईश्वर-कालमें, विक्षेप कालमे और अनिश्वर-कालमें—अर्थात् प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकालमे तथा इनके अभाव-काल (ईश्वरकाल)मे, इनका जो उपलब्धा है उसे देखता है और वह उपलब्धिमात्र, ज्ञानमात्र वस्तु है। वही परम् है जिसको ब्रह्मज्ञानी केवल ब्रह्मज्ञानसे ही प्राप्त करता है, जो कभी नहीं छूटता, जिसकी सबको इच्छा भी है क्योंकि वह सुखस्वरूप है और इसलिए वही सबका परम पुरुषार्थ है। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**

परम् = निरपेक्ष। जिस सुखमे देशका बाहर-भीतरका सम्बन्ध नहीं है, जो बाहर-भीतरमे भी है और इनसे परे भी है। जिस-सुखमे कालका आज और कलका सम्बन्ध नहीं है, जो आज और कलमे भी है और इनसे परे भी है। जिस सुखमे जन्म-मरणका सम्बन्ध नहीं है, जो जन्म-मरणमे भी है और इनसे परे भी है। जिस सुखमे कार्य-कारण, द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी द्वन्द्वका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो इनमे भी है और इनसे परे भी है। ऐसा सुख जो देश, काल, वस्तुके सम्बन्धसे रहित है, वृत्तिसे रहित है, कर्मोपासनासे रहित है वह परं सुखं परम ब्रह्म है। उसी अखण्ड स्वसुखका आत्माभेदेन साक्षात्कार होता है। यही **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** है।

ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए क्योंकि वही परम पुरुषार्थ प्रयोजन है जो 'अतः' पदसे सूचित होता है। और यह जिज्ञासा 'अथ' पदसे लक्षित साधन-सम्पत्तिके अनन्तर करना कर्त्तव्य है :

तस्माद् यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या। ●

जिज्ञासाधिकरण-भाष्य (ब्रह्मविचार-भाष्य)-३

ब्रह्म-जिज्ञासा पद विचार

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अतएव न 'ब्रह्म' शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्।

ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्ति० ३.१) इत्याद्याः श्रुतयः तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म (तैत्ति० ३.१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्व दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठी परिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद् ब्राह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनाव-

गन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थं, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्। तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्य जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्था. प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्य आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म।

यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानार्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

जिज्ञासाधिकरणभाष्य •

अर्थ. ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है। जन्माद्यस्य यतः लक्षणवाला ब्रह्म है। अतएव ऐसी आशका नही करनी चाहिए कि ब्रह्म शब्दका जाति आदि कोई अन्य अर्थ है।

'ब्रह्मण'—यह कर्ममे षष्ठी है, शेषमे नही। क्योकि जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है और यहाँ ब्रह्मके सिवा अन्य कोई

जिज्ञास्यका निर्देश नही है। यदि कहो कि शेषमें षष्ठी स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममे जिज्ञासा कर्मत्व विरुद्ध नही है क्योकि सम्बन्ध सामान्य विशेषमे भी रहता है, तो इस प्रकार भी ब्रह्ममे प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर सामान्य-सम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्वकी कल्पना करनेवाले तुमको व्यर्थ ही प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नही है, क्योंकि ब्रह्मके आश्रित सब पदार्थोंके विचार-की प्रतिज्ञाके लिए है, तो यह युक्त नही है, क्योकि प्रधानका ग्रहण होनेपर तदपेक्षित सब पदार्थोंका अर्थतः ग्रहण हो जाता है। ब्रह्म ही ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम होनेसे प्रधान है। जिज्ञासाके कर्म उस प्रधान (ब्रह्म)का परिग्रह हो जानेपर जिन जिज्ञासितोके बिना ब्रह्म जिज्ञासित नही होता, वे तो अर्थत: ग्रहण हो ही जाते हैं, अत: उनको पृथक्से सूत्रमे चर्चा नही करनी चाहिए। जैसे कि 'यह राजा जाता है' ऐसा कहनेपर सपरिवार राजाके गमनका कथन हो जाता है, ऐसे ही यहाँ कथन है। और श्रुतिके अनुगमसे भी कर्ममे षष्ठी है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादि श्रुतियाँ **तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म** (उसको जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है)—इस वाक्यके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे ब्रह्मको ही जिज्ञासाका कर्म दिखलाती हैं। वह कर्ममे षष्ठी माननेसे ही सूत्रसे अनुगत होता है। इसलिए 'ब्रह्मण:' यह कर्ममे षष्ठी है।

जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त ज्ञान सन्प्रत्ययवाच्य इच्छाका कर्म है। क्योकि इच्छा फल-विषयक होती है। ब्रह्म ज्ञानरूप-प्रमाणसे जाननेके योग्य है। ब्रह्मका साक्षात्कार ही पुरुषार्थ है क्योकि उससे नि शेष ससारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। अत ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

वह ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नही होनी चाहिए। यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा हो ही नही सकती। इसपर कहते है कि नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म तो प्रसिद्ध है। 'बृह' धातुके अर्थके अनुगम होनेसे व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्मशब्दसे नित्यत्व, शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं और सबका आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है। 'मै नही हूँ' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सबलोग 'मै नही हूँ' ऐसा अनुभव करते। आत्मा ही ब्रह्म है।

यदि लोकमे ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है तो वह ज्ञात ही है। इस प्रकार पुन ब्रह्मका अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ। ऐसी शंका युक्त नही है क्योकि उसके विशेष ज्ञानमे विप्रतिपत्ति (विवाद) है। जैसे: चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक मानते है। दूसरे चेतन-इन्द्रियोको ही आत्मा कहते हैं। कुछ मनको ही आत्मा मानते हैं। कोई क्षणिक विज्ञानमात्रको आत्मा कहते हैं। किन्हींके मतमे शून्य आत्मा है। अन्य कहते है कि देह आदिसे भिन्न ससारी कर्ता-भोक्ता आत्मा है। कोई मानते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है कर्ता नही है। कोई कहते है कि जीवसे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। वह ईश्वर भोक्ताका आत्मा है, कोई ऐसा मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य तथा उनके आभासोका आश्रय लेकर आत्माके सम्बन्धमे अनेक मतभेद हैं। उन सबका वास्तविक विचार किये बिना जिस किसी मतको प्राप्त करनेवाला मोक्षसे वञ्चित रहेगा और साथ ही अनर्थको प्राप्त होगा। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासाके कथन द्वारा, जिसमे अविरोधी तर्क साधनरूप है, ऐसी मोक्ष-प्रयोजनवाली वेदान्त-वाक्योकी मीमासा प्रस्तुत की जाती है। ●

(८. १.)

'ब्रह्मजिज्ञासा' पद विचार—१

जिज्ञासा किसकी ?

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशंकितव्यम्। (भाष्य)

ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए ? क्योकि ब्रह्मज्ञानसे ही

और केवल ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, दूसरे साधनोसे अपर पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। (तैत्ति० २ १)

वह ब्रह्म स्वयं कैसा है? श्वेताश्वतरकी श्रुति इसका उत्तर देती है।

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
(श्वेता० ३.९)

जिससे परे कुछ नही है और जिससे उरे कुछ नही है, जिससे सूक्ष्म कुछ नही है और जिससे श्रेष्ठ (महान्) कुछ नही है। वह ब्रह्म है। उसका कारण-कार्य कोई दूसरा नही है।

जैसे 'डण्डेवालेने घड़ा फोड़ दिया', इस वाक्यका अर्थ होता है कि डण्डेवालेने डण्डेसे घड़ा फोड़ दिया; इसी प्रकार 'ब्रह्मवेत्ताने परम् पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया'—इसका अर्थ है कि ब्रह्मवेत्ताने ब्रह्मज्ञानसे परम् पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया। ब्रह्मविद् आप्नोति परम्।

'आप्नोति' क्रिया पद है। आत्माकी व्युत्पत्ति है:

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् यः
यच्चास्य सन्ततो भाव...

यः च प्राज्ञरूपेण आप्नोति, तैजसरूपेण आदत्ते, विश्वरूपेण विषयान् अत्ति, च यः तुरीयरूपेण सन्ततो भावः स आत्मा।

यत्सुषुप्तौ घनीभूतान् विषयान् आत्मत्वेन आप्नोति इति आत्मा।

'आप्' धातुसे आप्नोति इति आत्मा। 'अद् भक्षणे' धातुसे अत्ति इति आत्मा। आदत्ते इति आत्मा। 'अत सातत्यगमने' से अतति इति आत्मा।

जो जाग्रत्-अवस्थामे 'विश्व' बनकर विषयोंका भोग करता है,

जो स्वप्नावस्थामें तैजस बनकर स्वप्नके विषयोंको ग्रहण करता है, जो सुषुप्तिमे घनीभूत प्रज्ञाके साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है और जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंमे एक रहता है, वह आत्मा है।

तो यह जो आत्मदेव है जिसको कहा गया **यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्** उनका कोई कार्य नही हैं, उनका कोई कारण नही हैं और न उनसे अलग कोई ईश्वर ही है :

न तस्य कार्यम् । (श्वेता० ६.८)
न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः । (श्वेता० ६ ९)

यह आत्मदेव बिलकुल अकेले है :

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । (श्वेता० ६.८)

न इनका कोई बाप है, न बेटा; न मालिक है, न भाई; न दुश्मन, न मित्र; न इनके पास कोई वैज्ञानिक साधन है। यह स्वयं प्रकाश हैं बस !

आत्माका ऐसा वर्णन है महाराज कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय-मे नही मिलता।

अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् । तदेतत् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म ।

यह आत्मा अपूर्व है और इसके सिवाय कोई दूसरा नही है। अपूर्वम्से कारणका निषेध किया और अनपरम्से कार्यका निषेध किया। 'अपूर्वम्, अनपरम्' दोनोसे आत्मामे कालका निषेध किया गया है। यह आत्मा न भीतर है और न बाहर है। 'अनन्तरं, अबाह्यम्' से आत्मामे देशका निपेध किया। अर्थात् आत्मा देश और कालकी उपाधियोसे विनिर्मुक्त है।

तदेतत् ब्रह्म । जिज्ञासादशायां तत् परोक्षतया ज्ञायमानम्, ज्ञानदशायां एतत् अयमात्मा अपरोक्षं । तत् परोक्षं च अपरोक्षं च ब्रह्म ।

जिज्ञासा दशामे जो परोक्षरूपसे तत्के रूपमे जाना जाता है और ज्ञानदशामे जो अपनी आत्माके रूपमे अपरोक्षतया जाना जाता है, वह एक ब्रह्म ही परोक्ष और अपरोक्षके रूपमे है।

एष आदेशः एष उपदेशः एष उपनिषत्।

यही आदेश है, यही उपदेश है, यही उपनिषद् है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। इदं ब्रह्म, अहं ब्रह्म, उभयं ब्रह्म, अनुभयं ब्रह्म, अनुभयत्वे सति स्वयं ब्रह्म।

इदं ब्रह्म=यह ब्रह्म है, यह उपासक लोग कहते हैं। वृन्दावनमे हम कहते हैं कि भक्ति-दर्शन दृश्य-दर्शन है और वेदान्त द्रष्टृ-दर्शन है। भगवान्का दृश्यरूपमे दर्शन भक्ति है और भगवान्का द्रष्टारूपमे दर्शन वेदान्त है।

जिस समय 'इद' नही दीखता उस समय भी 'अह' रहता है। 'अह' के बिना 'इद'का दर्शन शक्य नही है। वेदान्ती लोग पूछते हैं 'तुम नित्यमे परमात्माका दर्शन चाहते हो या अनित्यमे? अह नित्य है और इद अनित्य।

इदमस्ति, इदं नास्ति, इदं वस्तु जातं अस्ति, इदं वस्तु जातं नास्ति। अस्ति-नास्ति प्रत्ययो. अहं साक्षी।

'यह है, यह नही है' ये अस्ति-नास्ति प्रत्यय हैं। इन दोनो प्रत्ययोका जो साक्षी है वह 'अह' है। इसलिए अह नित्य है।

महात्माओने बताया कि परमात्माको खोजनेके लिए पहिले 'इद' के चक्करमे मत पडो। इसमे एक असम्भावनाकी ओर ध्यान करो। यदि तुम दुनियाके भावाभाव, परिवर्तन और एकताकी खोज करना शुरू कर दो तो तुम्हारी खोज कभी पूरी नही होगी। कितनी तरहके घड़े बनते हैं। अथवा मिट्टीसे कितनी चीजें बनायी जा सकती हैं, इसका कोई पता लगा सकता है? यदि परमात्मा-

को इदं-इदमे ढूंढोगे तो या तो यह कहना पडेगा कि यह केवल इदं-इदं है; तब तो परमात्मा ही नही है क्योंकि वह परमात्मा अलग-अलग हो गया; खण्ड-खण्ड हो गया, परिच्छिन्न हो गया। और या यह कहना पडेगा कि किसी भी एक चीजका हमको ठीक-ठीक ज्ञान नही हो सकता।

गौ-का लक्षण बनाया: जिस पशुके गलेमे ललरी हो: सास्नावत्वं गोत्वम्। तार्किक पूछेगा कि यह लक्षण कैसे बनाया? क्या आपने दुनियाभरके भूत-भविष्य-वर्तमानके सब पशुओंकी परीक्षा कर ली है? यह सम्भव नही है। तब तो गौका लक्षण बन ही नही सकेगा। फिर या तो वेदान्तियोका अनिर्वचनीय-सिद्धान्त मानना पडेगा या जैनियोका स्याद्वाद मानना पड़ेगा। किसी भी वस्तुका लक्षण बनानेके लिए उससे भिन्न सारे पदार्थो-का ज्ञान आवश्यक है। जब इतरसे अलग करके बतावेगे तब तो लक्षण बनेगा?

'इद'के अनुत्पत्ति, उत्पत्ति, नाश, अनेकता, परिवर्तन, इन सबका साक्षी 'अह' है। इसलिए यदि नित्यमे परमात्माको ढूंढना होगा तो अहंमें ढूंढना होगा, इदमें नही। इदं प्रागभाव प्रतियोगी है, इसका प्रध्वंसाभाव है, इसमे अनैक्य है, परिवर्तन है। इसमें सापेक्षता, दृश्यता, विकारिता, जड़ता एवं बाध्यता है। इसलिए परमात्माको इदंमें न ढूंढकरके जिसको इदं मालूम पड़ता है उस अहमे ढूंढो। अहं अपने प्रागभावका प्रतियोगी नही है, इसका प्रध्वंसाभाव नही है, इसमे न अनैक्य है, न परिवर्तन, यह निरपेक्ष सत्ता है, चेतन है, द्रष्टा है, अविकारी और अबाधित सत्य है।

इस प्रकार ब्रह्मका अनुसन्धान कहाँ? इस प्रश्नका उत्तर हुआ कि जिधर नित्यता जाय वहाँ। यह पहिली प्रक्रिया हुई। इदमे

जडके सिवाय कुछ नही मिलेगा और तत्मे कल्पनाके सिवाय कुछ नही मिलेगा। अहमे ही वह मिलेगा जिसका नाम ब्रह्म है।

तब प्रश्न होगा ' कोऽहं ? मै कौन हूँ ? **कथमिदं जातम् ?** यह सब कैसे पैदा हुआ है ? **कोऽस्य कर्ता यदि विद्यते ?** इसका कर्ता यदि है तो कौन है ? इन सब प्रश्नोके उत्तरके लिए ब्रह्म-जिज्ञासा अपेक्षित है।

ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? वह अहताऽवच्छिन्न चेतन है। उसी-को आत्मा बोलते हैं। यह जो अह-अह वृत्ति (प्रत्यय) है वह आत्मा नही है क्योकि अह-प्रत्यय तो अनेक हैं।

. यह इदतावच्छिन्न चेतन क्या है ? अच्छा भाई ! जहाँ 'मैं' फुर रहा है वहाँ 'मैं' के आश्रयके रूपमे साक्षी स्वय-प्रकाश है। और यह जो 'इद'-वाच्य घडी है, इस घड़ीका आश्रय, घडी-देश और घडीका विवर्ती उपादान भी वही है। जिस देशमे अहता है उसी देशमे घडी है. बिना अहके घड़ीका ज्ञान होगा ही नही।

रज्जुमे सर्प कहाँ है ? क्या रज्जु देशमे या जिस अन्तःकरणमें सर्प-भ्रान्ति है वहाँ ? पहिले-पहिल वहाँ था (अन्त करणमे), बादमे कहाँ जायेगा, इससे कोई मतलब नही। ठीक प्रतीतिकालमे वह कहाँ था ? उस समय वह अन्त करणमे है। इसलिए जो अन्त - करणावच्छिन्न चैतन्य होगा वही सर्पावच्छिन्न चैतन्य होगा। जो मनकी आत्मा है वही सर्पकी आत्मा है।

तो अहके द्वारा अहमे प्रकाशित परवत् विश्व है। जो अहम-वच्छिन्न चेतन्य है, वही विश्वावच्छिन्न चेतन्य है। कल्पनावच्छिन्न चैतन्य ही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य होता है क्योकि कल्प्यकी सत्ता कल्पनासे पृथक् देश-काल-आकारमें नही होती। इसलिए तत्-पदार्थ और त्व-पदार्थ अलग-अलग नही होते।

निष्कर्ष यह कि जो अहतावच्छिन्न चैतन्य है वही इदता-

वच्छिन्न चैतन्य है। अहंता और इदंता दोनों चेतन्यके अवच्छेदक है। यदि ये (अहंता-इदंता) स्वय सत्य हों तब तो अवच्छेद सत्य होंगे और यदि ये मिथ्या होंगे तो अवच्छेदोंका द्वित्व भी मिथ्या होगा। स्पष्ट है कि देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमे अहंता और इदंताके दोनो प्रत्यय मिथ्या हैं। इसलिए तत्त्व न अहंता है, न इदंता, न अहंतावच्छिन्न चैतन्य और न इदंतावच्छिन्न चैतन्य। बल्कि अहं-इदंतासे अनवच्छिन्न चेतन जो स्वय-प्रकाश है वह तत्त्व है।

अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्। अवेद्य होकर अपरोक्ष होना, यही तत्त्वका स्वभाव है। इन्द्रियग्राह्य न होकर, साक्षी-ग्राह्यइन्द्रियरूप न होकर (इन्द्रिय न होकर), मन न होकर, मनोग्राह्य न होकर, देश-काल-वस्तुमे न होकर और स्वयं ये न होकर तत्त्व अपनी महिमामें ज्यो-का-त्यो प्रतिष्ठित है! तत्त्व स्वय है। किसमे कौन प्रतिष्ठित होगा ?

ऐसा जो ब्रह्म है उसकी अद्भुत लीला है। लोग कहते है : प्रमाण बताओ। हम पूछते हैं : तुमने जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, जीव, परिच्छिन्न, संसारी माना है वह किस प्रमाणसे माना है ? विचारसे माना है या बिना विचारके माना है ? तुम्हारी वर्तमान मान्यता तो अविचारपूर्ण है। पहिले इसको छोड़ो; फिर हम विचारपूर्ण मान्यता बताते हैं।

किस प्रमाणसे तुमने अपनेको जीव माना है। प्रत्यक्षसे, अनुमानसे, उपमानसे, शब्दसे; किससे ? इसकी एक ही गति है। तुम कहोगे कि हमारे माँ-बापने, जात-बिरादरीने यह बताया है कि तुमको खुदाने बनाया है और उसके हुकुमके अनुसार चलोगे तो बहिश्त मिलेगा और उसके प्रतिकूल चलोगे तो दोजख मिलेगा! जब तुम किसीके वचनको प्रमाण मानकर अपने आपको जीव

मानते हो, तो हम उससे ज्यादा अच्छा वचन तुमको सुनाते हैं जिसमे तुमको जीते-जी·ही ब्रह्म बताया गया है।

यदि कहो कि 'नही जी! हमने तो युक्ति-प्रमाणसे जानकर अपनेको जीव माना है तो आओ; तुम्हारी युक्ति-प्रमाणकी परीक्षा करें, उसे कसौटीपर कसें'।

अरे! तुम्हारे मनमे विना युक्ति–प्रमाणके, अविचारसे, भ्रान्तिसे, अपने जवीत्वकी कल्पना वैठ गयी है।

कभी-कभी आदमी जैसे कल्पना या मनोराज्य करने वैठ जाता है वैसे ही आप मनोराज्य करने लग जाओ: 'मै देश-कालका आश्रय ब्रह्म हूँ।' आप देखना कि आपकी लम्वाई-चौड़ाई कितनी वढ जाती है। आप कल्पना करो: 'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, वाहर-भीतर यह सव जो देश है उसकी कल्पना मनमे है। माने आप आँख वन्द कर लो और पूर्व-पश्चिम आदिकी कल्पना मनमे कर लो। अव कल्पना करो कि यह सव कल्पना है और इस कल्पनाको देखनेवाला, कल्पना और कल्पकसे व्रड़ा मै हूँ। यह ब्रह्मभाव है। वृहत्वाद् ब्रह्म।

अच्छा, कभी आपने कालका आदि-अन्त देखा है? क्या आप लाख कल्पना करके भी कालका आदि-अन्त देख सकते हैं? नही। फिर जिस कालका आपने जन्म ही नही देखा उसको मानते क्यो हैं? कहो, शायद अज्ञातरूपसे जन्म हो गया हो! तव भी कालका आदि कल्पित ही सिद्ध होता है। कहो कि कालका जन्म अमुक सम्वत्मे, अमुक दिनमे, अमुक समयपर हुआ। माने कालका जन्म ज्ञात है। तो यह सम्वत्, दिन, समय भी तो काल है। यह तो कालमे ही कालकी कल्पना हुई। यह पहिले पीछे ही तो काल है। तो कालका आदि और अन्त दोनो कल्पित ही है। इसलिए उसका वर्तमानरूप भी कल्पित ही है।

एक सेकेण्डके आप दो हिस्से कर लो। इनमें एक भूत और एक भविष्य। अब वर्तमान बताओ। आप नहीं बता सकते; बताते-बताते वर्तमान भूत हो जाता है और भविष्य वर्तमान हो जाता है। कालको गणना सब व्यावहारिक है। उसकी निरपेक्ष गणना हो ही नही सकती।

ऐसा यह काल है जिसका आदि, मध्य, अन्त सब कल्पित है! उस कालके आप साक्षी है। आप अपनी उम्रकी कल्पना क्यों मानते हो? कालकी उम्रसे तुम्हारी उम्र ज्यादा होनी चाहिए। तुम्हारा जन्म और मृत्यु भी कल्पित है क्योकि वह काल ही कल्पित है जिसकी गोदमे जन्म और मृत्यु दोनों होते हैं।

आपने अपनी लम्बाई-चौड़ाईकी नाप झूठी मान रखी है, अपनी उम्रकी कल्पना भी झूठी कर रखी है। जब देहमे 'मै' कर लिया तब आपकी लम्बाई–चौड़ाई भी हो गयी, उम्र भी और वजन भी। आपको मालूम है कि सब पञ्चभूतोमे वजन नही होता, परन्तु देहमें वजन होता है। आकाशमें वजन नही होता, पृथ्वी और जलमे वजन होता हैं; वायुके सम्बन्धमे विवाद है। अमुक वातावरणमे हमारा शरीर चला जाय तो कितना वजन होगा! इसी आकाशमे ऐसे वातावरण हैं जिसमें अपना हाथ ही नही उठा सकते, अपना मुँह ही नही खोल सकते। अभिप्राय यह कि वजन भी सापेक्ष और कल्पित है।

अतः देश-काल वस्तु सब कल्पित है, सब सापेक्ष हैं। ब्रह्मज्ञान माने जो झूठी अप्रामाणिक कल्पनाएँ आपने अपने दिलमे बैठा ली हैं उनका उनके अधिष्ठान-प्रकाशकके ऐक्यज्ञानसे बाध। हमलोग तो यहाँतक बोलते है कि झूठी अप्रामाणिक कल्पनाओको यदि अप्रामाणिक ढगसे भी मिटा दिया जाय तब भी मनुष्यका कल्याण सम्भव है। दूसरे शब्दोंमे यदि ब्रह्मत्वकी केवल कल्पना ही कर ली

जाय तो वह भी इस अप्रामाणिक जीव-कल्पनाको निवृत्त करनेमें समर्थ है; फिर जहाँ प्रामाणिक वेदान्तोक्त ढंगसे कल्पना या बोध हो जाय तब तो कहना ही क्या! इसको कैमुतकन्याय बोलते हैं।

अप्यसत् प्राप्यते ध्यानात् नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः।

(पञ्चदशी ध्यानदीप० ११५)

विद्यारण्य स्वामीने पञ्चदशीमे कहा कि जब ध्यानसे असत् वस्तुकी भी प्राप्ति हो सकती है, तब नित्यप्राप्त वस्तुकी भी हो जाय तो कहना ही क्या!

तात्पर्य यह कि अप्रामाणिक कल्पना भी अप्रामाणिक कल्पनाको निवृत्त कर सकती है।

आपसमे सम सत्ता जिनकी। लख साधक बाधकता तिनकी।

(विचार-सागर)।

उदाहरणार्थ सपनेकी प्यास सपनेके पानीसे बुझ जाती है।

यह झूठी मान्यता है कि मै सुखी हूँ, दुःखी हूँ, धनी हूँ, इत्यादि। न तो तुम्हारा धन जेबमे रहता है, न दिमागमें कोई थैली है और न कलेजे मे। यह अभिमान है केवल और यह कल्पित है। जैसे मैं धनी हूँ, मैं कुटुम्बी हूँ, यह कल्पना झूठी है वैसे मै ब्राह्मण हूँ, हिन्दू हूँ, मनुष्य हूँ, जीव हूँ, पापी हूँ, इत्यादि ये सब कल्पनाएँ झूठी है।

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवस्य न विद्यते।

(गौड० कारिका० ४ ७१)

'कोई जीव उत्पन्न नही होता क्योकि उसकी उत्पत्तिकी कोई सम्भावना ही नही है।' अस्तु।

ब्रह्मस्वरूप क्या है? अपने ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमे कौन-सा प्रमाण अपेक्षित है? ये दोनो विचार अपेक्षित है।

भ्रान्तिका हेतु जो प्रमाण हो उसी कक्षाका प्रमाण भ्रान्तिको मिटानेके लिए होना चाहिए। आँखसे तो जीवत्व नही दीखता। तब जिस प्रमाणसे हमको जीवत्व अनुभव होता है उसी प्रमाणसे अपना ब्रह्मत्व अनुभव होगा।

बचपनमे भूत-प्रेतोके छपे हुए फोटो देखते थे। एक बच्चेको हमने कहा : 'बाहर मत जाना; पीपलमें भूत रहता है।' वह बच्चा नही माना, बाहर गया, और लौटकर बताने लगा कि 'मै पीपलमे भूत देखकर आया हूँ।' मैने कहा : अरे भाई, 'नानीके आगे ननिऔरेका बखान' करते हो! हम जानते हैं कि भूत नही होता। हमने तो तुमको डरानेके लिए भूतका वर्णन किया था। अब हमको ही तुम फँसाते हो?

ज्ञानेन्द्रियाँ ब्रह्मको नही बताती, वे खण्डको बताती है—शब्दको, स्पर्शको, रूपको, रसको और गन्धको। फिर यदि ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाणका विषय ही नही बनता तब उसके बारेमे अनुमानकी गम कहाँ? और जब प्रत्यक्ष-अनुमान ही ब्रह्मको नही लखाते तो अन्य प्रमाण—उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इत्यादि उसे कैसे लखा पायेंगे! इस सम्बन्धमे एकमात्र श्रुति ही प्रमाण है। इसलिए हम ब्रह्मजिज्ञासा करते हैं : **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**।

कई उपसाक-प्रकृतिके लोग गड़बड़ा जाते हैं। वे कहते हैं कि : 'हमारा इष्ट बड़ा है, ब्रह्म तो छोटी चीज है।' श्रद्धामें सब ठीक है। हमारा श्रद्धा-भावके खण्डनमे तात्पर्य नही है। हम यह बताते है कि आप वैष्णव हैं तो आप इष्ट-देव और ब्रह्ममे छोटा-बड़ा अपने-आप मानते हैं या अपने आचार्यके अनुसार मानते है?

आचार्योंने अपने भाष्योमे कही यह नही लिखा कि इष्ट बडा है या ब्रह्म। उन्होने तो ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ अपने-अपने हिसाबसे किया है। श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमे कहा

कि यहाँ ब्रह्म शब्द नारायणका वाचक है। श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणु-भाष्यमे ब्रह्म शब्दको पुरुषोत्तमका वाचक बताया है; श्रीरामानन्दाचार्यने अपने आनन्द-भाष्यमे ब्रह्मको रामका वाचक बताया है। श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपने गोविन्द-भाष्यमे ब्रह्मको कृष्णका वाचक बताया है। श्री श्रीकराचार्यने अपने श्रीकण्ठ-भाष्यमे ब्रह्मको शिव-शक्तिका प्रतीक माना है।

यहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'मे ब्रह्म शब्द जिज्ञास्य-परक है; किसीसे बड़ा-छोटा ब्रह्म नही होता। सभी आचार्य श्रुत्यर्थका ही विचार करते हैं। निष्कर्ष यह कि ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुति ही प्रमाण है।

ब्रह्मके स्वरूप और प्रमाणके विचारका प्रयोजन क्या? यह निष्प्रयोजन तो कोई कार्य होता नही। तो **अवगतं सदात्मनि इष्यते**—

जो जाननेके बाद अपनेमे चाहा जाय, अपनेमे मिले वही प्रयोजन है। जान लें कि ब्रह्म सुखस्वरूप है और ब्रह्म आत्मत्वेन ज्ञात हो जाय। इस प्रकार सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, यह प्रयोजन है।

ब्रह्मका साधन क्या? तो ब्रह्म साधन-साध्य नही है क्योकि साधन-साध्य वस्तु अनित्य होती है। ब्रह्म नित्य-प्राप्त है इसलिए उसमे साधनकी अपेक्षा नही है। परन्तु जिस अविद्याके कारण नित्य-प्राप्त ब्रह्ममे अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उस अविद्याकी निवृत्ति के लिए अन्तःकरणमें जो योग्यता उत्पन्न करनी है और विद्या वृत्ति उत्पन्न करनी है, उसके लिए साधन अपेक्षित है:

ब्रह्मजिज्ञासाका फल क्या? अखण्ड, अनन्त स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति; दूसरे शब्दोमे मोक्ष-प्राप्ति। अविद्याकी निवृत्तिरूप जो अन्तःकरणकी स्थिति है उसमे अभिव्यक्त चैतन्य—वह साक्षात्कार है।

जिस गुरुके सान्निध्यसे यह सब ठीक-ठीक ज्ञात हो जाय उस गुरूपसत्तिपर भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा माने ब्रह्म-विषयक सम्पूर्ण विचार—ब्रह्मका स्वरूप, ब्रह्म-सम्बन्धी प्रमाण, ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी, प्रयोजन, साधन, फल, गुरूपसत्ति, वाक्य-विचार, विरोध-परिहार आदि।

ब्रह्म कौन ? इसपर कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रके द्वितीय सूत्रमें **जन्माद्यस्य यतः** जिसका लक्षण किया गया है—ब्रह्म शब्दका जाति-आदि कोई दूसरा अर्थ यहाँ विवक्षित नही है।

ब्रह्म शब्दके कई अर्थ होते है : वेद, ब्राह्मण जाति, परमात्मा और ब्रह्म।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः (कठोपनिषद् १.२.२५)

यहाँ ब्रह्म=ब्राह्मण जाति।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि (गीता ३.१५)

यहां ब्रह्म=वेद है। **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** में ब्रह्म शब्दका अर्थ ब्रह्म है। परन्तु **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**मे ब्रह्म=परमात्मा है।

जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १.१.२)

यह ब्रह्म=परमात्माका लक्षण है। परमात्मा अर्थमें ब्रह्म शब्द वेद-उपनिषदोमें भरा पड़ा है।

जिस ब्रह्मकी जिज्ञासा हम करने जारहे हैं वह 'जन्माद्यस्य यतः' लक्षणवाला है। वही सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन, संहारका हेतु है तथा संहरित होनेपर सृष्टि उसीमे लीन हो जाती है। वह परमात्मा चेतन होनेसे आत्मासे अभिन्न है। **शास्त्रयोनित्वात्**से शास्त्रोंमें उसी ब्रह्मका वर्णन है। ●

(८. २.)

ब्रह्मजिज्ञासा-पद विचार-२

ब्रह्मजिज्ञासा पदके समासपर शास्त्रार्थ

जब दो शब्दोको एक साथ जोडते हैं तो बीचमे प्राय: विभक्ति नही रहती। (कही-कही रहती भी है)। तो प्राय: विभक्तिका लोप हो जानेसे शब्द छोटा हो जाता है और समासकी शक्तिसे अर्थका बोध हो जाता है। तत्पुरुष, बहुव्रीहि, कर्मधारय, द्वन्द्व, द्विगु आदि समासके प्रकार हैं।

तो ब्रह्म-जिज्ञासा पदमे कौन-सा समास है? इस बातको लेकर भाष्यमे शास्त्रार्थ किया गया है। जिज्ञासुके लिए विशेष उपयोगी न होनेके कारण हम सक्षेपमे उसकी व्याख्या करते हैं।

श्रीशकराचार्यसे पूर्ववर्ती कोई वृत्ति है ब्रह्मसूत्रपर जिसमे सम्भवत. ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा, करके अर्थ किया गया है। माने चतुर्थी करके तत्पुरुष-समास किया है ब्रह्मके लिए जिज्ञासा।

यह जीव ब्रह्मके किए है, यह जगत् ब्रह्मके लिए है, यह सब ब्रह्मके प्रति समर्पित है। तब जिज्ञासा भी ब्रह्मके लिए होनी चाहिए।

इस अर्थके समर्थनमे पूर्वमीमांसा शास्त्रपर जो शाबर-भाष्य है उसे उद्धृत करते हैं: **धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा**। अर्थात् धर्मके लिए जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा है। उसीप्रकार ब्रह्मके लिए जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

जैसे गो-सम्मेलनमें **गवां सम्मेलनं गोसम्मेलनम्** अर्थ नही करते क्योकि वहाँ गायोका सम्मेलन नही होता, बल्कि वहाँ **गोभ्यः सम्मेलन गोसम्मेलनम्** अर्थात् गायोके लिए सम्मेलन-यह अर्थ करते हैं। वैसे ही ब्रह्मके लिए जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है।

स्वामी करपात्रीजी महाराजसे किसीने पूछा: आपके धर्म-संघका क्या अर्थ है?

क्या **धर्माणां संघः धर्मसंघः**? अर्थात् जैसे हिन्दुओंका, मुसलमानोका, ईसाइयोका सघ होता है ऐसा धर्मसघ है क्या? बोले नही। **धर्माय संघः धर्मसंघः** अर्थात् धर्म (की रक्षा) के लिए धर्म-संघ है।

भगवान् शंकर कहते हैं कि यहाँ चतुर्थी तत्पुरुष समास नही है, बल्कि षष्ठी तत्पुरुष समास है और कर्ममे षष्ठी है, शेषमे नही:

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे।

(भाष्य)

अर्थात् ब्रह्मके लिए या ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा ऐसा शेषमे नही, बल्कि 'ब्रह्मकी जिज्ञासा' इस प्रकार कर्ममे षष्ठी है। क्योकि जो इच्छा है वह ज्ञानकी है: **ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा**।

परन्तु ज्ञान किसका? ज्ञान सकर्मक है।

जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।
(भाष्य)

जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है और यहाँ ब्रह्मको छोड़कर किसी अन्य जिज्ञास्यका निर्देश नही है ।

यदि कहो कि **षष्ठी शेषे** (शेषमे षष्ठी) करनेसे भी ब्रह्म-जिज्ञासाका अर्थ ब्रह्म और तद्विषयक बातोका विचार अप्रत्यक्ष रूपसे हो जायेगा तो ऐसा नहो। क्योकि प्रत्यक्षको छोड़कर परोक्षकी कल्पना करनेका श्रम क्यो उठाया जाय !

ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् । (भाष्य)

यदि ऐसा कहो कि यह श्रम व्यर्थ नही होगा क्योकि यह ब्रह्माश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञाके लिए हो सकता है तो यह भी ठीक नही है, क्योकि जब प्रधानका ज्ञान हो जायेगा तो गौणका अपने आप हो जायेगा। यहाँ प्रधान जिज्ञास्य ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासामे ब्रह्माश्रित सब पदार्थोंका अपने आप ग्रहण हो जाता है। उसके लिए सूत्रमे अलग चर्चा करनेकी जरूरत नही है।

न व्यर्थं, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत् न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति। तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक् सूत्रयितव्यतानि । (भाष्य)

प्रधानके ग्रहणमे गौणका अपने-आप ग्रहण हो जाता है, इसमे कोई दृष्टान्त है क्या ? तो कहते हैं कि जैसे यह कहा जाय कि

"राजा जा रहा है" तो इसमे राजाके साथ-साथ उसके परिवार-साज-लश्कर सभीका ग्रहण हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा-में ब्रह्मका प्राधान्यतः ग्रहण हो जानेसे तद्विषयक सभी बातोका ग्रहण हो जाता है ।

यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत् । (भाष्य)

अब भगवान् शंकराचार्य कर्ममे षष्ठी करनेके पक्षमें श्रुति-प्रमाण देते हैं, जिससे मालूम पड़ जाय कि वेदान्तकी सारी बाते उपनिषद्के आधारपर चलती हैं । तैत्तिरीयकी श्रुति ब्रह्मका लक्षण करती है : **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म इति ।** जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्तमें जिसमे प्रवेश कर जाते हैं उसीको जाननेकी इच्छा करो । वही ब्रह्म है ।'

इस श्रुतिमें ठीक 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रके लक्षणोवाले ब्रह्मकी जिज्ञासाका स्पष्ट आदेश है । अत. **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** इस सूत्रमे भी वही अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार **ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा** (ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है) । यहाँ कर्ममे षष्ठी ठीक है ।

श्रुत्यनुगमाच्च । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॰ इत्याद्याः श्रुतयः 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासा-कर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगत भवति । तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी । (भाष्य)

ब्रह्मसूत्र उपनिषदर्थका निर्णायक ग्रन्थ है । यह अधिकरण-रचनापूर्वक युक्ति एव मनन-प्रधान ग्रन्थ है । अतः सूत्रार्थका

निर्णय करते समय यह देखना पड़ता है कि सूत्रमे कौन-सा शब्द किस श्रुत्यर्थके अनुकूल है।

उपनिषद्का नाम वेदान्त है। श्रीशंकराचार्यने सात-बातोंका नाम वेदान्तार्थ बताया है। और इन वेदान्तार्थोंके निर्णयमे श्रुति ही प्रमाण है।

१. वेदान्तका अधिकारी : यह पूर्वोक्त 'अथ' पदका अर्थ है। इसमे श्रुति थी · शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षु० इत्यादि।

२ गुरूपसत्ति : तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् : यह श्रुति ब्रह्मको जाननेके लिए गुरुकी शरणमे जानेका निर्देश करती है। जहाँ बुद्धिका अभिमान होगा वहाँ अभिमानकी ही पुष्टि होगी। अभिमान-निरास-पूर्वक अद्वैत तत्त्वका बोध नही होगा।

आपकी बुद्धि काम करती यदि केवल विषयके सम्बन्धमे विचार करना होता या केवल बुद्धिकी परीक्षा करनी होती। बुद्धि और बोध्यकी परीक्षामे बुद्धि चल सकती है। परन्तु बोद्धा-की तलाशमे बुद्धि ज्यादा दूर तक काम नही देती। इस त्रिपुटी-को छोडकर जो है सो ब्रह्म है। इस त्रिपुटीके निषेधके लिए आपको गुरु चाहिए।

घट-पट बदलता है, वृत्ति भी बदलती है और घटज्ञता, पटज्ञताका अभिमान भी बदलता है परन्तु अखण्ड ज्ञानस्वरूप साक्षी एकरस रहता है। साक्षीको अपरिच्छिन्नताका बोध विषय-त्वेन नही होगा क्योकि वह कभी प्रमाताका विषय नही बन सकती। इसलिए अलगसे ही अपनी अपरिच्छिन्नताका बोधक कोई प्रमाण चाहिए।

३. पदार्थद्वय : जीव और ईश्वर। जीव-पदवाच्यार्थ और

ईश्वर-पदवाच्यार्थ। व्यष्टि चैतन्य और समष्टि चैतन्य। वाच्यार्थ-निर्णय श्रुतिके आधारपर ही होना चाहिए।

४. **तदैक्य :** उपाधिसे अलग करके उपहितके लक्ष्यार्थमे एकता। अल्प और महान्‌से अलग करके वह ज्ञप्तिमात्र है। भोग्य और भोक्तासे अलग करके चैतन्य आनन्दमात्र है। यह महावाक्यका अनुसन्धान है।

५. **विरोध-परिहार :** श्रुतियोंमे जहाँ जीव और ईश्वरके भेदका कथन है उनका महावाक्य श्रुतियोसे जो विरोध दीखता है उसका श्रुति, युक्ति, मनन और अनुभवके आधारपर परिहार करना।

६. **साधन :** ब्रह्मज्ञानका साधन क्या है? प्रमाण-प्रमेय विचार। श्रुतियोंमे जो अनेक साधनोंका वर्णन है उनका अधिकारी और साध्यकी दृष्टिसे समन्वय। ब्रह्मजिज्ञासा पदका लक्ष्य; यही साधन-विचार है।

७ **फल :** ससारकी बीज-अविद्याकी निवृत्ति तथा ब्रह्म-प्राप्ति। इसका फल है अखण्ड अनन्त स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति। यह पूर्वोक्त अतः पदका लक्ष्य है।

इसलिए सम्पूर्ण वेदान्तार्थकी जिज्ञासाके लिए 'ब्रह्मजिज्ञासा'-का प्रयोग है। ब्रह्मकी जिज्ञासा करो : तद्विजिज्ञासस्व।

ब्रह्मजिज्ञासा पदमें न शेष-शेषी भाव है और न चतुर्थी है। कर्ममे षष्ठी है। क्योकि जहाँ कृदन्त-प्रत्यय होता है वहाँ कर्ममें षष्ठो होती है :

कर्तृ-कर्मणोकृति कर्मणि च षष्ठी।

इसलिए 'ब्रह्मकी जिज्ञासा' यह अर्थ है। जिज्ञासा ब्रह्मको और वह भी प्रमापर्यन्त। यह ब्रह्मानुभूति ही परम पुरुषार्थ है। ●

(८. ३.)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–३

ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यो ?

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनाव-गन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थं, निःशेषसंसारबीजा-विद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्। (भाष्य)

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा।

जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। जिज्ञासा पद ज्ञा धातुसे 'इच्छा' अर्थमे सन् प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है। इसलिए इच्छा ज्ञानसे उत्पन्न होती है। परन्तु ज्ञानके लिए कोई ज्ञेय होना भी आवश्यक है। अत. ज्ञानका कार्य इच्छा, इच्छाका कर्म ज्ञेय-ज्ञान और (स्वय) ज्ञेय इच्छाका फल। अब यदि ज्ञेय अन्य होगा तो इच्छा-ज्ञान-क्रियाका समुच्चय होकर उस ज्ञेयको भोक्ताके समीप उपस्थित करेगा। और यदि ज्ञेय 'स्व' होगा तो इच्छा और ज्ञान मिलकर, विना कोई क्रियाके ही, 'स्व'की अविद्याको निवृत्त करके यथार्थ 'स्व'का वोध करायेगा। जो 'स्व' है वह ज्ञानस्वरूप है, उसमे इच्छा और ज्ञान औपाधिक हैं।

इसलिए जो ब्रह्म-ज्ञान है वह (सन् प्रत्ययवाच्य) ब्रह्मको जानने-की इच्छाका कर्म है : ज्ञानं सन् वाच्याया इच्छायाः कर्मः। क्योकि

इच्छा सदैव फल-विषयक होती है : **फलविषयत्वात् इच्छायाः।** यदि कहो कि इच्छाका कर्म जो ज्ञान है उसकी अवधि क्या ? तो कहा साक्षात्कारपर्यन्त अवगतिपर्यन्तम् ।

यहाँ इच्छा है ब्रह्मज्ञानकी और फल है ब्रह्म। अतः ब्रह्म-साक्षात्कारपर्यन्त ब्रह्मज्ञानकी इच्छा—यह जिज्ञासा पदका अर्थ है। अथ = अधिकार-सम्पन्नताके अनन्तर; अतः = अविद्या-निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिए; ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्मकी ब्रह्म-साक्षात्कारपर्यन्त जिज्ञासा करते हैं।

ब्रह्म माने क्या ? जैसे समझो कि किसीने घड़ीको जान लिया। दूसरे किसीने चश्माको जान लिया। तीसरेने स्वर्ग, नरक, मृत्यु-लोकको जान लिया। यहाँ ज्ञानमे ज्ञानका विषय बहुत छोटा है। छोटे विषयको जानोगे तो पूर्णका ज्ञान कहाँसे होगा ? श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञान ऐसी वस्तु है जिसके हो जानेपर अज्ञात कुछ नही रहता :

यस्मिन् एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिस एकके जान लेनेपर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।

एक ज्ञान बाहरसे भीतर आता है और एक भीतरसे बाहर निकलता है। परन्तु एक तीसरा ज्ञान और है जो इन दोनोका अटल साक्षी है।

जैसे यह बेला है, यह चमेली है—इस प्रकारका ज्ञान बाहरसे भीतर जाता है और उस-उस ज्ञानके आकारकी वृत्ति बनती है।

यह प्रिय है, यह अप्रिय है—यह ज्ञानसस्कार भीतर भरा है और वह क्रमश· बाहर प्रकट होता है।

साक्षी शुद्ध ज्ञान है।

अब ब्रह्मजिज्ञासामे कौन ज्ञान काम आयेगा ? जितना ज्ञान

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणोंके द्वारा वाहरसे भीतर लिया जाता है–उसमे ब्रह्मज्ञान नही हो सकता; क्योकि वाहर कही ब्रह्म देखनेको मिल नहीं सकता। तो कहो ब्रह्मज्ञान भीतरसे निकालेंगे। परन्तु पहिले भीतर भरा क्या है? ब्रह्मज्ञानकी प्रकृति तो यह है कि वह एकवार आवे तो सारे सस्कारोको नष्ट कर दे। ब्रह्मज्ञान न सस्कार-जन्य है और न सस्कारजनक है।

यह घट-पटादिका ज्ञान कैसा है? इनको पहिले देखा है, देख-कर इनकी पहिचान भीतर भरी है। वादमे तभी तो देखते ही झट कह देते है कि यह अमुक है। उधर प्रिय-अप्रियके सस्कार भीतर है। वे सस्कार जिस आश्रयमे प्रतीत होते है वही प्रिय-अप्रिय हो जाता है। ब्रह्म कैसा है? उसकी पहिचान तुमने देखकर भीतर भरी है या जो भीतर भरी है उसे निकाल रहे हो? जो ऐन्द्रियक ज्ञान होता है वह वाहरसे भीतर और भीतरसे वाहर आता-जाता रहता है। परन्तु जो अनन्त होता है उसमे द्वैत ही नही होता, उसमे मैं-तूका भेद ही नही होता। ऐसी स्थितिमे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेमे क्या चाहिए?

हम ऐसे लोगोको जानते है जो अपनेको कहते हैं · मैं नित्य, अजर, अमर, अविनाशी हूँ। परन्तु आप इस दृष्टिमे जो संकोच है उसपर नजर डालें।

एक परमाणु भी अजर-अमर, अविनाशी-नित्य होता है, क्योकि कालकी धारामे वह नित्य होता है। तो क्या तुम जड-परमाणु हो अथवा स्वय काल हो? यदि परमाणु हो तो भी तुम्हे अभी ब्रह्म-ज्ञान नही हुआ क्योकि परमाणु ब्रह्म नही है, ब्रह्म परमाणुका प्रकाशक है। और यदि काल हो तो भी तुम ब्रह्म नही हो क्योकि काल एक क्रम द्वारा सिद्ध ज्ञेय पदार्थ है और तुम उसके ज्ञाता हो!

एक 'ब्रह्मज्ञानी' अपनेको कहते हैं : मै व्यापक हूँ, माने जो कुछ पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण है वह सब मै ही हूँ। अच्छाजी ! यह जो दिशाओंकी कल्पना है वह तो देहको बीचमें रखकर आयी है। न पूर्वका अन्त देखा न पश्चिमका। तुमने अपनेको केवल दिशा-तत्त्वसे आकाशतत्त्वसे एक किया और पूर्ण मान लिया ! इसमें ब्रह्मज्ञान कहाँ है ?

एक कहते हैं : 'मै सर्वरूप हूँ। मै ही घट हूँ, मै ही पट हूँ, मै ही सर्व हूँ।' अच्छाजी, तुमने सर्वको अपना मै समझा, परन्तु सर्व तो अनेकोका 'कुल' (जोड़, सघात) होता है। वह ब्रह्म नही है, वह तो तुम्हारा ज्ञेय है। तुमने सर्वात्मक सबीज सत्ताको अपना मैं समझ लिया। इसमें ब्रह्मज्ञान नही है।

एकने कहा : 'हम तीनो (देश-काल-वस्तु) को एक करके उसको अपना मै समझते है।' तब तुम प्रकृति हुए ब्रह्म नही।

बोले : 'नही, हम सबके नियन्ता हैं।' ठीक है। तब तुम ईश्वर हो सकते हो, ब्रह्म नही।

'नही-नही, हम सबके द्रष्टा है।' कहा : 'बहुत ठीक ! तब तुम द्रष्टा-दृश्यके विवेकी हुए परन्तु तुम्हारी परिच्छिन्नता तो अभी शेष है। तुम ब्रह्म नही हो।'

आप किसीके बहकानेमे मत आना। ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान बिलकुल अलग चीज है।

कोई कहते हैं कि देहमे अत्यन्त अभिनिवेश होनेके कारण ब्रह्मज्ञान नही होता। मृत्युका भय लगा हुआ है। महात्मा कहते है : 'इस अभिनिवेशको छोड़ो, तुम देह नही हो।' परन्तु उनका आग्रह है कि नही अभी ब्रह्मज्ञान नही हो सकता !

एक कहते हैं : अभी हम रागद्वेषमे फँसे हुए हैं : आओ वैराग्य

करे, तब ब्रह्मज्ञान होगा। मगर भाई मेरे! वैराग्यसे भी ब्रह्मज्ञान नही होगा। दोषदर्शनमूलक रागद्वेषका त्याग ज्ञानका साधन नही है।

अच्छा; ईश्वरकी शरणागतिसे या समाधि लगाकर अस्मिताके त्यागसे ब्रह्मज्ञान होगा? तो इनसे भी ब्रह्मज्ञान नही होगा। द्रष्टा-दृश्य-विवेकसे भी ब्रह्मज्ञान नही होगा।

हम यह समझाना चाहते हैं कि वेदान्त ब्रह्म जिसको कहता है वह क्या है?

देखो, यह जो द्रष्टा है वह सचमुच देश, काल, वस्तु, जीव, ईश्वर, प्रकृति सबसे विलक्षण है। सबसे विलक्षण होकर जब यह अपनेको अजर-अमर, अविनाशी कहता है तो कालसे एक हो जाता है। कालसे एक हो जाता है माने कालाकाराकारित बुद्धिसे एक हो जाता है। जब यह अपनेको व्यापक कहता है तो देशसे अर्थात् देशाकाराकारितबुद्धिसे एक हो जाता है। जब यह अपनेको सर्व कहता है तो द्रव्यसे अर्थात् नामरूपाश्रय सबीज सत्तासे एक हो जाता है। जब प्रकृति कहता है तो उपर्युक्त तीनोसे एक हो जाता है जब ईश्वर कहता है तो इनके नियामकसे एक होता है। ब्रह्म देश, काल, वस्तु, जीव, ईश्वर, प्रकृति, इन सबसे भिन्न तथा इनका प्रकाशक-अधिष्ठान एक अखण्ड सत्ता है।

अब एक विवेकपर ध्यान दें। घड़ा मिट्टी है, यह बात बिलकुल पक्की है। परन्तु घडा ही मिट्टी है, यह बात बिलकुल गलत है। मिट्टी घड़ा भी है और घड़ासे न्यारी भी है। घड़ाके फूटनेपर, न बननेपर और बना रहनेपर भी मिट्टी रहती है। इसलिए यद्यपि घड़ा मिट्टीसे जुदा नही है तथापि मिट्टी घडासे जुदा भी है। कार्यसे कारण न्यारा होता है परन्तु कारणसे कार्य न्यारा नही होता। सोना जेवरसे न्यारा है परन्तु सोनासे

जेवर न्यारा नही है। इसी प्रकार दृश्यसे द्रष्टा न्यारा है, यह विवेक आवश्यक है। घटमें प्रथम 'घ' तदनन्तर 'ट', इस क्रमके रूपमें बहता हुआ काल मौजूद है। यह दाहिना हाथ, यह बायाँ हाथ, इस दाहिने-बायें रूपमे देश मौजूद है। यह देह मैं, यह घट, यह पट इन वस्तुओंके रूपमे पदार्थ मौजूद हैं। परन्तु इन सबका जो जाननेवाला है, द्रष्टा, वह इनसे बिलकुल न्यारा है।

इस द्रष्टाके साथ तीन विपत्तियाँ हैं :

१. बड़ा विवेक करके अलग हुआ यह द्रष्टा फिर कब मिल जायेगा, कोई ठिकाना नही :

वृत्तिसारूप्यमितरत्र (पातंजलि योगदर्शन १.४)

२. द्रष्टा अनेक हैं। दृश्यमे मै-मेरा करके बैठे हुए जीव अनेक हैं।

३ दृश्यको नचानेवाली प्रकृति (या ईश्वर) है और तुम द्रष्टा हो।

जीव अनेक हैं, दृश्य मुझसे भिन्न है और नियन्ता मुझसे भिन्न है। ये तीन भ्रान्तियाँ द्रष्टाके साथ जुड़ी हैं। ये तब छूटेंगी जब द्रष्टा अपने सच्चे स्वरूपको जानेगा। द्रष्टाका सच्चा स्वरूप क्या ? ब्रह्मस्वरूप।

देश, काल, वस्तु, उनका अभिमानी जीव और नियन्ता ईश्वर—ये सब द्रष्टामे बाधित भासमान है और द्रष्टा स्वयं जो अपना आत्मा या स्वरूप है वह अबाधित भासमान है। ब्रह्म-ज्ञानसे ईश्वरतकका बाध हो जाता है (माने मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है) परन्तु द्रष्टाका बाध कभी नही होता, कभी नही हो सकता। 'मै नही हूँ' यह अनुभव कभी किसीको नही हो सकता।

इसी द्रष्टाको ब्रह्म बतानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति है। वेदान्त बताता है कि हमारा आत्मा देशसे न्यारा है (इसलिए छोटा-बडा नही है), कालसे न्यारा है (इसलिए नित्य-अनित्य नही है); सर्वसे न्यारा है (इसलिए चीटी या हाथी नही है); सर्वमे बैठे उनके अभिमानी जीवोंसे न्यारा है और इनका नियन्त्रण करते हुए ईश्वरसे भी न्यारा है। केवल दृङ्मात्र है वह !

आत्मा कालसे न्यारा होनेके कारण काल-रहित अविनाशी है; देशसे न्यारा होनेके कारण व्याप्यरहित व्यापक है; सर्वसे न्यारा होनेके कारण विषयरहित विषयी है। अभिमानसे न्यारा होनेके कारण जीवत्वरहित चैतन्य है; नियन्तासे न्यारा होनेके कारण ईश्वरत्वरहित ईश्वर है। ऐसा जो अकाल, अदेश, अवस्तु, अजीव, ईश्वरेश्वर चैतन्य है वही आत्मा है, वही अपना आपा और वही अद्वितीय ब्रह्म है। यह ज्ञान करानेके लिए ही वेदान्त-की आवश्यकता है।

वेदान्त ऐसी अपूर्व बात बताता है जो समाधि लगानेसे, हाथ जोडनेसे, लोकोमे जानेसे नही आ सकती और इसका इलहाम भी नही हो सकता। इसीलिए ब्रह्मके सम्बन्धमे वेदान्त ही प्रमाण है। यदि ब्रह्मका ज्ञान किसी अन्य साधनसे सम्भव हो या होता तो वेदान्तको प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता ही नही होती। वेदान्त प्रमाण है इसलिए कि वह अनधिगतार्थ बोधकत्व गुण-वाला है। अर्थात् वह ऐसी वस्तु (ब्रह्म) का ज्ञान कराता है जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत है और प्रमाणान्तरसे अबाधित है।

ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म (भाष्य)

ब्रह्म ज्ञानरूप प्रमाणसे जानने योग्य है। **ज्ञानेन प्रमाणेन=वेदान्त वाक्येन।**

यहाँ हि निश्चयार्थमे है।

हम ब्रह्मको जानना चाहते है : **अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म**। परन्तु कसे ? साधनसे ? नही, प्रमाणसे। जैसे हलवाके लिए साधन है सूजी, चीनी, घी इत्यादि परन्तु हलवा बन जानेपर उसके स्वादके ज्ञानके लिए तो रसनेन्द्रिय ही चाहिए (हलवा बना तो साधनसे परन्तु हलवेका ज्ञान हुआ प्रमाण जीभसे); इसकी तुलनामे ब्रह्मके ज्ञानके लिए तो चाहिए वेदान्त-प्रमाण और जैसा कि आप जानते हैं ब्रह्म किसी साधनसे बनता नही। बनेगा तो वह ब्रह्म ही नही होगा। इसलिए ब्रह्म जो वर्तमान है उसको पहिचाननेके लिए ओर मात्र पहिचाननेके लिए ही केवल प्रमाण चाहिए और वह है वेदान्त (श्रुति)।

इष्टम्=जिज्ञास्यम्। यह जो जिज्ञास्य ब्रह्म है वह वेदान्त-वाक्यरूप प्रमाणसे हो जानने योग्य है। ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म।

कई वस्तु ऐसी होती हैं जिनका ओर-छोर, आदि-अन्त इन्द्रियोसे नही मिलता। और इन्द्रियोमे मशीनें भी शामिल है क्योकि वे इन्द्रियोकी शक्तिका ही विकास करती हैं। मशीनें स्वतन्त्र प्रमाण नही है। यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओके आधारके रूपमे फैला हुआ दोर्घविस्तारवान् एक देश नामका पदार्थ है। उसका ओर-छोर इन्द्रियोसे नही मिलता। परन्तु उस 'देश'की कल्पना करके बुद्धिकी जो देशाकाराकारित वृत्तिके साथ तदाकारता है वही देशका साक्षात्कार है। अर्थात् देशका साक्षात् होता है देशकी कल्पनाके आकारसे आकारित बुद्धिके साक्षात्कारसे।

इसी प्रकार कालका आदि-अन्त नही मिलता। परन्तु कालका साक्षात्कार होता है कालको कल्पना (क्रमकी कल्पना) के आकार-से आकारित बुद्धिके साक्षात्कारसे।

अब देखो ! बुद्धिकी कल्पनाको कौन देख रहा है ? मै। बुद्धि-के कल्यको कौन देख रहा है ? मै। यह बुद्धिकी कल्पना किसमें है ? मुझमे। तब यह कल्प्य किसमे हैं ? मुझमे।

जो कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है वही कल्पनाका साक्षी है और वही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य है। जो देशको देख रहा है वह देशसे अतीत है, वह देशका अधिष्ठान है, उसमे देश कल्पित है। जो कालको देख रहा है वह कालसे अतीत है, वह कालका अधिष्ठान है, उसमे काल कल्पित है।

रज्जुमे जो भासमान सर्प है वह रज्जुमे है या अन्त करणमे ? वह अन्त करणमें है। तो अन्तःकरणका जो साक्षी है वही सर्पका साक्षी है। कल्पनात्मक अन्तःकरण और कल्प्यात्मक सर्प—कल्पना कल्प्यका साक्षी अधिष्ठान अपना आत्मा है। ऐसे ही अनादि-अनन्तकालकी कल्पना और कल्प्य कालका साक्षी अपना आपा है। इसका अर्थ है कि कालातीत, कालसाक्षी, कालाधिष्ठान, स्वयं-प्रकाश अपना आत्मा है, उसमे काल कल्पित है। इसी प्रकार देशातीत, देशसाक्षी, देशाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश अपना आत्मा है; उसमे देश कल्पित है। द्रव्यातीत, द्रव्यसाक्षी, द्रव्याधिष्ठान, स्वयं-प्रकाश अपना आत्मा है; उसमें द्रव्य और सर्व कल्पित हैं। तब तो देश-काल-द्रव्यका संघात भी आत्मामे कल्पित है और इनके अभि-मानी और नियता भी आत्मामे कल्पित हैं। यही आत्मा ब्रह्म है।

द्रव्य, सर्व, जीव, प्रकृति और ईश्वर—ये सब साक्षीभास्य हैं। अर्थात् ये तत्तदाकाराकारित बुद्धि वृत्तिके रूपमे ही जाने जाते है निरपेक्षतया नही। इसलिए जो बुद्धिका साक्षी है उसीके वे भास्य हैं। परन्तु जो साक्षी है वह इनसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म हैं। यह बात वेदान्तसे जाननी है।

वेदान्तमे भी सब वाक्य एक कोटिके प्रमाण नही हैं। कोई

भी परिच्छेद-बोधक प्रमाण या परिच्छिन्नता-बोधक प्रमाण ब्रह्ममें प्रमाण नही हो सकता। केवल महावाक्य ही ब्रह्मके अधिगममे प्रमाण हैं। यह प्रमाण-प्रमेयका विचार प्रमाणको सिद्ध करनेके लिए नही होता, प्रमाणके खण्डनके लिए ही विचार करते हैं।

एक महात्मा थे। वे स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, इष्टलोक, समाधिकी खूब कथा करते थे। दूसरे महात्माने कहा: यह क्या गड़बड़ बोलते हो। वे बोले: 'हम लोक-लोकान्तरकी कथा उनकी सिद्धि-के लिए नही करते; अपितु निषेधके लिए करते हैं। **नेति-नेतिमे** इतिका व्याख्यान भी तो जरूरी है।'

लोग तर्क करते हैं कि पहिले प्रमाण या प्रमेय? पहिले नेत्र या रूप? तो प्रमाण और प्रमेय दो है। एकसे दूसरेका लक्षण होता है: चक्षु क्या? रूप-ग्राहक इन्द्रियका नाम चक्षु है। और रूप क्या? चक्षुसे ग्राह्य गुणका नाम रूप है। इस प्रकार दो-की स्वतन्त्र सत्ता माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होगा।

ब्रह्म प्रमाणजन्य नही होता, वह तो प्रमाण-प्रमेय-प्रमाताकी त्रिपुटीका प्रकाशक है। परन्तु ब्रह्म सम्बन्धी अविद्या और तज्जन्य भ्रान्ति ज्ञानरूप प्रमाणसे नष्ट हो जाती है। **ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म।**

यहाँतक यह बात हुई कि जिज्ञासा नाम है जाननेकी इच्छाका, किसको जाननेकी इच्छा? ब्रह्मको। ब्रह्मको कैसे जानेंगे? ज्ञान-रूप प्रमाण द्वारा। परन्तु ब्रह्मको जानें क्यो? इसपर कहते हैं:
ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।

(भाष्य)

यह जो ब्रह्मकी अवगति; ब्रह्मका साक्षात्कार है, यही पुरुषार्थ है। क्योंकि उससे निःशेष संसारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंको निवृत्ति होती है।

ब्रह्मावगतिः अर्थात् आत्माकी ब्रह्मरूपताका अनुभव। वेदान्तका पाण्डित्य ब्रह्मावगतिः नही होता।

काशीमे गोयन्दका सस्कृत-विद्यालयके प्रिंसिपल थे : श्रीचण्डी प्रसाद शुक्ल। वेदान्तके उद्भट विद्वान् थे वह। उन्होने 'खण्डन खण्ड खाद्य' को हिन्दोमे अनूदित करनेका साहस किया है। मैं साहस ही कहता हूँ क्योंकि उस ग्रथमे प्रयुक्त सस्कृत शब्दोके समान हिन्दीमे शब्द ही दुर्लभ हैं। वे एक बार श्री उड़िया बाबाजी महाराजके पास आये थे। वे कहते थे : 'महाराज, हमलोग तो शास्त्रकी परम्पराकी रक्षाके लिए शास्त्रका अध्ययन-अध्यापन करते हैं। अनुभव हमारे पास कहाँ ?

काशीमे ही एक पण्डितजी विश्वविद्यालयमें सस्कृत-विभागके अध्यक्ष थे। वे पूर्वाश्रमके सम्बन्धी भी होते है। उनका जमाई मर गया। मैं उनके पास गया। वे रोकर बोले : 'स्वामीजी, मैं केवल वेदान्त पढाता हूँ। मुझे आत्मानुभव नही है। मुझे आप शोकके उसपार पहुँचा दीजिये।'

जब दिग्गजोकी यह हालत है तो अन्योकी तो बात ही क्या! वेदान्त अपौरुपेय है और वही अपौरुषेय ज्ञान कराता है।

घडीका ज्ञान पौरुपेय ज्ञान है; यह पुरुषप्रयत्न-जन्य है। अन्तःकरणकी वृत्ति जब प्रमाण द्वारा प्रमेयाकार होती है तब प्रमेय (घड़ी)का ज्ञान होता है। परन्तु 'मैं हूँ' यह ज्ञान पुरुष-प्रयत्न-जन्य नही है। अर्थात् आत्माकी अस्तिका ज्ञान अपौरुपेय है।

अब जो इस अपौरुपेय ज्ञानको लखादे उस शब्दराशिको भी अपौरुपेय कहते हैं। इस अर्थमे वेद अपौरुषेय हैं। वेद ईश्वरसे उत्पन्न हैं या किसी सिद्धसे उत्पन्न हैं, इस अर्थमे वेद अपौरुषेय नही कहे जाते। अजन्य ज्ञानके साक्षात्कारमे हेतु होनेसे वेद अपौरुपेय हैं। इसमे न भ्रम है, न प्रमाद, न विप्रलिप्सा, न

करणापाटव। स्वरूपभूत ज्ञानमें अपनेको दूसरा माननेका भ्रम नही है; अपना कभी बाध नही हो सकता इसलिए प्रमाद नही; आपा अद्वितीय है इसलिए उसमें ठगाई कहाँ? और स्वरूपज्ञान करणजन्य नही इसलिए उसमें करणापाटव नही। इसी ज्ञानको वेद बताता है: **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**। यह अविनाशी ज्ञान है, अविनाशी सत् नही है। यह ज्ञानस्वरूप अविनाशी है। सत्य तो जड भी होता है। यह ज्ञान सत् है और ज्ञान है और दोनों दो नही हैं क्योंकि यह अनन्त है।

इसलिए ब्रह्मावगतिःके माने हैं ब्रह्मकी अपौरुषेय ज्ञानके रूपमे साक्षात् अनुभूति। यह ब्रह्मावगति निश्चयरूपसे पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ है माने यह बड़े मतलबकी चीज है। इस ज्ञानसे सारा प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

जैसे दुःखसे त्राण पाना चाहते हैं वैसे असत्यसे, अज्ञानसे भी त्राण पानेको छटपटाना चाहिए।

असत्यमेवदुःखम् अज्ञानमेव दुःखम्।

असत्य ही दुःख है, अज्ञान ही दु:ख है। यह जितना भी असत्याचरण है वह दु.खका ही पूर्वरूप है। इतना ही नही, यह नानात्व भी दु ख है क्योकि नानात्व असत्य है, अज्ञानजन्य है। इस असत्य, अज्ञानसे त्राण पाना पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थं पुरुषका अर्थ, पुरुषके मतलबकी चीज, पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिका साधन।

पुरुषै. अर्थ्यते इति पुरुषार्थं.।

जीव जिसको चाहे वह पुरुषार्थ है। जीव और मनुष्यमे भी अन्तर है। मनुष्य कभी रहता है कभी नही रहता परन्तु जीव अनादि और नित्य प्रवाही है।

अवगतं सति आत्मनि सति। जिसको जाननेके बाद अपनेसे जुदा न कर सकें वह पुरुषार्थ है। दुनियाके लोग तो पुरुषार्थ जानते ही नही। वे जिसे पुरुषार्थ कहते हैं वह पुरुषार्थ नही है।

वस्तु चाहिए और भोग चाहिए और उनको भोगनेकी शक्ति एवं स्वतन्त्रता चाहिए। परन्तु इष्ट और भोग मनुष्यको उच्छृङ्खल भी बना देते हैं। अत. उनके नियमनकी आवश्यकता होती है। यह नियामक धर्म है। परन्तु नियन्त्रित भोग जीवनका पुरुषार्थ नही है। इससे मुक्तिकी भी इच्छा होती है। अतः धर्म, भोग, अर्थ और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ सबके लिए हैं। इनमे शक्ति साधन है पुरुषार्थ नही है। सिद्धि अथवा सफलता भी पुरुषार्थ नही है। जीवनके किसी क्रमको यदि पुरुषार्थ मान लेंगे तो आगे चलनेकी आवश्यकता ही कहाँ रहेगी!

देहकी कक्षामे द्रव्य (अर्थ) पुरुषार्थ है। मानस-कक्षामे भोग (काम) पुरुषार्थ है। वुद्धिकी कक्षामे धर्म पुरुषार्थ है और आत्माकी कक्षामें मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्षका सम्बन्ध तुरीयके साथ है। धर्म नियन्ता होनेसे ईश्वरकोटिका है। काम हिरण्यगर्भकी कोटिका और अर्थ विश्व-विराट्की कोटिका है।

हमारे कर्ममे (इन्द्रियोमें) जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम धर्म है।

हमारे काममें (मनमें) जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम प्रेम है।

हमारी वुद्धिमे जो ईश्वरका अवतरण है उसका नाम योग है।

ईश्वरका जो स्वयं अपना स्वरूप है, (कर्म, काम, वुद्धिसे रहित) वह ज्ञान है। वही अखण्ड सत्ता ब्रह्म है।

अतीन्द्रिय पदार्थ देश-कालादिका अनुभव कैसे होता है इसको पहिले वता चुके हैं। इसका अनुभव तदाकार वुद्धि-वृत्तिके रूपमें

होता है। छोटे-छोटे देश-काल-वस्तुके आकारोंके साथ तादात्म्य हुआ तो जीव हो गये। और सम्पूर्ण देश-काल-द्रव्यके साथ तादात्म्य हुआ तो ईश्वर हो गये। यदि तादात्म्यापन्न नही हुए तो द्रष्टा हो गये। वेदान्तसे जान लिया कि यह द्रष्टा ब्रह्म है।

एक दिन स्वामी प्रवुद्धानन्दजीसे वात चली। वे कहते है कि : मै अविनाशी हूँ इसमे कालके साथ तादात्म्य है; मै व्यापक हूँ, इसमे सर्वोपादानसे तादात्म्य है। इस प्रकार वृत्ति तो सभी अव-स्थाओमे रहेगी फिर वृत्तिका वाध कैसे होगा? इसका उत्तर है कि जो वृत्तिका प्रकाशक द्रष्टा आत्मा है वह जब अपनेको अद्वय ब्रह्माकार वृत्तिके साथ तादात्म्य करेगा, तब उस वृत्तिका विपय और आश्रय महावाक्य द्वारा एक हो जानेपर वृत्ति बाधित हो जायेगी। आत्मा और ब्रह्मकी एकता हुए बिना वृत्तिका वाध नही हो सकता। इसलिए ब्रह्मात्मैक्य वोधके द्वारा वृत्तिका बाध हो जानेपर साधन समाप्त हो जाता है। 'मै अविनाशी हूँ' इसमें विषयकालका आश्रय मैं-के साथ एकता नही होनेसे वृत्ति बाधित नही होगी। इसी प्रकार देश और द्रव्यके सम्बन्धमे समझना चाहिए।

देशकाल द्रव्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो ब्रह्मतत्त्व है उससे जब आत्माका अभेद होता है तब वृत्ति बाधित हो जाती है। तब देशमे गमनागमन नही होता, कालमे जन्म-मरण नही होता और द्रव्यमे योनि-परिवर्तन नही होता : इसलिए इस अनिर्व-चनीय अनादि अविद्यामूलक प्रपञ्चके बखेडेसे छूटनेके लिए परम-पुरुपार्थ यही है कि ब्रह्मज्ञान हो।

ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।

जीवका सब झगडो—बखेड़ोसे छूटनेका प्रयोजन है—मुक्ति या मोक्ष। और अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मोक्ष है।

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वोपलक्षिता।

तो ब्रह्मात्मैक्य-बोधको ही परमपुरुषार्थ क्यो मानते हो? क्योंकि इसीसे ससारके बीज और अनर्थोंकी जड़ अविद्याकी निःशेष निवृत्ति होती है, किसी अन्य साधनसे नही।

कालके साथ, देशके साथ, सबीज सत्ताके साथ तादात्म्य करनेपर भी अविद्याका निर्बीज निबर्हणन नही होता। परन्तु जो वृत्तिका आश्रय है वह, और जो वृत्तिमे ये कल्पनाएँ आती हैं उनके अभावसे उपलक्षित अद्वय ब्रह्म, उनका जो एकत्वबोध है उसमे वृत्तिका ही बाध है। उसके बाद कोई ज्ञातव्य, प्राप्तव्य, भोक्तव्य शेष नही रहता। अतः ब्रह्मात्मैक्य-बोध ही परम पुरुषार्थ है।

निःशेष ससारका जो बीज है अविद्या और अविद्याका जो कार्य है वही सब अनर्थोंकी जड़ है। अविद्या रहते अपनी देश-कल्पनासे उत्पन्न गमनागमनरूप भ्रम, काल-कल्पनासे उत्पन्न जन्म-मरणरूप भ्रम और द्रव्य-कल्पनासे उत्पन्न योनि-परिवर्तनरूप भ्रम नही छूटेगा। इसलिए इन समस्त देश-काल-द्रव्यकी कल्पनाओमे जो भी आकार, विकार, प्रकार, सस्कार और कल्पनाएँ हैं उन सबका अत्यन्त उच्छेद ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे ही होगा।

अविद्याकी निवृत्ति होनेपर इस ऐक्य-बोधकी भी आवश्यकता नही रहती। ब्रह्मात्मैक्य-बोध अविद्याका निवर्तक है। अद्वय ब्रह्म तो स्वत. सिद्ध अपना स्वरूप है। इसलिए उसको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।

तस्माद् ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम् (भाष्य)

ब्रह्मकी विजिज्ञासा करनी चाहिए, वह विजिज्ञासा करने योग्य है। क्यो? क्योकि 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषससारबीजा-विद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।'

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्वयमे पुरुषार्थ नही है, सुखका साधन होनेसे ये पुरुषार्थ है : अतः वास्तवमे तो सुख ही मात्र पुरुषार्थ हैं और वह पुरुषका अपना स्वरूप है। परन्तु अविद्यावश वह सुख आवृत है। ब्रह्मज्ञान उस अविद्यावरणको नष्ट कर देता है और स्वरूपभूत सुख जो कभी कही किसीसे वाधित नही होता प्रकट हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान परम पुरुषार्थ है।

यह जीव ही जब बहिर्मुख हो जाता है तो बीज हो जाता है। जीवका उल्टा बीज है। वेदमे वकारान्त और वकारान्त दोनो प्रयोग है। असलमे जीवमे बहिर्मुखता ही बीज है। आत्मज्ञानकी ओर उन्मुख न होकर यह जो बहिर्विषय-ज्ञानकी ओर उन्मुखता है वही ससारका बीज है।

अपने आपको जाना नही और ससारभरको जाना। किसी महात्मासे एक सज्जनने पूछा : महाराज, ईश्वर कैसा ?

महात्मा : तुम कैसे हो ?

वे सज्जन : नही जानते।

महात्मा : पहिले छोटेको, अपने आपको, जानो। सबका ज्ञान अपना ज्ञान नही होता। अपनेको न जानकर जो कुछ भी जाना जायेगा वह सब अज्ञानपूर्वक होगा चाहे वह कर्म हो या उपासना या योग! अपनी औकात जानते नही, चले हो करोड़पतिकी लड़कीसे ब्याह करने! पहिले अपने खजानेको टटोल लो। ऐसा तो नही कि तुम वास्तवमे लक्ष्मीपति ही हो और व्यर्थमे दूसरोसे भीख माँग रहे हो—अपमान ले रहे हो!

जब आप अपनेको यथार्थमे जान जायगे तो आप पायेगे कि स्वर्ग आपकी कल्पनामे है, उपासनाका फल आपके दिलमे है और समाधि तो भीतर नित्य लगी है। तुम्हारा एक शरीरके कर्म, उपासना और योगके साथ सम्बन्ध नही है और समष्टिके कर्म-

उपसना योगके साथ भी तुम सम्बन्धित नही हो। केवल अज्ञानसे, अविद्यासे तुम अपनेको बद्ध, कगाल, मरणधर्मा, ससरणशील और सुखी दु खी मानते हो। अपनेको ऐसा मानकर ही तुममे राग-द्वेष, अभिनिवेश घर कर गये है।

अब ब्रह्मज्ञानका प्रयोजन है कि तुम्हारी अविद्या-निवृत्तिपूर्वक राग द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति। इसलिए ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करो, ब्रह्मकी जिज्ञासा करो।

तस्माद् ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम्।

यह ब्रह्मज्ञान ही परमपुरुषार्थ है। **ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः।**

पुरुषार्थ माने जिसकी पुरुष चाहना करे, और पुरुष माने होता है जीवमात्र, उसमे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोका और स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग-भेदका भेद नही है। तो क्या सब ब्रह्मज्ञान चाहते हैं?

कोई वस्तु तुम्हे प्राप्त होगी तो ज्ञानरूपसे होगी या अज्ञात-रूपसे? वस्तु मिल जाय और ज्ञात न हो—मालूम न पडे, तो क्या वस्तु मिली कही जायेगी। किसीका ब्याह हो जाय और मालूम न पडे, तो क्या उसका ब्याह हुआ? रुपया बैंकमे आपके खातेमे जमा हो जाय और आपको मालूम न पड़े तो क्या रुपया मिला? किसी भी चीजका मिलना दरअसल तब होता है जब वह मिली हुई मालूम पडे। ज्ञानके बिना प्राप्ति कुछ नही होती। ज्ञानके विना कोई स्वाद नही, ज्ञानके बिना कोई शब्द नही, कोई स्पर्श नही, कोई रूप नही, कोई गन्ध नही। गर्ज कि ज्ञानके बिना कोई कैसी भी प्राप्ति नही है। इष्ट-दर्शन भी ज्ञानके विना कुछ नही होता। तुम्हारे सामने श्रीकृष्ण भगवान् मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर साक्षात् दर्शन दें परन्तु तुम्हे उसका ज्ञान न हो, तो क्या वह दर्शन होगा?

नही। पाप-पुण्य भी ज्ञानके बिना नही होता। आपकी जेबमे-से पाँच रुपये गिर जाँय, तो क्या आपको उन पाँच रुपयोके दानका पुण्य होगा? और अनजानमे आपका किसी अपवित्र वस्तुसे स्पर्श हो जाय तो क्या उसका पाप आपको लगेगा? यहाँतक कि समाधि भी ज्ञात हुए बिना निस्तत्त्व है। इस प्रकार कोई भी पुरुषार्थ ज्ञानके बिना सिद्ध नही होता। तब ज्ञान (अवगति) ही पुरुषार्थ है।

अपने आपेका ज्ञान होना चाहिए, ठीक है। वह तो सबको है ही: हम हैं, यह मामूली ज्ञान है उससे काम नही चलता। वह पुरुषार्थ नही है। उनके साथ जो गैर-मामूली चीजे लग गयी हैं जैसे: हम देह है, हम पापी हैं, हम पुण्यात्मा है, हमारी अमुक जाति है, अमुक सम्प्रदाय, अमुक धर्म है, हमारी पूँछ है— ये सब बाहरकी चीजें जो हमारे साथ जुड गयी है, वे हमारे वास्तविक ज्ञान-स्वरूपको ढँके हुए हैं। इस आविद्यक ढक्कनको उतार फेंककर अपने ज्ञानस्वरूपताको देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्म जानना, यह पुरुषार्थ है।

आप वास्तवमे अपनी ब्रह्मस्वरूपताको ही चाहते है परन्तु पहिचानते नही है। आप एक जगह रहकर भी व्यापक होना चाहते है। आप सोचते है कि जहाँ आप नही है वहाँ आपका नाम पहुँच जाये। आपकी कीर्ति बहुत दिन तक रहे। माने आप कालसे कटना-पिटना पसद नही करते। आप चाहते हैं कि बहुत लोग आपको जानें। माने आप सर्व होना चाहते है। अभिप्राय यह कि दर असल आप देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूपता चाहते हैं, आप अपनी ब्रह्मरूपताका अनुभव चाहते है, भले ही आप इसको साक्षात् न जानते हो। इसलिए ब्रह्मावगति ही मनुष्यका पुरुषार्थ है।

आप चाहते है कि सुख मिले, दुःख न हो। सुख भी आप ऐसा चाहते हैं जो हमेशा मिले, हर जगह मिले, हर एकसे मिले, विना परिश्रम किये मिले और मालूम पड़ता हुआ मिले (सुषुप्तिके अज्ञात सुखकी तरह नही)। अर्थात् आप देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न आत्मनिष्ठ ज्ञात सुख मिले, यह चाहते है। दूसरे शब्दोमे आप अपनी ब्रह्मरूपता चाहते है।

परन्तु आपने किया क्या ? जो चीज एक समयमे, एक देशमे और हरएकके लिए अलग-अलग सुख है और जो सुख वास्तवमे अन्यसे उत्पन्न होनेके कारण जड है उसको आप अपना सुख कह रहे हो! मरनेवाली, जानेवाली, बदलनेवाली चीजको आप मान बैठते हैं कि यह हमारा सुख है! परन्तु भाई मेरे! वह मरेगी तो दुःख देगी, बिछुडेगी तो दुःख देगी, प्रतिकूल होगी तो दुःख देगी। दूर जायेगी तो दुःख देगी, उसके मिलनेमे देर होगी तो दुःख देगी, पूरी न मिलेगी तो दुःख देगी, मनके अनुसार न चली तो दुःख देगी, मरेगी तो दुःख देगी। गर्ज कि परिच्छिन्न वस्तुकी प्राप्ति पुरुषार्थ नही हो सकती।

ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः का दूसरा मतलब भी है। पहिला मतलब था कि ज्ञान और वह भी आत्माकी ब्रह्मरूपताका मनुष्य-का पुरुषार्थ है। अब दूसरा मतलब यह कि ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ नही हैं।

यह ठीक है कि पशु धर्मानुष्ठान नही कर सकते, मनुष्य ही कर सकते है, परन्तु फिर तो मनुष्य जिन्दगीभर एकादशी ही करता रहे, अग्नि ही तापता रहे, अग्निमे होम ही करता रहे, दान ही करता रहे। असलमे धर्म पुरुषार्थ है ही नही; धर्मजन्य सुख पुरुषार्थ है। हमेशा सुख ही पुरुषार्थ होता है। सुखके साधन-को लाक्षणिक ढगसे पुरुषार्थ कहा जाता है। धर्मसे जो सुख

होता है वह मुख्य पुरुषार्थ है। उस सुखका साधन धर्म गौण पुरुषार्थ है।

इसी प्रकार हम अर्थ अर्थात् रुपया नही चाहते, बल्कि अर्थ-जन्य सुख चाहते हैं। यह मकान, यह वैभव, यह बंगला, कार, सब अर्थसे ही प्राप्त होते हैं। परन्तु ये वस्तुएँ सब सुखके लिए है। अतः यहाँ भी अर्थ नही अर्थजन्य सुख पुरुषार्थ है।

कलकत्तेमे हम टकसाल देखने गये। वहाँ देखा : रुपयेके पैसे माँगो तो तौलकर पैसे देते हैं। वहाँके कर्मचारियोके चारो ओर पैसों-रुपयोंका ढेर रहता है परन्तु वे कितने असंतुष्ट रहते हैं क्योकि उस धनराशिपर उनका आधिपत्य नही है। इसलिए सुख अर्थमे नही है हाँ उसके आधिपत्य और उससे प्राप्त सुविधाओं में ऐन्द्रियक तथा अभिमानजन्य सुख होता है।

असलमे जो आत्मनिष्ठ सुख है वह सुख पुरुषार्थ हैं। पति-पत्नी मारपीट करके भी भोग करते हैं और भोग करके भी मार-पीट करते हैं। इसलिए भोग स्वय सुख नही है। क्योकि भोग करते हुए भी सुख नही है। अतः भोग नही, भोगजन्य सुख पुरुषार्थ है।

अब रहा मोक्ष। जिसको धर्म, अर्थ, काम—इन तीनोसे संतोष नहीं हुआ, जो तीनोके बन्धनसे छूटना चाहता है, वह छूटना मोक्ष पुरुषार्थ है। परन्तु वास्तवमे तो उस छूटनेसे जो सुख होगा वह पुरुषार्थ है।

अब देखा, यदि धर्म, अर्थ और काममे दुःख न होता तो इनसे छूटनेकी इच्छा ही क्यो होती? काममे आग जलती हैं हृदयमे, अर्थके अभिमानमे दुनियाके लोग तुच्छ मालूम पड़ते है और धर्मा-भिमानमे दूसरे लोग पापी दिखायी पडते हैं! फिर मनुष्य क्यो न इनसे छुटकारा चाहे।

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नही, इनसे उत्पन्न सुख पुरुषार्थ है। सुख सदैव आत्मनिष्ठ और ज्ञानाभिन्न होता है। वह स्वरूप-सुख वास्तवमे ब्रह्मसुख है, यह ज्ञान ही अतएव परम-पुरुषार्थ है। यह 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थं'का तात्पर्य हे।

अब प्रश्न यह है कि यदि सुख आत्मनिष्ठ ही है तो सुख मिलता क्यो नही, दु ख ही क्यों मिलता है? इसका उत्तर यह है कि हमने अपने आपको इतना छोटा कर लिया है कि प्रत्येक कदमपर अभाव अनुभव करते हैं—हमारे पास यह नही है, हमारे पास वह नही है। सिनेमा देखकर यह अभाव-वृत्ति ही तो साथ लाते हो। सिनेमा देखकर अभाव, वासना और दु.खसृष्टिका बीज, बस यही साथ आता है। जब आप अपनेको ब्रह्म अनुभव करेंगे तब आप दु.खसे मुक्त हो जायेंगे।

आपको मरनेका दु ख है क्योकि आप अपनेको देह मानते हो। आपको वासनाका दु ख है क्योकि आप अपनेको मन मानते हैं। आपको भूख-प्यासका दु ख है क्योकि आप अपनेको प्राण मानते हो। अपनेको परिच्छिन्न माननेसे हो मनुष्य दु खकी लपेटमे आता है। आपका मैं कहाँ है? सपनेमे अपनेको किसीका दोस्त, किसीका दुश्मन मानते हो और सुखी दु खी होते हो लेकिन वहाँ न दोस्त होता है, न दुश्मन। ऐसी यह मनोवृत्ति है। अभिमान ही दु.ख देता है।

दु ख माने क्या? अपनेको देह माननेके कारण मरनेके डरका दु ख होता है। किसीसे मुहब्बत करनेके बाद उसके मिलनेका दु ख दु ख है। दुश्मनीके बाद जलनका नाम दु.ख है अपने अभि-मानपर चोट लगनेके कारण मान-अपमान होनेसे दुःख है। आप दुनियाकी असलियतको ठीक-ठीक समझते नही हैं; इस नासमझी-का नाम दु ख है। परिच्छिन्नता दु.ख है, राग-द्वेष दु ख हैं।

यदि आप अपने आपको ठीक-ठीक जान जायेंगे तो सबका फल मिल जायेगा। धर्मका फल है अपने आपको जानना। अर्थका फल है अपने आपको जानना। कामका फल है अपने आपको जानना। क्योंकि धर्मजन्य सुख, अर्थजन्य सुख, भोगजन्य सुख आत्मसुख है। कर्ममे सुख नही, कर्म-फलकी प्राप्तिरूप निष्कर्मतामें सुख है। भोगमें सुख नही, वासनाकी शान्तिमें सुख है। बन्धनमें सुख नही, मुक्तिमें सुख है।

तो पुरुषार्थ क्या है? ब्रह्मावगति अर्थात् अपनी ब्रह्मताका ठीक ठीक ज्ञान।

पलटू हम मरते नहीं साधो करो विचार।

ब्रह्म माने जो जन्म-मृत्युरूप कालके चक्रमे नही फँसता; जो बाहर-भीतर-रूप देशके चक्रमे नही फँसता; जो मनुष्य पशु, पक्षी, स्त्री पुरुषादि शरीरोके चक्करमे नही फँसता। ऐसे ब्रह्मको जो सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओके कार्य और कारण दोनो रूपोका अधिष्ठान है और जो अपने आत्मासे जुदा नही है, जाननेसे क्या होगा? तो इसपर कहते हैं कि निःशेष ससारके बीज अविद्या और उससे उत्पन्न सम्पूर्ण अनर्थोकी निवृत्ति हो जायेगी।

निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्।

दुनियाके जितने दुःख हैं उनका बीज है अविद्या—नासमझी; अपने आत्माके ब्रह्मरूपकी अविद्या। जैसे आमके पेडके पत्ते, फूल, फल, तने, शाखाएँ सब उसके बजमे-से ही निकलते हैं उसी प्रकार ससारके सारे दुःखोका बीज है अविद्या। जब कभी आप दुःखी हो रहे होते है तब कही-न-कही नासमझी आपके जीवनमे रही होती है।

नासमझी और उल्टी समझमे अन्तर है। वस्तुको न जानना नासमझी है; इसीको अविद्या कहते हैं, और वस्तुको ठीक-ठीक न

जाननेके कारण उसे दूसरी वस्तु समझ लेना उल्टी समझ है। उल्टी समझको भ्रान्ति भी कहते हैं। रस्सीको न जानना अविद्या है और उसे सर्प समझना भ्रान्ति है। यह प्रसंग पहिले आ चुका है।

यदि आप अपने दुःखोकी छांट करो कि आपके जीवनमें वास्तविक दु:ख कितने हैं और मानसिक कितने हैं तो आप देखेंगे कि ९९% प्रतिशत दु ख मानसिक निकलेंगे। दु ख आपके मनकी कमजोरी है। इस समय नही है दु:ख, इस जगह नही है दु:ख. इस शरीरमे नही है दुःख, परन्तु हम दु खी होते हैं! बेटेकी बीमारीका दु:ख ऐसा ही है। आपके शरीरमे भी दुःख नही होता, मनमे ही होता है। वरना इन्जेक्शनसे, दवासे, दर्दका अनुभव बन्द क्यो हो जाता ? नीदकी दवा मनको हो अनमना कर देती है मनको ही सुला देती है। सुला देनेसे जो दु:ख छूट जाता है वह मनका दु:ख है।

असलमे सुख दु खका विवेक न करनेके कारण हो, असली-नकली दुःखोंकी पहिचान न कर पानेके कारण ही आप दुःखो रहते हैं। अरे बापरे! अगले साल क्या खायेंगे ? पूँजी घटती जा रही है! घट रही है तो कल बढ भी सकती है। और न भी बढे तो क्या दुनियामे पूँजीके विना लोग नही रहते ? क्या पूँजी-विहोनोके पास शरीर, मन, वुद्धि, आत्मा नही है ? मगर दुनियामे अविद्याका बोलबाला है। गांवके कुएँमे ही भाँग पड़ गयी है।

तो नारायण! तुम ब्रह्म हो! ब्रह्मावगति माने सर्वात्मबोध।

श्रीविद्यारण्य स्वामीसे किसीने कहा : स्वामीजी, ब्रह्मलोक चलोगे ?

स्वामीजी : अरे बावरे! ब्रह्मलोकमे मै ही ब्रह्म होकर सृष्टि कर रहा हूँ।

वह : अच्छा स्वामीजी ! आपको विजयनगरका बादशाह बना दे ?

स्वामीजो : अरे ! मै ही तो बादशाह बना बैठा हूँ ।

वह : स्वामीजी ! जब सब ब्रह्म है तो क्या आप रक्त पी सकते हैं ?

स्वामीजी : हाँ, इसीके लिए मैने मच्छरका शरीर धारण किया है ।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मावगति अथवा सर्वात्मबोध, यही जीवका परम पुरुषार्थ है ।

'मै ही दिशा बनकर सबको अवकाश देता हूँ। मै ही काल बनकर सबको बदलता हूँ। मै ही द्रव्य होकर सर्वरूप होता हूँ। मैं ही सबके अभावमे रहता हूँ। मै सबसे न्यारा हूँ और मुझसे भिन्न, मेरे सिवाय, कोई दूसरी वस्तु नही है।' यह ब्रह्मावगति हैं।

ज्ञानकी यह चरम अनुभूति है और इसके अभावमें सारे दुःखों-का बीज है । इसलिए ऐसे ज्ञानकी जिज्ञासा करनी चाहिए :

तस्मात् ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम् ।

यह मत समझना कि जिन्दगी भर—बचपनसे बुढापे तक—ब्रह्मज्ञानके लिए भटकना पड़ेगा ! ऐसा मत समझना कि ज्ञानके पश्चात् आप बाबाजी हो जायेंगे । भगवान् रामको विश्वामित्रने, वसिष्ठने ज्ञान दिया और उसके बाद रामने विवाह भी किया । अर्जुनको भगवान् कृष्णने एक घण्टेमे ब्रह्मज्ञान दिया और उसके बाद उसने महाभारतका युद्ध किया । इसलिए आप डरना नही । ब्रह्मज्ञानको कठिन मत समझना । ब्रह्मकी जिज्ञासा करो । तुम्हे अवश्य परम शान्ति मिलेगी, परमानन्द होगा । आपके सारे दुःख मिट जायेंगे । •

(८.४)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार–४

ब्रह्मके जिज्ञास्य स्वरूपपर आक्षेप तथा उसका समाधान

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् ?

यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथ अप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। (भाष्य)

इससे पूर्व भगवान् भाष्यकारने कहा : **तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।** अर्थात् 'इसलिए ब्रह्मकी विजिज्ञासा करनी चाहिए।' वादी तुरन्त प्रश्न करता कि क्या ब्रह्म विजिज्ञास्य है भी जो उसकी जिज्ञासा की जाय ? इसी वातको लक्ष्य करके वह कहता है **तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा ?** अर्थात् पहिले यह बताओ कि तुम्हारा ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ?

इस प्रश्नका मन्तव्य प्रकट करते हैं कि · यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नही करनी चाहिए, क्योकि जिस वस्तुको सब जानते ही हैं उसकी जिज्ञासा करनेसे लाभ क्या ? और यदि कहो कि ब्रह्म अप्रसिद्ध है अर्थात् उसे कोई जानता ही नही तो उसकी जिज्ञासा की ही नही जा सकती, क्योकि अत्यन्त अप्रसिद्ध वस्तु जिज्ञासाका विषय नही हो सकती।

प्रश्नकी इस शैलीको जरा समझो। बोलनेका भी एक ढग होता है। भाषाकी भी अपनी एक प्रकृति होती है। उसको समझे विना ठीक अर्थ समझनेमे नही आता।

सीधा प्रश्न है कि ब्रह्म किसी दूसरे प्रमाणसे सिद्ध होता है या नही ? माने नाकसे, कानसे, आँखसे, ब्रह्मको देख सकते है या नही ? यदि ब्रह्म आँखसे देखा जाय तो उसकी जिज्ञासा करनेकी क्या जरूरत है ? और यदि ब्रह्म किसी भी इन्द्रियसे बिलकुल ही देखा न जाता हो तो उसकी जिज्ञासा क्या करेगे ?

मतलब यह कि प्रश्न है : ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए कौन सा प्रमाण है ?—आँख, कान, जीभ, त्वचा या नाक ? या ज्ञानेन्द्रियो द्वारा सस्कारित मन ? या ज्ञानेन्द्रियोंके ही द्वारा अन्वय-व्यतिरेक करके विचार करनेवाली बुद्धि ? या सारी वृत्तियोको ठप्प करके समाधिस्थ चित्त ? आखिर ब्रह्मका साक्षात्कार किस प्रमाणसे होता है ?

असलमें साधक साधन-सङ्कर हो गया है, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य वर्णसङ्कर होता है । किसीने कहा : 'चुप बैठ जाओ तो ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायेगा।' किसीने कहा : 'आमुकका ध्यान करो, अमुकका नाम जपो, अमुक जगह ध्यान करो, कानमे रूई ठूँसो, त्रिकुटीमे ध्यान लगाओ' । ब्रह्मज्ञान क्या हुआ, कोई तमाशा हो गया । बाबा ! ब्रह्मकी अवगति अपने एक ढगसे होती है ।

पहली बात यह कि जो चीज देखी जायेगी वह ब्रह्म ही नही होगी, क्योकि देखनेवाला तो उससे न्यारा ही रह गया । जबतक देखनेवाला अपने आत्माके रूपमें ही ब्रह्मको नही देखेगा, तब वह ब्रह्म ही नही होगा ।

एक बच्चेने कहा : आज हम स्वामीजीके पास गये थे । उन्होने हमे ब्रह्मज्ञान करा दिया । पूछा : ब्रह्मज्ञान हुआ बेटा ? तो बोला : 'उन्होने मुझे पालथी मरवायी, पीठ सीधी करके बैठाया, आँखें बन्द करवायी और पूछा कि क्या दीखता है ? मैने कहा : 'कुछ नही

दीखता। इसपर उन्होने वताया कि 'यह कुछ नही दीखना ही ब्रह्म है।'

सचमुच बहुत सारे जिज्ञासु भी उस बच्चेसे ज्यादा वुद्धिमान् नही होते। आप लोग वुरा मत मानना। माफ करना भाई। पहिलेसे ही माफी माँग लेते हैं।

ब्रह्म उस ज्ञानको कहते हैं जिसमें देश-काल-वस्तु, इनका प्रकाशक छोटा चैतन्य (जीव-चैतन्य), इनका नियामक वड़ा चैतन्य (ईश्वर चैतन्य), इनका बीज और इनका अङ्कुर यह कोई भेद न हो। भेद ज्ञानका विषय होता है; भेदमात्र ही भाव्य होता है—यह नियम है। ज्ञानका ज्ञान नही होता। इसलिए ऐसी ब्रह्मवस्तुका ज्ञान न मनसे हो सकता है न इन्द्रियोसे, न वुद्धि-से हो सकता है, न समाधिसे या शान्त होकर चुप वैठनेसे, किसी भी साधनसे ब्रह्मज्ञान नही हो सकता (सिवाय वेदान्त-विचारके) और यदि हो सकता हो तो वेदान्तका विचार व्यर्थ है। वेदान्तियो-की यह प्रतिज्ञा है कि आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान वेदान्तके सिवाय किसी अन्य साधनसे सम्भव नही है और यदि सम्भव हो जाय तो हम अभी वेदान्तको नष्ट करनेके लिए तैयार हैं।

अच्छा, अव प्रश्नको दूसरे ढगसे रखते है।

यदि वेदान्तो (श्रुतियों)मे ब्रह्मका स्पष्ट वर्णन है तो वेदान्त-को वाँच जानेसे ब्रह्मज्ञान हो जायेगा या नही? यदि हाँ, तो जिज्ञासा करनेकी क्या जरूरत है? दो पैसेका 'तत्त्ववोध' और दो आनेका 'आत्मवोध' खरीद लो वाजारसे और वाँच जाओ। ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। और यदि नही तो जिज्ञासा ही नही हो सकती। जिज्ञासा (इच्छा)का यह नियम है कि वह जानी हुई चीजके वारेमे होती है। ज्ञातके सम्वन्धमे ही इच्छा होती है, अज्ञातके सम्वन्धमे नही।

तो प्रश्न यह है कि ज्ञानको (ब्रह्मको) जानकर ज्ञानको चाहते हो या ज्ञानको बिना जाने ज्ञानको चाहते हो ? इस प्रकार प्रश्नमें दोनो ओरसे गलेमे फांसी है।

केवल वेदान्तसे ही ब्रह्मज्ञान कैसे सम्भव है ? अन्य साधनोसे जैसे धर्मानुष्ठान, उपासना, योग या विवेकसे क्यो नही ? यद्यपि इसका विवेचन पहिले भी कर चुके हैं तथापि उपयोगी होनेके नाते संक्षेपसे फिर विचार दोहराते हैं।

"मै देह हूँ'—यह भ्रम है। परन्तु यह भ्रम सीधा नही होता, इसके वच्चे-कच्चे होते हैं। जैसे 'मैं मनुष्य हूँ, मैं संन्यासी हूँ' इत्यादि। ये सब देहाभिमानके बच्चे हैं। 'मैं देह हूँ' या इससे आगे बढे तो 'मैं नर हूँ।' जो अपनेको केवल मनुष्य मानते है वे पुनर्जन्म नही मानते और जो मनुष्यके अतिरिक्त अपनेको जीव भी मानते हैं वे लोक-परलोकका सम्बन्ध एवं पुनर्जन्मको भी मानते हैं। कोई अपनेको द्रष्टा मानते है जो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके पीछे बैठा देखा करता है, परन्तु जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अपने अधिष्ठानमें कल्पित हैं, ये मिथ्या हैं, यह उनको ज्ञात नही है तथा दूसरा द्रष्टा नही है, यह भी उन्हे ज्ञात नही है। साथ ही अवस्थाओका कोई नियन्ता नही है; यह ज्ञान भी उनको नही है।

तो 'मै देह हूँ' या 'मै जीव हूँ'—यह वृत्ति जो हमारे अन्तः-करणमे बैठी हुई है, उसका निवारण कैसे हो ? यदि इसका निवा-रण नही होगा तो मुक्ति तो हो नही सकती। निवारण करनेवाली चीज चाहिए।

यदि कहो कि 'यह ब्रह्म है' या 'वह ब्रह्म है' तो भी इससे 'मैं जीव हूँ' इस वृत्तिका निवारण तो होगा नही। यदि कहो कि 'मै जीव नही हूँ' इस अभ्याससे मुक्ति हो जायेगी तो इससे भी 'मै जीव नही हूँ, इस वृत्तिवाला मै हूँ', इस जीवत्वकी निवृत्ति कैसे

होगी ? आप ध्यानपूर्वक अपने आपका आत्मनिरीक्षण करो। आप एकान्तमे बैठ सकते हो, वृत्तियोको इदमाकार या तदाकार कर सकते हो, भगवदाकार भी कर सकते हो या बिलकुल निरुद्ध कर सकते हो, परन्तु इससे आपकी जीवत्वकी निवृत्ति नही हो सकती। सुषुप्तिमे जब कोई वृत्ति नही रहती तो क्या आप अपनेको ब्रह्म जान जाते है या आपके जीवत्वका निवारण हो जाता है ?

चोट यह है कि मै देह हूँ या मै जीव हूँ या मै दूसरोसे अलग द्रष्टा हूँ, ये सब परिच्छिन्नताएँ हैं आपको। यह जो परिच्छिन्नाभिमान है उसका निवारण क्या सुषुप्तिसे, समाधिसे हो जायेगा ? अपनेको सबसे न्यारा जाननेसे हो जायेगा ? जबतक अपनेको अद्वितीय ब्रह्म नही जानेगे, जिसमे जीव, जगत् और ईश्वर तथा इन तीनोका भेद बाधित है, तबतक आपके जीवत्वकी निवृत्ति नही होगी। जिस अधिष्ठानके ज्ञानसे यह जीव-जगत्-ईश्वरका भेद बाधित नही होता, उस अधिष्ठानके ज्ञानसे तुम्हारे जीवत्वको निवृत्ति नही हो सकती। 'मैं जीव हूँ' इस भ्रमको निवृत्त करनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान है।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानकी एक पहिचान बता दें ! यदि आपको किसी वृत्तिकी आवश्यकता पडती है—हमारी ब्रह्माकार-वृत्ति बनी रहे, आत्माकार-वृत्ति बनी रहे, शान्ति बनी रहे—तो वह वृत्ति तो अन्त करणकी है, उसके साथ तुम्हारा तादात्म्य बना हुआ है। तब आपको ब्रह्मज्ञान अभी नही हुआ।

बोले : अच्छा 'हम द्रष्टा हैं' हमे वृत्तिकी आवश्यकता नही है। अब तो हमे ब्रह्मज्ञान हो गया ? नही। आपकी दृष्टिमे वृत्ति सत्य है या मिथ्या ? बोले · वृत्ति द्रष्टामे टिकती नही। तो वृत्ति तो न तुम्हारे साथ टिकेगी, न किसी औरके साथ। यह नही कि वृत्तिका व्याह किसी औरके साथ कर दो तो टिक जाय। ऐसी शोख

लड़को है यह कि दूसरेके साथ ब्याह दो तो छोड़कर बापके घर भाग आये और पिता यदि अपने पास रखना चाहे तो दूसरेके साथ भाग जाती है।

जबतक तुम्हे अपने अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान नही होगा, यह वृत्ति बाधित नही होगी। 'मै अविनाशी हूँ' सोचते रहो; कालमे फँसे रहोगे। 'मै परिपूर्ण हूँ' सोचते रहो; देशमे फँसे रहोगे। जब तुम इन वृत्तियोको छोड़ दोगे तो तुम खण्ड हो जाओगे, विनाशो हो जाओगे। 'मै ब्रह्म हूँ' यह जो बोध है, इसमे एकबार ब्रह्माकार-वृत्ति अपेक्षित है। इसमे वृत्तिके आश्रयने वृत्तिके विषय ब्रह्मको आत्मरूपसे जाना अर्थात् वृत्तिको ब्रह्माकारितासे उपलक्षित विषय ब्रह्म तथा उसके अभावसे उपलक्षित आश्रय आत्मा दोनोका ऐक्य जानना अपेक्षित है। फिर आपके पास वृत्ति रहे या न रहे। जबतक तुम किसी स्थितिमे टिकना चाहते हो तबतक तुम अपनेको परिच्छिन्न जानते हो, जीव जानते हो। तुम्हारे जीवत्वका भ्रम अभी मिटा नही है।

इसलिए कोई धर्म, कोई उपासना, कोई समाधि, सुषुप्ति या व्रत, कोई एकान्तवास तुम्हारे इस भ्रमको मिटानेमे समर्थ नही है कि 'मै जीव हूँ।' केवल तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य प्रज्ञामें ही वह सामर्थ्य है।

गुरुने कहा : ऐ शिष्य, वह तू है—**तत्त्वमसि**। तुहारे अन्तःकरणके भावाभावसे उपलक्षित साक्षो जो प्रत्यक् चैतन्य प्रज्ञान है वह तुम ब्रह्म हो—**प्रज्ञानं ब्रह्म**।

शिष्यने सोचा : ऐ! क्या यह अहमर्थ आत्मा ब्रह्म है—**अयमात्मा ब्रह्म**?

और सोचनेके बाद निर्णय हुआ : हाँ! यह आत्मा ही ब्रह्म है। हाँ, हाँ, मै ही ब्रह्म हूँ—**अहं ब्रह्मास्मि**।

महावाक्योकी एक सगति बतायी आपको। वैसे चारो महा-वाक्योका एक ही लक्ष्यार्थ है :

मैं सबसे न्यारा हूँ, सबका द्रष्टा हूँ, यह भी एक प्रकारकी परिच्छिन्नता ही है।

'यह ब्रह्म है' इससे मैंकी परिच्छिन्नता नही कटेगी। जिसके विषयमे ज्ञान होगा उसकी परिच्छिन्नता कटेगी। इसी प्रकार 'वह ब्रह्म है' इससे भी परिच्छिन्नता नही कटेगी। यदि वह' परिच्छिन्नता नही है तो इस ज्ञानसे हमारा क्या बना-विगड़ा? 'मैं अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे भ्रम निवृत्त होता है—यह वेदान्तका ढिण्डिम घोष है।

तुमको ईश्वर मिल सकता है, तुमको समाधि लग सकती है, तुम सृष्टिके कर्ता, धर्ता, संहर्ता बन सकते हो परन्तु यह अद्वितीय आत्म-बोध वेदान्तके बिना नही हो सकता। पहिले सबका त्याग करके अपने स्वरूपमे आ जाओ, फिर वेदान्त कहेगा कि तुम्हारा काम न्यारे रहना है, सुषुप्ति, समाधिमे बैठनेका नही है। तुम तो अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म हो। अस्तु।

वादीका प्रश्न यह था कि तत्पुनर्ब्रह्मप्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्? वह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? अप्रसिद्ध अर्थात् नितान्त अज्ञातके प्रति जिज्ञासा हो नही सकती और प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञातके प्रति जिज्ञासा निरर्थक है; ज्ञानमे निवर्तकत्व भी नही होता। इसलिए ब्रह्मकी जिज्ञासा नही हो सकती।

श्रुति और सूत्रमे (ब्रह्मसूत्रमे) ब्रह्मशब्दका प्रयोग किस अर्थमे है? सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—इस श्रुतिमे अनन्तके साथ ब्रह्मशब्दका प्रयोग है। अत' ब्रह्मशब्दका अर्थ मूलतः 'निरतिशय बड़ा' अर्थमे है। व्याकरणके अनुसार बृहि वृद्धौ धातु पाठ है। वृद्धि धातुसे निरतिशय महान् अर्थमे ब्रह्मशब्द निष्पन्न हुआ है।

वृहत्त्वाद्बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते (भामती)

वृद्धिका कारण होनेसे और वृहत् होनेसे आत्मा ही ब्रह्म कहा जाता है।

पाणिनिने भी अपने व्याकरणका प्रारम्भ किया तो वृद्धिसे ही।

वृहतेर्धातोरर्थानुगमात् (भाष्य)

वृहिधातुके अर्थके अनुगम होनेसे ब्रह्मशब्दका अर्थ नित्यत्व-शुद्धत्व आदि प्रतीत होते हैं।

कितना बृहद् है ब्रह्म ? बोले : निरतिशय, निरवधिक बृहत्।

यह जो मोरका पख है इसका नाम है बर्ह (जो 'बर्हापीडं नटरवपुः' श्लोकमे है), उसमे-मे भी बर्हका अर्थ ब्रह्म ही है।

ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्ति० उप० २.५)

'ब्रह्म पूँछ एवं प्रतिष्ठा है।'

इस प्रकार ब्रह्म माने देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न (सत्-वाच्य), अविद्यादि दोषोसे अपरिच्छिन्न तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणोसे सम्पन्न (चित्-वाच्य), दुःख-सुखादि द्वन्द्वोसे अतीत (आनन्द-वाच्य) और अद्वितीय चेतनतत्त्व।

ब्रह्म महान् इसलिए है कि वह गुणाश्रय, निर्दोष, अमृत एव अजन्मा है।

ऐसा ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ? इसपर कहते हैं :

उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्, ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; वृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तत्व प्रसिद्धिः। (भाष्य)

'वृहि' धातुके अर्थके अनुगम होनेसे ब्रह्मशब्दके नित्यता, शुद्धता, आदि अर्थ प्रतीत होते हैं। कौन-कौनसे ? इसपर कहते है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान।

नित्य=जन्ममरणादि दोषोसे रहित। जिसका कभी ध्वंस न हो और जिसका प्रागभाव न हो। जो हमेशा रहे।

शुद्ध=राग-द्वेषादि मलिनतासे रहित।

बुद्ध=जड़ता और अविद्यासे रहित।

मुक्तस्वभावं=बन्धनसे रहित। जिस कालमे बन्धनकी प्रतीति होती है उस कालमे भी जो मुक्त रहता हो :

बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धाभावः मुक्तत्वम् (रत्नप्रभा)

एक बचपनकी बात है। हमारा गाँव छोटा-सा है और निहायत गँवारू गाँव है। उसके नौ मीलसे कमपर रेल नही है। मोटरका नाम नही था। बैलगाड़ी या पालकीपर बडे घरके लोग चलते थे और छोटे घरके लोग पैदल चलते थे। गाँवमे जब छोटे (गरीब) लोगोकी लड़की घरसे विदा होती थी तो हमको देख-देखकर बडा मजा आता था। आगे-आगे पति चलता और पीछे-पीछे लड़की पैदल चलती और रोती जाती। मेरे मनमे यह तर्क उठता था कि यह लड़की पाँवसे चल रही है और मुँहसे रो रही है (उधर लोग बोल-बोलकर रोते हैं)। आँखसे आँसू गिर रहे हैं। यदि इसे जानेमे दुःख है तो यह जाती क्यो है? बैठ जाय, और जब जाती है तो रोती क्यो है? हमको लगता था कि वह जाने न जानेमे स्वतन्त्र है इसलिए तर्क उठता था कि जाना और रोना दोनो एक साथ कैसे सम्भव है?

ससारमे जीवकी स्थिति भी उसी लड़कीके समान है। भोगते भी जाते हैं और रोते भी जाते हैं। क्यो रोरहे हो भाई? क्या पाँच रुपये आज नही आये इसलिए रोरहे है! अरे जब आये ही नही तो अब रोते क्यो हो? अपने मनकी कमजोरीके सिवाय कुछ नही है। जब हम किसी चीजके लिये रोते हैं तो हम अपनी इस सामर्थ्यको भूल जाते हैं कि हम इसके बिना भी रह सकते

हैं। जब हम किसीकी मुहब्बतमें फँस जाते हैं और सोचते है कि उसके बिना नही रह सकते; अथवा जब हम यह मान लेते है कि यह रुपया हमारा, यह मकान हमारा, यह सम्बन्धी हमारा, उस समय भी हम अपने अस्तित्वको भूल जाते है कि उसके बिना भी हमारी सत्ता है। यह जो ससारमें हम बन्धनका अनुभव करते है वह सोलह आना (सौ प्रतिशत) मानसिक कमजोरी है।

अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्ति-समन्वितम्।

मृत्युसे हम मरते नही हैं; राग-द्वेषादिसे अशुद्ध होते नही हैं, सुषुप्ति, मूर्च्छा, प्रलयकालमें भी हमारा बोध समाप्त होता नही है और बन्धनकालमें भी हम बद्ध होते नही है—यह हमारी आत्माका स्वभाव है। जब हम अपने इसी आत्माको नही जानते हैं, तब इसी चेतनको कर्ताके रूपमे जानते हैं। सृष्टिको किसने बनाया? किसी चेतनने बनाया। वह चेतन सर्वज्ञ है और सर्व-शक्तिमान है।

सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्—ये अविद्या सम्बन्धी शब्द है।

अविद्याविषयीकृतम् आत्मचैतन्यमेव सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम् प्रतीयते।

अविद्याका जो आश्रयभूत चैतन्य है, वही जब अविद्याके द्वारा विषयीकृत होता है अर्थात् जब हम उसको यथावत् नही जानते हैं तब हम सोचते है कि एक ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चैतन्य है जो इस सृष्टिको बनाता है।

जिसके अन्दर शक्ति और ज्ञान है वही सृष्टिका निर्माण कर सकता है और जिसमे नही है वह नही कर सकता:

यो हि जानाति शक्नोति च स करोति नेतरः।

इसीलिए 'सर्वज्ञं 'सर्वशक्तिसमन्वितम्'का अर्थ भामतीकारने किया कि:

शक्तिज्ञानभावाभावानुविधानात् कारणत्वभावाभावयोः
(भामती)

शक्ति और ज्ञान इन दोनोका जहाँ भाव है वह कारण है और जहाँ इनका अभाव है वहाँ कारणताका भी अभाव है।

जब हम ब्रह्म शब्दके अर्थपर विचार करते हैं तो वृद्धि धातुके अर्थका अनुगम होनेसे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्ति-समन्वित है। **प्रतीयन्ते** पद देकर आचार्यने विचारका मार्ग प्रशस्त किया है। यदि कह देते ब्रह्म ऐसा है (नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि) तो उसमे विचार करनेका कोई अवकाश ही न रहता। और यदि कह देते ब्रह्म ऐसा नही है तब भी विचार नही कर सकते थे। प्रतीयन्ते कहकर आचार्यश्रीने बताया कि ब्रह्म शब्दसे ऐसा मालूम पडता है कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ एव सर्वशक्ति है। मालूम पड़ती हुई चीज सच्ची भी हो सकती है और झूठी भी। अतः विचार करना चाहिए कि यह सच है या झूठ। कैसे विचार करें? तो वेदान्तकी आवश्यकता पड़ गयी।

ऐसा ब्रह्म जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वह प्रसिद्ध है कि अप्रसिद्ध? तो कहते है कि वह आत्मरूपसे प्रसिद्ध है

सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।

सर्वकी आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। 'सर्वस्य'का अन्वय 'आत्मा'के साथ न करके यदि 'प्रसिद्धिः'के साथ किया जाय तो इस वाक्यका अर्थ होगा कि "ब्रह्मके आत्मा होनेसे सर्वकी इससे प्रसिद्धि है।" यह दूसरा अर्थ ही अनुभवारूढ होता है।

अभी एक सवाल उठा था ईश्वरके अस्तित्वमे क्या प्रमाण है?

उत्तर देनेसे पहले यह निर्णय करना आवश्यक है कि तुम

ईश्वर किसको कहते हो ? यदि तुम्हारा ईश्वर वैकुण्ठवाला ईश्वर है, कारण ईश्वर है, व्यापक ईश्वर है, ऐसा ईश्वर है जिसमें सृष्टि नही है, दाढ़ी-मूँछवाला ईश्वर है तो जहाँ तुमने सुना है वही उसके बारेमें प्रमाण है। महात्मा लोग कहते हैं कि इस शरीरमे जो आत्माकी सिद्धि है कि 'मै हूँ' उसको तुम जानते हो कि नही ? यदि इसको जानते हो तो ईश्वरका भी अस्तित्व सिद्ध हो जायेगा। ईश्वरकी सत्तामें सर्वापेक्षा अधिक अकाट्य प्रमाण है आत्माका अस्तित्व। यदि देहमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध होवे तो ईश्वरका भो अस्तित्व सिद्ध हो, यदि न होवे तो ईश्वरका भो न हो।

सब शास्त्रार्थ व्यर्थ है। किताबोके श्लोकोको लेकर आपसमें लड़ना कि ईश्वर गोरा है कि काला[1], ईश्वर औरत है या मर्द[2], ईश्वरका मुँह हाथी जैसा या सूरज जैसा[3], निराकार या साकार[4], ऐसा ही है जैसे दो अधे आपसमे लड़ें कि फूलका रंग लाल है कि पीला। अपने बारेमें सोचो कि तुम कौन हो, क्या हो, कैसे हो ? यदि देहगत चैतन्यका ज्ञान हो जाय तो समष्टिगत चैतन्य (ईश्वर) का भी ज्ञान हो जायेगा। ईश्वरका अकाट्य प्रमाण तुम हो !

जब इस आत्माका ज्ञान होता है तब खुद ही जीव सिद्ध नही होता, जीव और ईश्वर दोनोका परमेश्वर सिद्ध होता है। तब ईश्वरके बारेमे प्रमाण नही पूछना पड़ता।

आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्षसिद्ध है। इसमें न वेदकी जरूरत है न श्रुतिकी या पुराणकी, न गुरुकी जरूरत है न आचार्यकी। 'मै हूँ' यह सबको मालूम पड़ता है और 'मै नही हूँ' यह किसीको मालूम नही पड़ता। इसमें वेदान्त भी क्या करेगा ? वेदान्त यदि यह कहे कि तुम नही हो तो क्या तुम मान लोगे ? भारतमे बौद्ध-

---

१. शैव, वैष्णव, २. शाक्त, शैव, ३. गाणपत्य, सौर, ४. आर्यसमाजी, सनातनी।

धर्म इसीलिए नही चला कि यह शिक्षा देता था कि तुम नही हो। शून्यं शून्यम्। 'मैं नही हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है और 'मैं हूँ' यह प्रत्यक्षसिद्ध है। शान्तिमे, विक्षेपमे, समाधिमे, मूर्च्छामें, जाग्रतमे, स्वप्नमे, सुषुप्तिमे मैं हूँ। न होऊँ तो अवस्थान्तरका पता कैसे चले? आबाल वृद्ध-वनिता, कीटपतग, पशु-पक्षी, देव-दानव सबको अपनी आत्माका अस्तित्व बिना किसी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके ही सिद्ध है।

सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। (भाष्य)

'आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है। 'मैं नही हूँ' ऐसा ज्ञान किसीको नही होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सब लोग 'मैं नही हूँ' ऐसा अनुभव करते। (यह) आत्मा ही ब्रह्म है (अतएव ब्रह्म प्रसिद्ध है)।'

यह जो स्वय-सिद्ध आत्मा है उसके अस्तित्वकी बात तो प्रत्यक्ष है परन्तु 'यह आत्मा ही ब्रह्म है', यह बात प्रत्यक्षसिद्ध नही है। इसी अशमे अज्ञान है। अहमस्मि (मैं हूँ) इस अंशमे अज्ञान नही है। अस्मि, अस्मि (मैं-मैं) स्फुरित होता हुआ भी 'मै सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान सबको नही है।

अब वेदान्तका प्रामाण्य किस अशमे है? आत्माके अस्तित्वके अशमे जैन-धर्म प्रमाण है। चार्वाक भी प्रमाण है क्योकि वे देहको ही आत्मा कहते हैं। बौद्ध-धर्म भी प्रमाण है क्योकि वे विज्ञानकी बदलती धाराको ही आत्मा कहते हैं। आस्तिक दर्शनोंमे पूर्व-मीमासा आत्माको जड़ चेतनात्मक, विभु, नाना और कर्ता-भोक्ता बताता है; न्याय-वैशेषिक उसे ज्ञानादि चतुर्दश गुणवान, कर्ता,

भोक्ता, जड, विभु और नाना स्वीकार करता है; सांख्य आत्माको असंग, चेतन, विभु, नाना और भोक्ता प्रमाणित करता है और योग उसे सांख्यकी अपेक्षा कर्ता एक अधिक मानता है। परन्तु यद्यपि ये सब दर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते है तथापि इनमे-से कोई भी आत्माको नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव, सर्वज्ञ और सर्व ब्रह्म नही बताता। अकेला वेदान्त ही आत्माको ब्रह्म बताता है। आत्मा च ब्रह्म।

वेदान्तका प्रामाण्य आत्माको ब्रह्म बतानेमे है। उसके अस्तित्व-को प्रमाणित करनेमे नही है। वह तो प्रत्यक्ष ही है। यदि आप किसी महात्माके पास जाकर यह सीख आये कि 'मै हूँ' यही ब्रह्म-ज्ञान है तो आप कुछ सीखकर नही आये।

तुम हो सो तो ठीक! परन्तु तुम हो क्या? बोले मैं देह हूँ। वेदान्त कहता है तुम देह नही हो। तो कहा: मै जीव हूँ, आने-जानेवाला हूँ, पापी-पुण्यात्मा हूँ। वेदान्तने कहा: गलत, तुम पापी-पुण्यात्मा आने-जानेवाले जीव नही हो। बोले: मै कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न जीव हूँ। वेदान्तने कहा: गलत, तुम वह भी नही हो। तुम तो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, अपरिच्छिन्न, सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म हो।

धर्म, उपासना, योग सभी कहते हैं कि 'मैं हूँ' परन्तु इसमे जो यह अलगावकी ख्याति है वह भ्रम है। वेदान्त इस भ्रमको नष्ट करता है। एक है अस् अर्थात् सत् इसमें चैतन्य अस्मि-अस्मिका अनुभव कर रहा है, सूक्ष्मरूपमे। परन्तु कोटि-कोटि अन्त करणोमें जो सत्की अस्मिरूप फुरना हो रही है—अस्मि, अस्मि, अस्मि वह शुक्तिकामे रजतवत् है। बिना विचारके अस्मिकी अनेकताका भ्रम उच्छेद नही हो सकता।

आत्मसत्ता है शुक्तिकावत् और इदंवत्के समान अहं और अस्मिका स्फुरण है रजतवत्। मूल जो धातु है वह है ब्रह्म; वह है शुक्तिकावत्। और एक ही धातुमे पृथक्-पृथक् अन्तःकरण और उन अन्त.करणोमे 'मैं हूँ, मै हूँ' यह फुर रहा है, रजतवत्। उस अखण्ड ब्रह्मके अज्ञानसे तुम उसी स्फुरणको अपना स्वरूप मान रहे हो। जिस स्वयप्रकाश अधिष्ठानमे जिस दिक् कालसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मतत्त्वमे यह अस्मि अस्मिका स्फुरण हो रहा है, वह एक है। उस एकत्वका बोध करानेके लिए ही वेदान्तकी प्रवृत्ति है।

'मैं ब्रह्म हूँ' इसका अज्ञान है और इस अज्ञानको मिटानेके लिए ही वेदान्तकी जरूरत है। अन्वय-व्यतिरेकका नाम वेदान्त नही है. अनुवृत्ति-व्यावृत्तिका नाम वेदान्त नही है। पञ्चकोषके निरूपण, अवस्थात्रयके निरूपण, पंचीकरणका निरूपण वेदान्त नही है। अपने प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मरूपताका निरूपण ही वेदान्तकी अपूर्वता है।

आत्माके ब्रह्मत्वमे इसलिए-किसलिए नही होता : हेतुदृष्टान्तवर्जितम्। अपनी ब्रह्मता किसी हेतु या दृष्टान्तसे सिद्ध नही होती है; यह केवल वेदान्तैकबोध्य है।

प्रक्रियाओ; युक्तियो, शान्ति या समाधिका नाम वेदान्त-ज्ञान नही है। आत्माका ब्रह्मत्व-बोधन कराना—यह वेदान्तकी अपूर्वता है। योग, साख्य, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमासा आदि किसीसे यह बोधन नही होता और न चार्वाक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि किसी धर्मसे इसका बोधन होता है। इसलिए वेदान्त जिसके लिए है और जो वेदान्तके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे प्रमाणित नही होता वही (ब्रह्मात्मैक्य-बोध) वेदान्त है। वेदान्तके नामपर कूड़ा-कचडा मत भरो।

आत्मा है, यह सब जानते हैं। यह आत्मा देश, काल, वस्तुका

साक्षी है। साक्षी माने गवाह। लोक-व्यवहारमे गवाह दो प्रकारके होते हैं: कूटसाक्षी (अर्थात् झूठा गवाह) और वस्तुसाक्षी (अर्थात् सच्चा गवाह)। वस्तुसाक्षी भी दो प्रकारका होता है: प्रत्यक्ष साक्षी (चश्मदीद गवाह जिसने वारदातको मौकेपर अपनी आँखोसे देखा है) और दूसरा अप्रत्यक्ष साक्षी (जिसने स्वयं नही देखा परन्तु दूसरोके देखे गये अनुभवके आधारपर वारदातको जाननेकी गवाही देता है)।

अब यह आत्मा जो साक्षी है वह कौन-सा साक्षी है। आत्मा वस्तुत. इनमे-से कोई-सा भी साक्षी नही है। असलमे लोक-व्यवहार-में जो साक्षी है वह तो साक्षी ही नही है। चश्मदीद गवाहने देखा, परन्तु किससे? आँखसे। अर्थात् वास्तवमे साक्षीने नही देखा, बीचमे आँखका पर्दा था। आत्मा चैतन्य है; वह आँखके द्वारा भी देखता है, आँखको भी देखता है और आँखके अभावको भी देखता है।

यह जो शब्द-स्पर्शमयी सृष्टि दिखायी पडती है वह साक्षीको इन्द्रियोके द्वारा दिखायी पडती है। शत्रु-मित्र, पति-पत्नी हृदय-की उपाधिसे दिखायी पडते हैं। स्वर्गादि, इन्द्रादि देवता भावना-सहकृत अन्तःकरणसे दिखायी पड़ते हैं। जगत्कारण प्रकृति, ईश्वर युक्तिसहकृत बुद्धिसे दिखायी पड़ते है: साक्षीसे ये कोई दिखायी नही पड़ते। बुद्धिके अभावको साक्षी देखता है।

अब, एक बुद्धिके अभावको साक्षी देखता है या सब बुद्धियोके अभावको साक्षी देखता है? यदि एक बुद्धिके अभावको साक्षी देखता तो 'सब बुद्धियाँ हैं' इस अनेकताकी बुद्धिको कैसे देखता। अतः सर्व बुद्धियोके अभावका साक्षी जो है वही एक बुद्धिके अभावका साक्षी है।

यह साक्षी बिगड़ता कैसे है? इन्द्रियोके भोगकी लालसामें यह भोक्ता हो जाता है। कल-कारखाने खोलने लगता है तो यह कर्ता हो जाता है। तव कर्ता भोक्तासे एक होकर सुख जिधर मिलता है उधर ढुलक जाता है। इसीसे विरक्त अन्त करणमें ही शान्तिका अनुभव होकर साक्षीका विचार होता है। साक्षी जहाँ दयालु या कठोर होगा वहाँ साक्षी बिगड जाता है।

यही साक्षी जो सचमुच ब्रह्म है परन्तु ब्रह्मत्वेन जो ज्ञात नही है वेदान्तका आत्मा है और वेदान्त इसीको ब्रह्म बताता है। आत्मा च ब्रह्म।

नित्य अनित्य जो कालके भेद हैं उनका साक्षी होनेसे यह कालपरिच्छिन्न नही है। बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये, देश-बुद्धिका साक्षी होनेसे यह देश-परिच्छिन्न नही है। कारण-कार्यका साक्षी होनेसे यह द्रव्य-परिच्छिन्न नही है। इस देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न साक्षीमें (प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें) यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च मिथ्या भासमान है।

अव कहते हैं कि : ठीक है, ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है। परन्तु यदि प्रसिद्ध ही है तब पुन ब्रह्ममे अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ। क्योकि ज्ञात ब्रह्मकी जिज्ञासा नही हो सकती।

यदि र्तहि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्य-जिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्ते। (भाष्य)

उत्तर देते हैं कि ऐसी शका ठीक नही है। ब्रह्म आत्मरूपसे सबको सामान्यत. ज्ञात है सब यही अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ'। परन्तु इस मैंके विशेष ज्ञानमे विप्रपिपत्ति अर्थात् विवाद है। सामान्यरूपसे ज्ञात परन्तु विशेषरूपसे अज्ञात ब्रह्मकी जिज्ञासा सम्भव ही है। इसलिए आओ ब्रह्मकी जिज्ञासा करें।

जैसे घड़ा है परन्तु कोई कहता है घड़ा सोनेका है और कोई कहता है तांबेका है, अर्थात् जैसे घड़ेके अस्तित्वके प्रति कोई विवाद नही है परन्तु उसकी धातुके प्रति विवाद हैं; उसी प्रकार 'आत्मा है', यह निर्विवाद है परन्तु यह देह है कि इन्द्रिय है, कि मन है, कि जड़ है, कि चेतन है, कि अणु है कि विभु है, कि परिच्छन्न है या अपरिच्छिन्न है—यह विवाद है। विवादमें विवादास्पद वस्तुका अस्तित्व असदिग्ध होना चाहिए।

कहो आत्मा तो है। बस शान्त होकर बैठो। विचार क्यो करे ? निर्विचार ही सबसे बडा विचार है। सावधान जिज्ञासुओ ! निर्विचार क्या है, तुम्हे मालूम है क्या ? विचार करोगे तभी निर्विचारका स्वरूप भी मालूम पड़ेगा। कुसंगसे बचो ! जिस सत्सग, कथा, चर्चासे तुम्हारा ब्रह्मात्मैक्य-जिज्ञासा मन्द पड़ती हो, विचार छूटता हो, ज्ञान हुए बिना ही ज्ञानकी इच्छा मरती हो, वह सत्संग नही कुसग है।

विचार करो : यह जो सबके हृदयमे मै-मै-मै फुर रहा है जिस इदतामे रजत भास रहा है, जिस सत्मे अस्मि-अस्मि भास रहा है, जिस सत्तामे अस्ति-अस्ति भास रहा है, वह अखण्ड सत्ता कौन सी है ? इस मैंकी, इस आत्माकी, धातु क्या है ? असलमे आत्मामे आत्मा (चैतन्य) के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नही है। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तु आत्मामे आत्मासे आत्माको दीखते हैं और आत्मामे आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है नही। तब आत्मा ही सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुके रूपमे भासमान है और इस भासके अतिरिक्त भी स्वयप्रकाश आत्मा अपनी ब्रह्मत्वकी महिमामे ज्यो-की त्यो स्थित है। ●

(८. ५.)

ब्रह्मजिज्ञासा पद विचार—५

आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विवाद

(नास्तिकमत)

तद्विशेष प्रतिविप्रतिपत्तेः देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । (भाष्य)

ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है । 'मैं हूँ' यह सबको अनुभव होता है; 'मैं नहीं हूँ' यह किसीको अनुभव नहीं होता । परन्तु यह मैं

है क्या, इसकी धातु क्या है, इसमे विवाद है। अत' ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा या विचार उचित है। 'मै' के विशेषरूपके प्रति विप्रतिपत्ति अर्थात् विवाद है।

तद्विशेष प्रति विप्रतिपत्तेः।

वह विवाद क्या है, उसके कुछ नमूने देते है।

मूल प्रश्न यह है कि 'मै हूँ' यह जो सार्वजनीन अनुभूति है वह चीज क्या है ? दूसरे शब्दोमे अहमस्मि किस अधिष्ठानमे फुरता है ? अथवा 'मै हूँ' इस स्फुरणका आलम्बन क्या है ?

वह क्या चीज है जिसको सब मै-मै बोलते हैं। मनुष्य भी बोले 'मै हूँ'। आम भी बोले 'मै हूँ'। अगूर भी बोले 'मै हूँ'। दाडिम भी बोले 'मै हूँ'। सब अपना होना बता रहे है, अगूर दाड़िम नही है, दाडिम आम नही है। तो यह देखना पड़ेगा कि मिट्टीसे तो सब ही बने—आम भी, अगूर भी और दाड़िम भी—और मरनेपर सभी मिट्टी (भस्म) बन जाते है। फिर सब पञ्चभूत ही तो रहे। परन्तु इनमे अन्तर भी है। नाम अलग है, रूप अलग है, आकार अलग है, स्वाद अलग है, गुण अलग है, सबके तने, पत्ते फूल अलग है। यह बात ध्यान देनेकी है कि सब तत्त्वत. पञ्चभूत होनेपर भी सबका अलगाव कैसे होता है। तभी जीवकी स्थिति भी ठीक-ठीक समझ सकोगे।

अगूर और दाडिम तत्त्वत एक होनेपर भी एक अनादि परम्परासे बीजकी एक धारा प्रवाहित होती चली आयी है। उससे उसी पञ्चभूतमे एक ग्रन्थि बन गयी है। जो पञ्चभूतरूप उपादानमे बीजरूप एक गाँठ बन गयी है। वह किसकी है ? पञ्चभूतमे ही एक विशेष जुड गयी है। यह विशेष कबसे ? यह गाँठ कबसे ? तो कहा कोई इसका पता नही लगा सकता। अनादि कालसे—प्रवाहरूप। कैसे ? जरा इस बातको समझो पहिला आमका पेड कब पैदा

हुआ ? पहिला दाडिमका पेड कब हुआ ? बता सकते हो ? एक-एक बीजमें आप अनन्त-सा देखो।

एक दृष्टान्त आपने सुना होगा। एक सेठकी लड़की विदा हो-रही थी। सेठने पूछा विदाईमें क्या लेगी ? लडकीने कहा १६ सुपारी हर बार १६-१६ गुना करके ३२ बार देदो। सेठने कहा इसमें क्या रखा है ? मगर जब दिया तो पूरी करना मुश्किल होगया।

एक आमके बीजमें एक आमका पेड। अब एक आमका पेड़ समझो २००० फल प्रतिवर्ष देगा और २५ सालतक देगा। इस प्रकार एक बीजसे ५०,००० बीज तैयार हुए। इसीप्रकार उनमेंसे अब एक-एककी परम्परा चली। कुछ वर्षोंमें एकका अनन्त विस्तार होगया। एक बीजमें अनन्त बीजोंकी सम्भावना भरी हुई है। इस मूल बीजको हिरण्यगर्भ बोलते हैं।

जो-जो जीव ग्रन्थियाँ हैं, पशुग्रन्थि, पक्षीग्रन्थि, उद्‌भिजग्रन्थि, उष्मज ग्रन्थि, जरायुजग्रन्थि इन सबकी अलग-अलग अनादि बीज-परम्परा है।

आप अपना आदि-अन्त पा सकते हैं ? तनिक दस पीढी अपने पिताकी ओर दस पीढी अपनी माताकी बीज-परम्पराका अवलो-कन करो। दिमाग चक्कर खा जायेगा। मनुष्यकी एक वीर्य-बिन्दुसे कितने जीव उत्पन्न हुए या होंगे, कोई हिसाब नहीं।

तत्तत् संस्कारविशिष्ट पाञ्चभौतिक ग्रन्थिका नाम बीज होता है। ऐसे ही तत्तद् संस्कारविशिष्ट चेतनका नाम जीव होता है। चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जडत्वकी प्रधानतासे बीज होता है। वैसे जीवमें भी जडत्व होता है और बीजमें भी चैतन्य होता है। जब पञ्चभूत लगा हुआ है जीवके साथ तो बीज

तो हो ही गया और बीजमे भी कीड़े पड़ जाते है तो चेतन्यका विकास भी होता ही है।

लोग बिना विचारे रास्तेमे कहते चलते है पुनर्जन्म नही है, परलोक नही है। कभी विचार ही नही किया उन्होने कि यदि एक ही मिट्टीमे-से आम और अगूर और अनारके विविध गुण धर्मवाले पौधे हो सकते है तो वे केवल मिट्टीके विकार कैसे होगे? उनमे बीज होना जरूरी है।

बीज शब्दमे जो 'ब' अक्षर है वह ओष्ठ्य हे और जीवमे जो 'व' अक्षर है वह अन्त स्थ है। तो अन्त स्थ वस्तुका बोधक है जीव और वहिष्ठ वस्तुका बोधक है बीज। शब्द बनानेकी प्रणाली तो देखो।

बीज = ब + ई + ज . जीव = ज + ई + व

इनमे अक्षरोकी अनुलोम-प्रतिलोम व्यवस्था है।

आप यदि समझते हो कि एक ही चैतन्य जो अनेक स्वभाव-वाला अनेक शरीरोमे दीख रहा है वह केवल शुद्ध चेतन ही अनेक रूपरूपाय दीख रहा है, सो नही है। स्वभाव बीजगत है और जीवत्व चैतन्यगत है। आपके देहकी आकृति, प्रकृति, सस्कृति, स्वभाव, गुण, विद्या, वुद्धि, अन्त करण, प्रज्ञा कर्मसस्कार सब बीजगत है।

परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वर, वेदके बारेमे निर्णय वोटसे नही होता। वच्चोके सामने व्याख्यान देकर ताली पिटवायी और कह दिया · परलोक नही है, पुनर्जन्म नही है। लेबोरेटरीमे परीक्षण करके इनका निर्णय नही किया जाता। विज्ञान दूसरी चीज है और दर्शन दूसरी चीज है। जब हम विज्ञानके द्वारा दर्शनको समझनेकी कोशिश करते है तो ऐसा ही है कि जीभसे चखकरके

इत्रकी पहिचान करना चाहते हो। इत्रकी पहिचानका कारण नाक है, जीभ नही।

करि फुलेल को आचमन मीठा कहत सराहि।
ए गधी मति अध तू इत्र दिखावत काहि॥

अतीन्द्रिय विषय दर्शनशास्त्रका विषय होता है और इन्द्रियक विषय विज्ञानका विषय होता है। अतएव आओ! ब्रह्म-जिज्ञासा करें। **जीवस्य किं स्वरूप इति जिज्ञासा कर्त्तव्याः।** जीवका क्या स्वरूप है इसकी जिज्ञासा करना कर्त्तव्य है।

बीज अग्निदाह्य है क्योकि उसमे जडकी प्रधानता है परन्तु जीव अग्निदाह्य नही है क्योकि उसमे चेतनकी प्रधानता है। तब जीव कैसे जलेगा? तो कहा कि ज्ञानाग्निसे। जैसे जड़ बीजको जलानेके लिये जड़ अग्नि चाहिए और जलनेके बाद जैसे बीजमे सस्कारविशिप्टता नही रहती जिससे उसकी परम्परा वही नष्ट हो जाती है, उसीप्रकार चेतन जीवको जलानेके लिये ज्ञानाग्नि (चेतन-अग्नि) चाहिए और और ज्ञानाग्निसे जलनेके बाद जीवत्व ग्रन्थि नप्ट हो जाती है और रह जाता है शुद्ध चैतन्य, फिर उसमे पुनर्जन्मकी परम्पराका अन्त हो जाता है।

वह ज्ञानाग्नि कैसे उत्पन्न होगी? विचारसे। अविचारसे यदि कुछ-का-कुछ मान बैठोगे तो महान् हानि होगी। तुम्हे मोक्ष नही मिलेगा। अत विचार करो। शकर भगवान्‌का यह वाक्य स्वर्णाक्षरोमे लिखने योग्य है :

तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्॥ (भाष्य)

अस्तु। आओ आत्माके रूपपर विचार करें।

आत्माके विशेषरूपके प्रति मतभेद है। वर्तमान कालमे अपना अस्तित्व सबको स्वीकार है। अब मतभेद यह है कि आत्मा

पहिले था या नही, आगे रहेगा या नही, केवल देह है या देहसे अन्य है, देहके बराबर है या देहके किसी कोनेमे है या देहमे रहता हुआ भरपूर है, इत्यादि।

मतभेद वस्तुके स्वरूपाज्ञानके कारण होता है और ज्ञानकी प्रणाली यह है कि उस वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमे जितने मत है उन सबका अपवाद किया जाय। तब मतोके अध्यारोपोसे विनिर्मुक्त वस्तु-तत्त्वका ज्ञान होगा :

अनारोपिताकार तत्त्वम्।

आत्माके विशेष स्वरूपके प्रति विप्रतिपत्ति क्यो है ? आत्माके स्वरूपाज्ञानके कारण। अत अब आत्माके ज्ञानके लिए अलग-अलग अध्यारोपोका वर्णनमात्र करते है ·

(१) **देहमात्र चैतन्यविशिष्टम् आत्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।**

'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते है।'

भगवान् शकरने सबसे पहले चार्वाक-मतका उल्लेख किया। क्यो ? क्योकि बहुमत उन्हीके पक्षमे रहता है। '**लोकायत** का अर्थ भी यही है **लोके आयतम्**। लोकमे जो खूब फैला, जिसको बहुमतने माना। '**प्राकृता जना**' कहकर आचार्यने उन सभी विचारकोको इसमे शामिल कर लिया है जो प्रत्यक्षके आधार पर ही केवल अनन्वय-व्यतिरेकका सहारा लेकर विचार करते है। इसमे चार्वाक, भौतिकवादी और साधारण अबोध लोग जो केवल ऐन्द्रियक सुखकी प्रेरणासे ही जीवनमे प्रवृत्त होते हैं और जिन्हे यथार्थ अथवा अन्तिम सत्यसे कोई मतलब नही।'

शास्त्रज्ञानशून्या प्राकृता वेद वाह्यमतान्युक्त्वा तार्किकादिमतमाह। (रत्नप्रभा)

प्राकृता अर्थात् शास्त्रज्ञानसे शून्य असंस्कृत बुद्धि वाले। वेदसे बाहरके मतोसे युक्त बुद्धिवाले तार्किक आदि सब इसमे शामिल है।

प्राकृता जना = शास्त्रासंस्कृतधेया इष्टमात्रः विकल्पत प्रवृत्तयः जना जननमरणधर्माणाम्।

= शास्त्रमे असस्कृत जिनकी बुद्धि है, देखेको ही जो सच मानते हैं, प्रकृतिमे विकल्प लिये जो प्रवृत्त होते है, जन्मने—मरनेवाले जो लोग है वे प्राकृता जना है।

चार्वाकको चार्वाक क्यो कहते है इसकी एक पौराणिक कथा है।

इन्द्रको जब स्वर्गका राज्य मिला तो वह सिहासनपर बैठ गया और बोला इन्द्रोऽह, इन्द्रोऽह अर्थात् मै इन्द्र हूँ, मै ऐश्वर्य-शाली हूँ। इसी बीचमे आये गुरुजी। इन्द्रने ऐश्वर्यके मदमे गुरुजीका आदर नही किया। वह सिहासनसे नही उठा। और उसने आँखे फिरायी जैसे उसने गुरुजीको देखा ही नही।

यो बृहस्पतिजीने ही इन्द्रको याग कराया था, जिसके करनेसे ही इन्द्रको असुरोपर विजय और राज्य मिला था। बृहस्पतिजी इन्द्रके मन्त्री भी थे और गुरु भी। परन्तु ऐश्वर्यका मद तो देखो

इन्द्रः त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लघित सत्पथा

इन्द्रने सत्पथका उल्लघन कर दिया। बृहस्पति दो मिनट तो खडे रहे। फिर अपमानित अनुभव करते हुए घर चले आये। हृदयमे बदलेकी आग जलने लगी। बृहस्पति जीव है न, वे ईश्वर तो है नही। आखिर उन्होने चार्वाकके रूपमे जीवावतार ग्रहण किया। (चार्वाकका एक नाम जीव भी है)। बोले ले बेटा इन्द्र! अब धर्म (यज्ञ-यागादिक) ही समाप्त किये देते है। तुम

अब भूखे मरना। उन्होने 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र'की रचना की। बताया कि धन ही सब कुछ है, गुरुको नमस्कार मत करो, वेदको मत मानो, यज्ञयाग मत करो। मरने लगे इन्द्र और अन्य देवता! यह पौराणिक कथा है।

अब इसकी दार्शनिक कथा सुनो।

चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, देह ही आत्मा है, लोकभोग्य सुख ही पुरुषार्थ है और मृत्यु ही मोक्ष है। लो इस दर्शनमे आत्महत्याके लिए भी जगह निकल आयी! इसका प्रचलित श्लोक है.

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिबेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

जबतक जीवे सुखसे जीवे। ऋण लेकर भी घृत पीये। देह (आत्मा) अन्तमे भस्मीभूत हो जाता है उसका पुनर्जन्म कहाँ?

चार्वाक चारुवाक है अर्थात् मीठा बोलने वाला है। बोलते है: भैय्या, यह तुम्हारा देह ही आत्मा है। हम तुम्हे सर्टीफिकेट (प्रमाण-पत्र) दिये देते है (भले ही वह झूठा हो।) कि न तुम कहीसे आये हो और न देहपातके पश्चात् तुम्हे कही जाना है। देह जब-तक है तभीतक सारा खेल है। कौन किसके पूर्व जन्मको जानता है? इसलिए कोई किसीके उत्तर जन्मको भी नही जानता। अत जबतक जीओ, सुखसे जीओ, भले ही उधार खाकर सुख मिले।

पूछा 'अच्छा चार्वाकजी, देहमे जो चैतन्य है वह क्या है?' तो बोले 'अरे, वह तो चार महाभूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) का एक विशेषण है।' यह विशेषण क्या होता है? तो बोले: देखो भाई! जैसे एक कमलका बीज (कमलनाल) लेकर आपने सरोवरमे डाल दिया। उसमे-से एक तना निकला, फिर उसमे एक कमलकी कली निकली। अब जब कमल खिला तो कमल नीला-

नीला दीखता है। यह नीलापन कमलका विशेषण है। इसी प्रकार चारो भूतोमे एक शरीररूप कमल खिला और इस कमलमे नीलिमाके समान यह चैतन्य विशेषण है जो 'अस्मि-अस्मि' रूपसे प्रकट होता है। जबतक देह रहेगा वह विशेषण रहेगा, जब देह मिट जायेगा तो वह भी मिट जायेगा। चैतन्य नामकी कोई अलग धातु नही है, वह जडताका ही एक विकास है।

देह एव इति देहमात्रम्।

आत्मा केवल देह ही है और कुछ नही। और कुछ नहीसे क्या मतलब ? तो—

मात्रशब्देन देहातिरिक्त स्वतन्त्रचैतन्य नास्तीत्युच्यते।
(पूर्णानन्दी)

देहके साथ मात्रत् प्रत्यय लगानेका अभिप्राय है कि देहसे अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चैतन्य नही है।

देहातिरिक्तं चैतन्य स्वतन्त्र अस्वतन्त्रं वा नास्ति। देहाकार-परिणतभूतचतुष्टयान्तरं भूतमेव तत् इति मात्रतो ग्रहणम्।

देहसे स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र कोई चैतन्य नही है। चारो भूतोंका यह देहाकार परिणाम ही आत्मा है। 'देहमे आत्मा' ऐसा व्यवहार नही है 'देह ही आत्मा है' ऐसा व्यवहार है। चैतन्य देहका, भूतोका विशेषण है। **देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मा इति।**

अब इस सिद्धान्तपर थोडा विचार करो।

देह अर्थात् ढेर। **दिहि उपचये** धातुसे देह शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है ढेर। यह हड्डी, चाम, रुधिर, मल, मूत्रका ढेर या सघात—यही देह है। देहकी पहिचान क्या ?

'चर्माधिकरणम्' देहकी पहिचान है। चामके बन्धनमे यह बँधा है। वास्तवमे त्वगेन्द्रियका निरपेक्ष अधिकरण है शरीर। स्पर्शज्ञान देहमे होना चाहिए।

अब देखो देह आत्मा है यह अनुभव-विरुद्ध है। कोई व्यक्ति यह नही कहता कि 'मै देह हूँ।' 'मै मनुष्य हूँ' ऐसा बोलते है, 'मै ब्राह्मण हूँ' ऐसा बोलते है। 'मै गृहस्थ हूँ', 'मै संन्यासी हूँ' इत्यादि बोलते है परन्तु 'मै देह हूँ' ऐसा सीधा अभ्यास किसीको नही होता। मधुसूदन सरस्वतीने अपने 'सिद्धान्त-बिन्दु' मे इसका वर्णन किया है।

अच्छा, देह तो प्रत्यक्ष ज्ञेय है, दृश्य है, मुझ ज्ञाताका, द्रष्टाका विषय है, फिर यह आत्मा कैसे ? पुन. यदि देह-सघात है तो वह किसी अन्यके लिए होगा।

संघातस्य परार्थत्वात्

इसलिये भी देह मै (आत्मा) नही हूँ।

यह चार्वाक-दर्शन विरोचन ज्ञान है। वाक्पति बृहस्पतिने आत्मा इन्द्रको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करनेके लिए इसका प्रचार-प्रसार किया। यह लोकायत है अर्थात् वोटका धर्म है। इसमे विवेक-विचार नही है, प्रत्यक्ष विषयोके प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रियताका अनुवादमात्र है इसमे। अत रोचक होते हुए भी पतनोन्मुख है। इससे बचना चाहिए।

क्या उपनिषदोमे चार्वाक सिद्धान्त नही है ? न हो सो बात नही **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय** (तैत्तिरीय० २-१-१), 'वह पुरुष अन्नरसमय है'। तथा

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (कठो० ३-४) परन्तु यह उपनिषद्-सिद्धान्त नही है। विचारकी कक्षामे अनुभवका अनुवाद है तथा ब्रह्मविद्के लिये सर्वात्मबोधका प्रतीक है।

मूल प्रश्न यह है कि 'मै हूँ-मै हूँ' यह जो ज्ञान है इसका आलम्बन क्या है ? चार्वाकने कहा देह है। देह रहते यह ज्ञान रहता है कि 'मै हूँ' और देह न रहने पर नही रहता।

अब कल्पना करो कि देह है परन्तु इन्द्रियाँ नही है। क्या उसे 'जगत् है', यह ज्ञान हो सकेगा ? इन्द्रियोसे ही ज्ञान होता है, इन्द्रियोके बिना ज्ञान नही होता, अत ज्ञानका आश्रय इन्द्रियाँ हैं, केवल देह नही। देह तो इन्द्रियोका अधिष्ठान है एवं जड़ है। सुपुप्तिमे देह तो रहता है परन्तु इन्द्रियाँ सुपुप्त रहती है जिससे ज्ञान भी सुपुप्त रहता है। अत इन्द्रियाँ ही आत्मा है—ऐसा प्रतीत होता है।

'मैं मनुष्य हूँ', 'मै स्त्री हूँ, मै पुरुप हूँ' इत्यादि प्रत्यय सब इन्द्रियोसे ही स्वीकार किये गये है। इसीलिए "मै देखता हूँ, मै सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ" इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवमे 'मैं' अनुस्यूत रहता है क्योकि इन्द्रियाँ ही आत्मा है।

अच्छा जी! मान लिया कि इन्द्रियाँ ही आत्मा है। आत्मा माने मै ज्ञानका आलम्बन। तो क्या प्रत्येक इन्द्रिय अलग-अलग आत्मा है ? नही। क्योकि यदि ऐसा होता तो देखनेवाला, सूँघनेवाला अलग-अलग होता है। परन्तु अनुभव तो यह है कि जो मै देखनेवाला हूँ वही मैं सुननेवाला हूँ और मै सूँघनेवाला हूँ। अत प्रत्येक इन्द्रिय अलग-अलग आत्मा नही है, अपितु इन सब इन्द्रियोका समूह ही आत्मा है। माने 'मै हूँ' इस ज्ञानका समूहालम्बन इन्द्रियाँ है और इसलिए वह आत्मा है।

श्रुतिमे भी **ते ह वाचमुचुः** (वृहद १।३।२) अर्थात् 'उन चक्षु आदिने वाणीसे कहा'—ऐसा वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त इन्द्रिय आत्मवादी मतको भगवान्‌ने यो प्रकट किया कि—

इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। (भाष्य)

'दूसरे चेतन इन्द्रियोको ही आत्मा कहते है।'

मूलत यह पक्ष भी चार्वाक मत है। इन्द्रिय कहते है जो इन्द्रके द्वारा सृष्ट हो अर्थात् आत्माने ही जिनको वनाया हो और जो आत्मासे अनुगत हो :

इन्द्रसृष्ट इन्द्रजुष्ट इन्द्रदत्तम् इन्द्रिय-इन्द्रियम् ।

इन्द्रके उपकरणका नाम इन्द्रिय है। यह इन्द्र जो हृदयमे वैठा हुआ स्वर्गका राजा है, उसके आस-पास रहनेवाली जो अप्सराएँ है वे इन्द्रियाँ है। ये ऊँची-नीची कल्पनाओके रूपमे रहती हैं - ऐसा देखेगे, ऐसा खायेगे, ऐसा सुनेगे इत्यादि। यह इन्द्र इन्द्रिय वृत्तियोके सम्पर्कसे मुखका अनुभव करता है, इसलिए इनको इन्द्रियाँ वोलते है। इन्द्र देवता है **दीव्यति इन्दति ।**

यह इन्द्रियोंके साथ खेलता है। इन्द्रकी क्रीडाकी सामग्री होनेसे इन्द्रियोको इन्द्रिय वोलते है।

चार्वाक पक्षकी भाँति ही इस मतका निराकरण हो सकता है। इस पक्षमे मुख्य कमजोरी इन्द्रियोकी अनेकता है। अनेक आत्मा हो नही सकता (अर्थात् मै अनेक नही हो सकता) और अनेकको एक सूत्रमे बाँधनेके लिए उन अनेकसे अन्वित तथा व्यतिरिक्त कोई अलग मै होना चाहिए। फिर स्वप्नमे इन्द्रियोके न रहनेपर भी ज्ञान होना है, इससे भी सिद्ध है कि इद्रियाँ ही आत्मा (ज्ञानालम्बन) नही है।

इसपर मनको आत्मा माननेवालोने कहा कि मन आत्मा है

मन इत्यन्ये । (भाष्य)

मनवादियोका कहना है कि जाग्रतमे ज्ञान मनको ही होता है, इन्द्रियाँ तो उसकी करण है और स्वप्नमे भी इन्द्रियोके न रहनेपर मन शेष रहता है। उसीको स्वप्नका ज्ञान होता है। अत. मन ही ज्ञानालम्बन आत्मा है। श्रुतिमे भी मनको आत्मा वताया है।

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। (तैत्ति० ६ ३)

(प्राणमयके भीतर और उससे भिन्न अत्मा मनोमय है)।

'अहम्' का बहुवचन नही होता जैसे त्व और स के होते हैं।

'तत्' शब्द है और उसके एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमे रूप होते हैं (क्रमश)—स, तौ, ते (वह दोनो, वे सब)। इसी प्रकार 'युष्मद्' शब्द है और उसके रूप है (क्रमश.)—त्वम्, युवाम्, यूयम्। 'अस्मद्' शब्द है और उसके रूप है (क्रमश.)—अह, आवाम्, वयम्। अब देखो तत्का बहुवचनमे है 'ते', युस्मद्का वहुवचनमे है यूयम्। और अस्मद् का ? वयम्। अस्मद्का कौनसा अक्षर वयम्मे है—भला बताओ तो ? कोई नही। अतः वयम् अस्मद्का रूप नही है, वस्तुत विवर्त है। साराश अहम् प्रति शरीर अनेक प्रतीत होता हुआ भी अनेक नही होता। अनेकता एक आत्माका विवर्त ही है।

तो देह जड, दृश्य, सघात होनेसे आत्मा नही है और इन्द्रियाँ अनेक होनेसे आत्मा नही है। मै देखता हूँ, मैं नही देखता हूँ, मै सुनता हूँ, मैं नही सुनता हूँ, मै सोचता हूँ, मैं सकल्प करता हूँ इत्यादि अनुभववाक्य मैको इन्द्रियोंसे भिन्न तथापि इन्द्रियोंमें ओतप्रोत मनको आत्मा बताते है। ज्ञानदृष्टि और अहबुद्धिका आश्रय मन है। यह वात स्वप्नमे स्पष्ट हो जाती है।

अव देखो इसपर विचार करो।

इतनी सूक्ष्म गति है मनकी, इतनी तीव्र गति है मनकी कि वायु और शब्द भी उसकी बराबरी नही कर सकते। ये सामने दो अगुली है। लगता है कि ये अगुली एक साथ दीख रही हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि मनकी नेत्रवृत्ति प्रथम पहिली अगुलीको देखती है, फिर अगुलियोके बीचके आकाशको देखती

है और तब दूसरी अगुलीको देखती है। मनकी यह सूक्ष्म गति पकड़मे नही आती।

अच्छा, इस तीव्रगामी मनका रूप, रग, आकार, वजन क्या है? कभी आपने देखा? दिनमे हजार बार हजार रूप-वेश धारण करता है, लाख बार सुखी, दु खी, ज्ञानी, अज्ञानी होता है यह मन, परन्तु क्या इसके परिवर्तनमे आप ऐसा अनुभव करते हैं कि आप भी बदल गये। बदलनेसे दीखते हुए भी 'मै वही हूँ जो पहिले सुखी था' यही बोध होता है। अत. मन मै (आत्मा) नही हो सकता। फिर सुषुप्तिमे मनके न रहनेपर अभावका अनुभव कौन करता है? इसलिए भी मन ज्ञानका आलम्बन (आत्मा) नही हो सकता।

इस बहुरूपिया मनको जो 'मै' मान लेगा उसके दुखोका अन्त कैसे होगा? ससारमे दु खी व्यक्ति ही वह है जो मनमे आयी बातको ही ठीक मान लेता है। मनमे क्रोध आया तो मै क्रोधी, लोभ आया तो मै लोभी, काम आया तो मै कामी। परन्तु जब वेग समाप्त हुआ तब? तब मै दु.खी, पश्चातापी। यह सब बताते है कि मन आत्मा नही है।

मनमे जो सकल्प-विकल्प, भाव, विकार आते है उनके साथ हम अपना तादात्म्य बनाये या न बनाये इसका स्वातन्त्र्य हमको है। जिसका निषेध हो सके, वह आत्मा नही हो सकता।

मनका नियामक बुद्धि है, अत. बुद्धि आत्मा है। जहाँ मन बुद्धिका अनुगामी होता है वहाँ उत्थान होता है और जहाँ मन बुद्धिपर हावी होता है अथवा जहाँ बुद्धि मनकी अनुगामिनी होती है, वहाँ पतनका मार्ग है।

घरमे बैठे है। ठड लगी। गरम कपड़ा चाहिये, यह बुद्धिमे निश्चय हुआ, मनको हुकुम मिला। तत्काल पैरसे गये और कपड़ा

ले आये। यह बुद्धि-नियन्त्रित मनकी बात है। इसके विपरीत मार्गमे चल रहे है। रास्तेमे देखा किसीको अच्छा कपडा पहिने। लुभा गयी आँखें, लुभा गया मन। बुद्धिने वितर्क किया तेरे पास कपडा है तुझे क्यो चाहिए ? दबा दिया मनने ऐसा कहाँ है ? हमारे पास यह कपडा तो होना ही चाहिए। बुद्धिने कहा तेरे पास पैसा कहाँ है इसे खरीदनेको ? मनने कहा चोरीसे ले लेगे। बुद्धिने अन्तत कहा ठीक है करले चोरी खरीद ले कपडा। यह मन-नियन्त्रित बुद्धिका उदाहरण है।

अबसे २४ साल पहिले हमे एकने बताया था कि उनका ड्राइगरूम (बैठक) करोड रुपयेसे अधिककी वस्तुओसे सजा है। पैरिस गये तो जो वहाँ पसन्द आगया ले आये। लन्दन गये तो जो वहाँ पसन्द आगया सो ले आये। इस तरह प्रत्येक वस्तु कमरेको सजानेके लिए इकट्ठी की गयी थी। अब ठीक है तुम्हारे पास रुपया है परन्तु इस तरह खर्च करनेमे भोग क्या है ? न तो रुपया और वस्तुओको तुम साथ ले जाओगे और न यही निश्चित है कि वह तुम्हारे असली बेटे-पोतोका मिलेगी। इस रुपयेसे महान् कार्य हो सकता था। तो यह सब मन-नियन्त्रित बुद्धिका मार्ग है जो मनुष्यको पतनकी ओर ले जाता है।

सामान्यतया प्राकृतिक नियमके अनुसार मनकी गति बुद्धि-पूर्वक ही चलती है—हिताहितका विचार करके बच्चोकी यह गति अनुकरणात्मक ढगसे चलती है और मनीषियोकी विचार पूर्वक होती है।

अब यह बुद्धि जो आत्मा है वह क्या है ? तो कहा कि यह विज्ञानमात्र है।

विज्ञानमात्रं क्षणिकम् इत्येके। (भाष्य)

क्षणिक विज्ञानवादी (योगाचार बौद्ध) का मत है कि क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि ही आत्मा है।

विज्ञानकी धारा वह रही है। उनके झटकेसे प्रत्यय वनते रहते हें, विगडते रहते हे। जैसे पहिले प्रत्यय वैसे वादके प्रत्यय। ये प्रत्यय (बुद्धि) क्षणिक होते है, अपनी उत्पत्तिके क्षणसे दूसरे क्षणमे नष्ट हो जाते हैं।

'विज्ञानमात्रम्' मे मात्रके प्रयोगसे वताया कि बुद्धिवादीकी आत्माका उपादान केवल विज्ञान ही है। विज्ञानके आत्मा होनेमे श्रुति प्रमाण भी है।

अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमय : (तैत्तिरीय २-४)

(मनसे भीतर और मनसे भिन्न आत्मा विज्ञानमय है)।

अव इसपर विचार करो। यदि मै क्षणिक हूँ तो प्रत्येक क्षण मैं मर जाता हूँ और नवीन उत्पन्न होता हूँ, फिर भूत और वर्तमानका समन्वय कैसे होता है ? सुषुप्तिमे बुद्धि नही रहती फिर भी ज्ञान शेष रहता है, मै तो रहता हूँ। वह शेषज्ञान बुद्धि नही है। तव बुद्धि आत्मा कैसे ? विज्ञान क्षणिक है परन्तु क्षणिकताका विज्ञान किसको होता है ? मै तो बुद्धिकी क्षणिकता, बुद्धिकी निश्चितता, बुद्धिका अभाव, सवका साक्षी हूँ। अत मै (आत्मा) बुद्धिसे भिन्न और बुद्धिसे अतीत होना चाहिए।

देखो, यदि केवल अह-अह होता और उसके साथ अस्मि-अस्मि (हूँ, हूँ) न होता तो ? तो विना मिट्टीका घडा होता ! जैसे घडा सत्य है, तो क्या केवल घटके आकारको सत्य वोलते हो या उसके साथ जो लगी माटी है उसके सहित घटको सत्य वोलते हो ? घट आकृतिमात्र है और उसमे जो मिट्टी है वही सत्य है।

वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

यह जो अह-अह है वह घड़ा है, घडेका आकार है। उसमे जो अस्मि है, वह सत्ता है, वह मृत्तिका है, वह सत्य है। जो चिनगारी है वह घट है, घटका आकार है, उसमे जो अग्नि है वह मृत्तिका है वह सत्य है। श्वास घट है, घटका आकार है, उसमे जो वायु है वह सत्य है। शरीरके भीतरका अवकाश घट है, घटका आकार है; उसमे जो महाकाश है व मृत्तिका है, वह सत्य है।

अहमस्मि, अहमस्मि, अहमस्मि यह तीन बार स्फुरण हुआ; प्रथम कालमे प्रथम अहम्। परन्तु अस्मित्व सब कालोमे एक है। अस्मि एक है, वर्तमान कालमे है, प्रत्यक्ष है और अस्तिमात्र है, अर्थात् क्रियाशील नही है। अह प्रत्यय है, तरगके समान और अस्मि स्वसत्ता है जलके समान। अहं है नीलिमाके समान और अस्मि है आकाशके समान। अहं है चलती श्वासके समान और अस्मि है वायुके समान।

मनमे बदलती वृत्तियाँ हैं—अहं, अह, अह। उनमे जो एक विज्ञान है वह आत्मा है अहमाकार—इदमाकार क्षणिक बुद्धियोकी धारा आत्मा नही है।

अच्छा, अब आगे चले।

प्रसग यह चल रहा है कि 'अह-अह' यह जो प्रत्यय सबको अनुभव होरहा है उसका आधार, उसका आलम्बन क्या है? त्वं-पदवाच्यार्थका वह असली स्वरूप क्या है जिसकी श्रुति तत्पदके साथ एकता बताती है।

इसके उत्तरमे अबतक जो विकल्प उठाये वे थे . देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि।

चार भूतोंसे उत्पन्न देहमे जो चैतन्य रस है, वही आत्मा है; वही अहं-अहं प्रत्ययका आलम्बन है—यह चार्वाक-मत है। परन्तु

यह उत्पन्न रस क्या तत्-पदार्थसे एक होनेके योग्य है ? यह तो उत्पन्न हुआ है और मर जायेगा। कालमे पहिले नही था और कालमे वादमे नही रहेगा। इसके विपरीत तत्-पदार्थ तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' बताया गया है। उसका प्रागभाव और प्रध्वसाभाव नही है। फिर उसकी देहरूप आत्मासे एकता कैसे संभव हो सकती है ? अत श्रुतिके अनुसार देह आत्मा नही है। देह तो जड़ है। 'मै हूँ' को जानने वाला मै हूँ। तो क्या जड सोचता है कि जाननेवाला मै हूँ ? भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशावल्यको सब वृत्तियोको, क्या जड़ देह जानता है ? नही भाई, इनको जाननेवाला जड़ नही चेतन है।

इन्द्रियाँ आत्मा नही है क्योकि वे अनेक है। मन आत्मा नही है क्योकि वह परिवर्तनशील है। मन और इन्द्रियाँ काल पाकर अथवा रोगसे अशक्त हो जाती है। विकार उनके स्वभावमे है, फिर भला वे तत्-पदके साथ एक्यकी योग्यता कैसे रख सकती है ?

अब रहा विज्ञान, अथवा बुद्धि। वुद्धि पौरुषेय ज्ञानका आधार है। इन्द्रियाँ जो संवित् भीतर भेजती हैं उन्हीको इकट्ठा करके हमारी बुद्धि बनती है। कल आँखने वस्तु देखी। वस्तुका संस्कार बुद्धिमे रह गया। आज वस्तु फिर देखी। संस्कार कलका आज स्मृतिरूपमे उदय होगया। विज्ञान एक चिद् धातु है, बाहरसे (इन्द्रियों द्वारा) विज्ञानको पकडना और पकड़े हुएको बाहर निकालना—यह उसका स्वभाव है। उसमे बहुत-से विज्ञान आते-जाते रहते है। एक धारा भी कालके अन्दर उसमे बहती रहती है।

विज्ञानमे मुख्यत. तीन धाराएँ हैं : द्रव्यकी, देशकी, कालकी। चार्वाक लोग द्रव्यके साथ तादात्म्य करके देहको आत्मा बताते हैं। जैन लोग देशके साथ तादात्म्य करके आत्माका वर्णन करते

है—यथा आत्मा सिद्धशिलापर वैठती है, अलोकाकाशमे भ्रमण करती है तथा चीटी और हाथीके शरीरोके आयामके अनुसार सकोच-विस्तारको प्राप्त होती है। बौद्धलोग कालके साथ तादात्म्य करके 'क्षणिक क्षणिकम्'वाले विज्ञानकी धाराको आत्मा वताते है। वास्तवमे, द्रव्याकार, दिक्तत्त्वाकार, कालाकार परिणत वुद्धिके साथ तादात्म्य करके अहमर्थको स्वीकार करनेकी पद्धति है यह।

परन्तु इन तादात्म्योका साक्षी कौन है? 'मै-मै' यह ज्ञान है, ज्ञात होता है, अत इसका प्रकाशक चैतन्य होना चाहिए। देश, काल, द्रव्य सब सव साक्षी भास्य है। देशाकार वुद्धि, कालाकार वुद्धि, द्रव्याकार वुद्धि और इनके अभावाकार वुद्धिका जो साक्षी है वह चेतन है। वही आत्मा है।

इसी श्रृंखलामे अव एक विकल्प और उठाते हैं। कहते है .

शून्यमित्यपरे (भाष्य)

दूसरे कुछ लोग कहते है कि आत्मा शून्य है। यह शून्यवादी माध्यमिक वौद्धोका मत है। इनका कहना है कि अह-अह यह जो ज्ञान है वह सुपुप्तिमे नही रहता। तव वहाँ क्या रहता है? कुछ नही। अथवा वहाँ असत् रहता है। छान्दोग्य उपनिपद्की श्रुति भी है-

असदेवेकमग्र आसीत् असत : सज्जायत (छा० ६ २ १) अर्थात् आरम्भमे यह एकमात्र असत् ही था, असत्से सत्की उत्पत्ति हुई।

तो सुषुप्तिमें अह-वृत्तिका असत्में लय हो जाता है और जाग्रत होनेपर उसी असत्मेंसे 'अह-अह' रूप ज्ञान वाहर निकल आता है। अत शून्य अथवा असत् ही अहम्का आलम्बन है, वही आत्मा है।

असदालम्बनः अहं धी

यह जो अह बुद्धि है वह असदालम्बना है।

यह शून्य एक ऐसा रेगिस्तान है जिसमे बालूका एक कण नही है, एक ऐसा जगल है जिसमे कोई वृक्ष नही है, एक ऐसी अग्नि है जिसमे ज्वाला नही है, एक ऐसा जल है जिसमे कोई जल-बिन्दु नही है, एक ऐसा आकाश है जिसमे घटाकाश, मठाकाश नही है।

अन्त.शून्य बहि शून्यं शून्यकुम्भमिवाम्बरे।

असलमे बौद्ध लोग इस शून्य तत्त्वको चतुष्कोटि अनिर्वचनीय मानते है। इसीसे अह-बुद्धिका उदय होता है और इसीमे अह-बुद्धिका अस्त होता है। अत शून्य ही आत्मा है।

भगवान् शकराचार्यसे किसीने कहा · **'शून्यम् तत्'** अर्थात् वह परमार्थतत्त्व शून्य है। उन्होने तुरन्त प्रतिप्रश्न किया **स साक्षितं निस्साक्षित वा**? अर्थात् उस शून्यका कोई साक्षी है या नही?

यदि शून्यका साक्षी है तो परमार्थ तत्त्व साक्षी सिद्ध होता है, और यदि शून्यका कोई साक्षी नही है तो शून्य कल्पित सिद्ध होता है। 'मै शून्य हूँ' यह अनुभूति भी किसीको नही होती। उल्टे 'मै हूँ' इसका ज्ञान होता है। 'अहमस्मि' इस वृत्ति-ज्ञानका प्रकाशक और सुषुप्तिके अहमाकार-वृत्तिके अभावका प्रकाशक शून्य नही हो सकता, वह कोई चेतन ही होना चाहिए। फिर यदि मान भी ले कि अहम्का आलम्बन शून्य है तो क्या उस शून्यमे तत्-पदार्थके साथ ऐक्यकी योग्यता हो सकती है? नही। इसलिए भी श्रुत्यर्थ-निश्चयमे आत्मा शून्य नही हो सकता।

एक शून्यता है और एक शून्यतासे व्यतिरिक्त अस्तित्व है। जैसे 'घडा है' इसमे 'घडा' और 'है-रूप' उसका अस्तित्व—ये

दो चीजे है। कम्वुग्रीवादिवान आकृति विशिष्ट घडा है, परन्तु घडेकी सत्ता कम्वुग्रीवादिवती नहीं है, उससे विलक्षण है। घडा, सकोरा आदि आकृतियोमे वैषम्य है परन्तु मिट्टीसे बनी उन आकृतियोंके अस्तित्वमे विषमता नही है। 'घडा है' 'सकोरा है' इनमे 'है'रूप सत्ता न घडेकी है और न सकोरेकी, वह उनके उपादान मिट्टीकी है। मृत्तिका ही सत्य है, आकृतियाँ मिथ्या है।

इसी प्रकार 'मै ब्राह्मण हूँ, मै सन्यासी हूँ, मै जीव हूँ, मै सत् हूँ, मै असत् हूँ', इन सबमे ब्राह्मण, सन्यासी, जीव, सत्, असत्,—ये सब आकृतियाँ हैं और इनमे सत्तासामान्यरूपसे 'हूँ' मृत्तिकाकी भाँति ओतप्रोत है। ये सब ज्ञानस्वरूप सत्तासामान्य ही अहम्का आलम्बन है।

जैसे घटका आलम्बन मृत्तिका है, जैसे पटका आलम्बन तन्तु है, ऐसे ही अहमस्मिका आलम्बन अहमस्मिका प्रकाशक ज्ञान है। यही आत्मा है। वह शून्यसे व्यतिरिक्त है, शून्यमे अनुगत है, शून्यत्वका प्रकाशक है।

रज्जुमे रज्जुके अज्ञानसे प्रतीयमान सर्प कहाँ है ? वह रज्जुमे नही है। वह तो वही है जहाँ रज्जुकी कल्पना है। अर्थात् अन्त -करणमें है। रज्जुके अज्ञानसे उस सर्पको रज्जुमे समझ रहे हो। इसलिए जो अन्त करणका प्रकाशक है वही सर्पका अधिष्ठान है। जो कल्पनाका अधिष्ठान है उसीमे सर्प प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह होता है कि सर्प कल्पनाका प्रकाशक और अधिष्ठान मै हूँ।

इसी प्रकार यह जो जगत् प्रतीत होरहा है (सर्पकी भाँति) उसका अधिष्ठान अन्त करण है और अन्त करणका प्रकाशक 'मै' हूँ। अत मुझको मुझमे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होरहा है।

'मैं हूँ' यह भी प्रतीति है। इस अस्मिका जो प्रकाशक है—मैं, वही अहमस्मिका आलम्बन है, वही आत्मा है। 'मैं हूँ' यह

प्रत्यभिज्ञा स्थायी है, भ्रान्ति नही है क्योकि स्वानुभूति है। अपना अस्तित्व सादृश्यके अधीन नही है। यह घट-सदृश पट-सदृश प्रत्यय नही है। फिर इसका आलम्बन शून्य कैसे हो सकता है ? अरे बाबा ! कही असत्से सत्की उत्पत्ति होती है। कही शून्यसे, ज्ञानाभावसे अहमस्मि ज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है? **'शून्यम् ततः'** **'अस्ति शून्यम्'** ऐसा अनुभव होता है, मै शून्य हूँ ऐसा अनुभव नही होता और यदि किसीको होता भी हो, तो भी इसमे मैकी ज्ञानस्वरूपता अखण्ड ही रहती है।

उपनिषदोमे जहाँ आत्माकी निष्प्रपञ्चताका वर्णन है वहाँ एक जगह 'शून्यम्' शब्दका प्रयोग है। यह या तो कौपीतिकी उपनिषद्मे है या मैत्रेय उपनिषद्मे है। ठीकसे याद नही है। परन्तु वहाँ शून्यका अर्थ प्रपञ्चशून्य है, स्वरूपशून्य नही है।

उपनिषद्मे शून्य शब्दका प्रयोग होनेसे शून्यमतावलम्बी भी भारतीय ही है। विचारकी अलग-अलग कक्षाओमे सब मत स्वीकार किये जा सकते है।

जहाँ अहम्का आलम्बन दृश्यमे ढूँढा जायेगा वहाँ अन्तमे या तो अहम्को जडका विकास जाड्य मानना पडेगा और या तो दृश्यके अभावको, शून्यको, उसका आलम्बन मानना पड़ेगा। और जहाँ अहम्का आलम्बन द्रष्टामे ढूँढा जायेगा वहाँ चेतन-ब्रह्मकी, शून्याशून्यसाक्षीकी उपलब्धि होगी। अब दृश्यका, चाहे शून्य हो या अशून्य, बिना द्रष्टामे अस्तित्व ही नही है। अत परमार्थमे अहमालम्बनके रूपमे चेतन ब्रह्म ही स्वीकार करने योग्य है। अपने चेतन होनेमे किसी प्रमाणकी आवश्यकता नही है। अस्तु।

यहाँतक नास्तिकमतोका उल्लेख हुआ। अब भगवान् भाष्यकार आस्तिकमतोका उल्लेख करेगे। ●

(८.६)

ब्रह्मजिज्ञासा-पद-विचार–५

आत्माके विशेषस्वरूपके प्रति विवाद

(आस्तिकमत)

अस्ति देहादिव्यतिरिक्त ससारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवल न कर्तेत्येके अस्ति तद्व्यतिरिक्ति ईश्वरः सर्वज्ञ सर्वशक्ति-रिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। (भाष्य)

दसरे लोग कहते हैं कि देहादिसे भिन्न ससारी, कर्ता, भोक्ता आत्मा है, (वही 'अहमस्मि इस ज्ञानका अवलम्बन है)। यह पूर्व-मीमासा तथा न्यायादिका मत है। कोई ऐसा मानते है कि

आत्मा केवल भोक्ता है, कर्ता नही है। यह साख्यमत है। कोई कहते है कि जीवसे भिन्न ईश्वर है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है वह ईश्वर ही भोक्ता जीवका आत्मा है। यह ईश्वरवादी उपासकोका मत है। **'आत्मा स भोक्तुरित्यपरे'** एक दूसरा अर्थ भी होता है -

भोक्तुः मम स सर्वज्ञः ईश्वरः आत्मा इति अपरे।

मुझ भोक्ताका आत्मा ही वह सर्वज्ञ ईश्वर है, ऐसा दूसरे लोग कहते हैं। यह वेदान्तमत है।

अब इन विपयोपर विचार प्रारम्भ करते है।

आस्तिकोंका मत है कि अहमस्मि प्रत्ययका आलम्बन देहसे अलग, आने-जानेवाला, कर्ता, भोक्ता चैतन्य है इस चैतन्यकी संज्ञा जीव है।

असलमे चैतन्य संसारी, कर्ता, भोक्ता है नही, होता नही है, बस, अज्ञानसे ऐसा प्रतीत होता है। चैतन्यात्माके सदंशकी प्रधानतासे आत्मामे द्रव्यकी भ्रान्ति हो रही है, चिदशकी प्रधानतासे भोगकी भ्रान्ति हो रही है और आनन्दांशकी प्रधानतासे सुखकी भ्रान्ति होरही है। विषयमे सत्ता होना (अस्ति), विपयका भासना, प्रतीति होना (भाति) और विषयका सुखरूप होना (प्रिय), ये सच्चिदानन्दके सदश, चिदश, और आनन्दाशकी भ्रान्तियाँ है। आत्मा है सच्चिदानन्द। जब वह विषयको सत्ता देता है तो अपनी सत्ताको ही अन्यमे डाल देता है जब वह विषयको ज्ञानस्वरूप समझता है तब वह अपनी चित्ताको ही अन्यमे डाल देता है। जब वह विषयको सुखरूप समझता है तब वह अपनी आनन्दरूपताको ही अन्यमे डाल देता है। इस प्रकार विषय तो हो जाता है सच्चिदानन्द और आत्मा अपनी सच्चिदानन्दरूपताको खो बैठता है।

वाणिया लोग, लडाकू लोग कहते है कि अन्य ही सत्य है और उसके सामने 'मै' कुछ नही। अव देखो, सवको जाननेवाला तो मै—लोकको-परलोकको, इनके होनेको, न होनेको, कार्यको, कारणको, जगत्को, प्रकृतिको, ईश्वरको, इन सवको जाननेवाला 'मैं' और 'मै' ही तो कुछ नही ? आज हमारा 'मैं' मशीनोके आगे घुटने टेक रहा है। अपना आनन्द अपने पास नही रह गया . वह अन्यमे यात्रा करने चला गया है।

जो लोग अपनेको आनन्द और ज्ञान मानते भी है वे भी अपनेको अल्प-आनन्द और अल्पज्ञानवाला मानते है। यह क्या है ? यदि वे अपनेको देह न मानते तो अपनेको अल्पसत्तावाला क्यो मानते ? यदि वे अपनेको देह न मानते तो अपनेको अल्पज्ञान-वाला क्यो मानते ?

हुआ यह कि अपने सत्रूपमे भ्रान्ति होकर अपनेको शरीर मान वैठे। अपने चित्रूपमे वृत्तिरूपसे भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पज्ञ मान वैठे और अपने आनन्दरूपमे विशेप सुखकी भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पभोक्ता या अल्प-आनन्द मान वैठे।

जव आप देहमे कर्मेन्द्रियोके साथ जुडते हैं, उन्हे अपनी मानते है तव आप कर्ता वन वैठते है। 'हाथवाला मै हाथसे मशीन चलाता हूँ' अत मै मशीन चलानेकी क्रियाका कर्ता हूँ—ऐसा आप मानते हैं। पाँववाला मैं चलता हूँ, जीभवाला मै वोलता हूँ, इत्यादि ये सव कर्ताभावके अन्तर्गत है। कर्मेन्द्रियोवाला 'मैं' और उनसे जो कर्म होता है उसका कर्ता 'मै'। अपनेको कर्मेन्द्रियोके साथ और कर्मे-न्द्रियोको अपने साथ मिला लिया। यह परस्पराध्यास है।

इसीप्रकार ज्ञानेन्द्रियोके साथ जव आप जुड़ते है तव आप अपनेको ज्ञाता मानते है। जव आप प्रिय-अप्रिय सस्कारोके साथ जुडते हैं तो आप अपनेको भोक्ता, सुखी, दु खी मानते हैं।

जब आप अपनी वासनाके साथ जुड़ते है तब अपनेको गमनागमन करनेवाला ससारी मानते हैं। आप सत्संगमे आये मोटरमे। सत्संगकी इच्छाने आपसे मोटर स्टार्ट करायी न ? ऐसे ही मनुष्यको मरणोपरान्त लोकलोकान्तरमे ले जानेवाली वासना है।

तो देहके संसर्गसे आप अपनेको जन्म-मरणवाला, वासनाके संसर्गसे संसारी, कर्मेन्द्रियोंके संसर्गसे कर्ता, ज्ञानेन्द्रियोंके संसर्गसे ज्ञाता, प्रिय-अप्रियके संसर्गसे भोक्ता, बुद्धिके संसर्गसे मूर्ख-बुद्धिमान् मानते है। ये सब आत्मामे अध्याससे प्रतीत होते है वास्तवमे है नही।

इतना सब लवाजमा अपने साथ जोडकर यह चैतन्यात्मा जीवात्मा बना हुआ है और देहसे व्यतिरिक्त होकर इस 'नवद्वारे पुरे देही' रूप नगरीका राजा बना हुआ है तथा संसारी, कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है।

देहमे बैठनेका हेतु क्या है ? अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति। यह भ्रान्ति क्यो ? अपनी अपरिच्छिन्नताके अज्ञानसे।

अपने आपको न जानना अज्ञान है और उल्टा जानना भ्रान्ति है।

अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्म न जानना यह मनुष्यका प्रथम अपराध है। अपनेको परिच्छिन्न जीव मानना, यह दूसरा अपराध है। अपनेको वासनावान् जानकर संसारी मानना यह तीसरा अपराध है। अपनेको प्रिय-अप्रियका भोक्ता जानना यह चौथा अपराध है। अपनेको कर्मेन्द्रियवाला कर्ता जानकर पापी-पुण्यात्मा मानना यह पाँचवाँ अपराध है। और अपनेको देह मानकर जन्ममरणवाला मानना यह छठा अपराध है।

इन छ. अपराधोसे ग्रस्त आत्मा जीव होता है। आत्मामे ये छ बाते कहाँसे आयी ? तो शंकर भगवान् आगे बतानेवाले है कि

अविचारसे ये आयी। विना विचार किये, विना गुरुकी शरण गये, विना वेदान्तके सत्सग किये, विना सोचे हुए ही 'गतानुगतिकी-न्याय'से आत्मामे ये आरोप स्वीकार कर लिये गये है।

अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इति अपरे।

ये जो अपरे हैं वे वेदान्ती नही हैं। वे तो मानते है कि देहमे देहसे न्यारा एक चेतन है जो संसारी, कर्ता, भोक्ता है और उसकी सज्ञा जीव है। अद्वैत वेदान्ती चैतन्यमे ससारित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और परिछिन्नत्व अविद्यासे भासते है ऐसा मानते है जव कि 'अपरे' (न्याय आदि) ये मानते हैं कि जीव वास्तवमे संसारी, कर्ता और भोक्ता है।

प्रश्न यह है कि अद्वैत वेदान्तमे आत्माका कर्ता, भोक्ता, ससारीपन मान्य है या नही ? प्रश्नोपनिपद्मे स्पष्ट आत्माको **'मन्ता वोद्धा कर्ता'** (प्रश्न० ४ ९) वताया गया है।

इसका उत्तर है कि विचारकी एक कक्षामे यह मान्य है। कक्षाके क्रमसे ही वेदान्तका स्वाध्याय होता है। इसीलिए उपनिषद्मे सब प्रकारके वाक्य मिलते है। यह वात इसलिए सुनाता हूँ कि आपके मनपर सनातनधर्मका सस्कार वना रहे और आप इसे हिन्दू-हिन्दू कहकर, पोथी-पोथी कहकर, इस सिद्धान्तका तिरस्कार न करने लग जाओ।

सृष्टिमे परिवर्तन स्वय हो रहा है। वचपन जवानी वन रहा है, जवानी वुढापा वन रही है। काले वाल सफेद हो रहे है। वीजमेसे अकुर निकलता है, वृक्ष वनता है, उसपर फल लगते है, फिर नष्ट हो जाता है। सृष्टिमे भाव-विकार सर्वत्र व्याप्त हैं। निरुक्तने इन्हीको कहा जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते और नश्यति। वस्तु उत्पन्न होती है, अस्तित्वमान होती है, वढ़ती है, वदलती है, क्षय होती है और नाशको प्राप्त हो जाती है। जवानी

बनाये रखनेके लिए कोशिश करनी पड़ती है, बुढापा लानेके लिए कोई कोशिश नही करनी पड़ती।

इसका अर्थ है कि विकार प्राकृत होते है जबकि सस्कार जान-बूझकर करने पडते है। यदि आधुनिक मनोविज्ञानकी रीतिसे आप अपनेको प्रकृतिकी दयापर छोड़ दोगे तो आपका आत्मा माटी-मे मिल जायेगा, राख हो जायेगा और बहुत समयके बाद अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त होगा, क्योकि आपने अपनी चैतन्यात्माको, जो जड़ प्रकृतिसे न्यारा है, प्रकृतिकी दयापर छोड दिया। जो विचार आया वैसा कर लिया। काम आया—भोग लिया, क्रोध आया—उबल पडे, लोभ आया चोरी करली। इन विकारोके वशीभूत होकर यदि आप काम करेगे तो उसका फल यह होगा कि क्रिया और विकार आपको प्रकृतिमे लीन कर देगे।

परन्तु इस विकृति और प्रकृतिके कार्य-कारणसे बचकर, सृष्टि और प्रलयसे बचकर, जन्म और मृत्युसे बचकरके, मुक्ति प्राप्त करें—इसके लिए क्या अपेक्षा है ?

इसके लिए हम अपनेको देहसे और विकारी पदार्थोसे अलग करे। अपनेको देहमे देहसे अलग कर्ता-भोक्ता मानना, यह भी विकारीसे अपनेको अलग करने की प्रक्रिया है।

हम चैतन्य है, जड नही है। जडमे सृष्टि, विकार और प्रलय होते है, चेतन्य जडसे न्यारा है।

यदि आप अपनेको देहसे न्यारा चेतन आत्मा जान जॉय, तो देहके बाहरके लोगोमे जो दु ख होता है वह आपको प्रभावित नही करेगा। क्या यह शोक और भयसे मुक्त होनेका स्पष्ट उपाय नही है ? सत्सगका, वेदान्त-विचारका फल इसी जीवनमे मिलता है। यह मरनेके बादकी चीज नही है। सत्सग कोई पुरोहितवाद नही है।

पुरोहितवाद क्या ? वेदकी व्यवस्था कई तरहसे होती है—पुरोहितवादकी रीतिसे, विज्ञानवादकी रीतिसे, इतिहासवादकी रीतिसे, मीमासकोकी रीतिसे, यज्ञवादकी रीतिसे, अधिदैववादकी रीतिसे, अध्यात्मवादकी रीतिसे, इत्यादि। और ये सब आपसमें लड़ते है। इतिहासवादी कहता है 'मीमासा मत करो'। मीमासक कहता है, वेदको इतिहास मत बनाओ। 'विज्ञानवादी कहता है : इसमें चेतनको मत जोडो।' पुरोहितवादी कहता है 'वेदार्थमें स्वर्ग-नरककी बात ज़रूर निकालो।'

आपको कर्म और भोगमे संकोच करना पडेगा क्योकि आपको को देहके कर्म और भोगसे अपनेको ऊपर उठाना है। तब आपको अपनेको विकारी नही क्रियावान् मानना पडेगा। श्रुतिमे उसको जो ब्रह्मज्ञानकी ओर बढता है विक्रियावान् नही क्रियावान् कहा गया है। वह जान-बूझकर कर्म करता है, जो अनजानमे विकार आते है उनके वशीभूत नही होता और उनके औचित्य-अनौचित्यका विचार करके कर्म करता है। इसमे औचित्य धर्म है और अनौचित्य अधर्म है।

इसप्रकार देहसे आत्माकी पृथक्ताका ज्ञान, उसके धर्मानुकूल कर्म और भोगमे कर्तापन और भोक्तापन और अधर्माचरणका त्याग—यह भी आत्मोन्नतिका मार्ग है। ससारी मानकर भी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त रहता है। विवेकका उदय होनेपर आत्मामे यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि उपहित करणकी उपाधिसे है, यह वोध हो जाता है।

अव साख्यमत प्रस्तुत करते है

भोक्तैव केवल न कर्तेत्येके। (भाष्य)

एके—कोई ऐसा मानते है कि आत्मा केवल भोक्ता है, कर्ता नही है। साख्यमतमे केवल प्रकृति कर्ता है और पुरुष केवल

भोक्ता है। श्रुतिमे **असंगो नहि सज्जेत' 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य'** आत्माके भोक्तृत्वमे प्रमाण है।

यह बात युक्तिके विरुद्ध है कि कोई वस्तु केवल कर्ता हो, या केवल भोक्ता हो। क्यो ? यदि आप पुरुषको केवल भोक्ता मानते है तो वह अवस्थाओका भोक्ता होगा, भोजनका भोक्ता होगा, स्त्री-पुरुषका भोक्ता होगा। माने भोक्ताके भोगोमे वैविध्य तो होगा न ! पर बिना कर्मके भोगमे वैविध्य आया कहाँसे ? प्रियताका वैविध्य तो स्पष्ट ही है। अत आत्मा केवल भोक्ता है यह बात युक्तियुक्त नही है। असलमे जो कर्ता है वही भोक्ता है, जो भोक्ता है वही कर्ता है।

अच्छा, कर्म और भोगमे कही सन्धि है ?

आप भोजन करते है तो वह कर्म है या भोग ? यदि केवल भोग ही है (अर्थात् केवल प्रारब्धजन्य फल ही है) तो उसमें केवल सुख-दु खका भोग ही होगा। फिर किसी समयका भोजन करनेसे पाप नही लगना चाहिए, क्योकि फलसे नवीन कर्मकी उत्पत्ति नही होती। दण्डका दण्ड नही होता। उदाहरणार्थ चोरी-का दण्ड कारावास हो सकता है परन्तु कारावासरूप दण्डका पुन दण्ड नही होता। अब भोजनरूप जो भोग है उसमे कर्म कहाँसे आता है ? भोजनको जो हाथसे उठाकर मुँहमे डालते हो उसमें हाथसे जो उठाना है वह कर्तृत्वपूर्वक उठाया गया है और जिह्वा-पर जो भोजनका स्वाद आता है उसमे भोक्तृत्व होता है। भोग ज्ञानेन्द्रियके द्वारा होता है और कर्म कर्मेन्द्रियके द्वारा होता है, भोग कर्मेन्द्रियसे नही होता। हाँ, जीभ और मूत्रेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी। इसीलिए ये सुखदु:खजनक भी है और पापजनक भी। बुद्धिपूर्वक हाथसे उठाया, मुँहसे चबाया, निगला

यह सब कर्तृत्वपूर्वक हुआ, इसलिए कर्तापन आया। कर्तापन आया तो निषिद्ध वस्तुके भोजनसे पाप और विहितके भोजनसे पुण्य, यह होगा। विधिका उल्लघन अत्यन्त अहंकार और वासनाके द्वारा होता है।

और लो—समाधि कर्म है या भोग ? स्पष्ट है आसन प्राणायाम कर्तृत्वपूर्वक किया, तब समाधि लगी। इसलिए समाधि कर्म है। समाधि योगका फल नही है। योगका फल तो द्रष्टाका स्वरूपमे अवस्थान है। समाधि तो साधन है, कर्म है, कर्मके द्वारा निष्पाद्य है, स्वय कर्मसस्काररूप है क्योकि टूटती है (सहज होती तो टूटती नही)।

कर्म और भोगकी सन्धि कही नही है और कर्ता तथा भोक्तामे पृथक्त्व नही है। जो कर्ता सो भोक्ता, जो भोक्ता सो कर्ता। जहाँ कर्म होगा वहाँ भोग होगा। जहाँ भोग होगा वहाँ कर्म होगा। चलना कर्म है परन्तु उसमे तकलीफ या मज़ा आना भोग है। चलनेकी क्रियामे स्वातन्त्र्य है परन्तु भोगमे ? भोगमे आप स्वतन्त्र है या नही ? यदि स्वतन्त्र्य होते तो दु ख क्यो भोगते हैं ? निरन्तर सुखी क्यो नही रहते ? क्या भोगमे स्वातन्त्र्य कही चरने चला जाता है ?

जहाँ कर्ता-भोक्ता वास्तविक है वहाँ स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य भी वास्तविक होते हैं। उसी कक्षामे एक अलग सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की जाती है, जो जीवका नियन्त्रण करता है परन्तु जहाँ (अद्वैतमें) कर्ता-भोक्ता अवास्तविक है अर्थात् अपने स्वरूपके अज्ञानसे कल्पित हैं, आरोपित हैं, प्रतीयमान है, वहाँ आत्माके स्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्यकी अवास्तविकताका ज्ञान हो जाता है। वहाँ कर्ता-भोक्ता जीवका आत्मा ही ईश्वर है, यह बोध हो जाता है।

साख्य जिस ससारको सत्य मानता है, वेदान्तमे वह अज्ञानीके लिए है। प्रकृतिका द्रष्टा पुरुष अज्ञानदशामे कर्म और भोगसे युक्त है इसलिए वह परिच्छिन्न है और संसारी है तथा अपरिच्छिन्नताका अज्ञानी है। द्रष्टाका जो स्वरूपमे अवस्थान है वह भी अज्ञानसे कलुषित होनेके कारण वास्तविक नही है क्योकि द्रष्टाका द्वैत-भ्रम अभी मिटा नही है, उसके लिए दूसरा दृश्य, दूसरा ईश्वर, दूसरा द्रष्टा यह ससार बना हुआ है।

वेदान्तमे पाप किसको मानते है? कार्य-दृष्टिकी प्रधानता ही पाप है। रज्जुको न देखकर साँप देखना पाप ह। शुक्तिको न देखकर रजत देखना पाप है। क्योकि भ्रम-दृष्टि है। दृष्टि ही भटक गयी है।

तो फिर कारणदृष्टिकी प्रधानता पुण्यदृष्टि होगी? हाँ, परन्तु कारण विवर्ती है परिणामी नही। जेवरदृष्टि छोडकर स्वर्णदृष्टि—ऐसा नही, यह तो परिणामी कारणका उदाहरण है। बल्कि सर्पदृष्टि छोडकर रज्जुदृष्टि, रजतदृष्टि छोडकर शुक्तिदृष्टि—यह विवर्ती कारणके उदाहरण है। यहाँ कारणमे तीनकालमे कार्य हुआ ही नही है। यदि शुक्तिदृष्टि छूट गयी तो लोभरूप पापजनक दृष्टि होगी और यदि रज्जुदृष्टि छूट गयी तो भयजनक दृष्टि होगी।

वाल्मीकिरामायणमे आया है

योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृत पाप चौरेणात्मापहारिणा॥

होवे तो शूद्र, और बतावे अपनेको ब्राह्मण, तो वह पापी होगा। होवे तो ब्राह्मण, और बतावे अपनेको चाण्डाल! तुम हो तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अद्वयब्रह्म और बताते हो अपनेको पापी, पुण्यात्मा, परिच्छिन्न जीव! इससे बडा और पाप क्या होगा!

देहरूप कार्यदृष्टि, अन्त करणरूप कार्यदृष्टि और भ्रान्तिरूप कार्यदृष्टि—यह दृष्टि मत रखना। वेदान्तकी दृष्टिसे यही पाप-पुण्यकी व्याख्या है कि 'अद्वैत दृष्टि ही पुण्य है और द्वैत दृष्टि ही पाप है।'

अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन् निमिषमच्युतम्।
भूय तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥

अच्युत आत्माका निमिप भरका ध्यान भी अतिपाप-प्रसक्तको भी पङ्क्तिपावनपावन बना देता है। एक क्षणका जागरण कोटि-कोटि वर्षोके स्वप्नोका बाधक है। भगवान्ने गीतामे कहा

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिन सतरिष्यसि।

इसी प्रसगमे रत्नप्रभाने कहा कि कर्ता-भोक्ता ससारी जीव है तो इसकी तो विना ईश्वरके चलेगी ही नही। ईश्वर तो इससे अलग मानना ही पडेगा। क्योकि जीवके कर्म, भोग और ससरण-मे जीवका स्वातन्त्र्य नही हो सकता, परिच्छिन्न होनेके कारण, देहमे रहनेके कारण। तव जीव किसके परतन्त्र है? तो कहा कि इस जीवसे भिन्न एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर है, उसके जीव पर-तन्त्र है। वही जीवका अवलम्वन है।

अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्ति इति केचित्।

यह उपासकोका मत है।

जीव और ईश्वर दोनो चेतन है। परन्तु जीव देह-परिच्छिन्न, अल्पकर्ता, अल्पभोक्ता और ससारी है। इसीलिए वह परतन्त्र है। परन्तु ईश्वर सर्वकर्मा होनेसे अनन्तकर्ता या सर्वशक्ति है, सर्वकाम होनेसे अनन्तभोक्ता है, सर्वरूप होनेसे सर्वज्ञ है और उसका शील ही शासन है अत ईश्वर है। ईश्वर जीवका नियामक है और जीव ईश्वरके परतन्त्र है।

शील अर्थमे वरच् प्रत्यय होता है तब ईश्वर शब्द बनता है

ईशितुम् शीलम् अस्य इति ईश्वरः ।

जिसका शील ही हो शासन करना, स्वभाव ही हो लोगोको हुकूमतोमे रखना, वह ईश्वर कहलाता है। ऐसा न हो तो उसकी तो ईश्वरता ही चली जायेगी। एक-एक मच्छर भी उसके सामने सिर उठाने लग जायेगे।

तो ईश्वर कौन ? जिस चेतनका शील ईश्वरता हो, सब कुछ जानता हो, सब कुछ कर सकता हो और उसकी हुकूमतकी कोई सीमा न हो। वह चेतन आत्मचेतन भी हो सकता हो, ऐसी आशंकाका निवारण करते है . **तद्व्यतिरिक्तः** अर्थात् **भोक्तृ व्यतिरिक्तः'** । यानी भोक्ता जीवसे अलग ईश्वर है और ईश्वर और जीवमे नियामक और नियम्यका सम्बन्ध है।

अद्वैत—वेदान्तकी दृष्टिसे जब जीवत्व आत्मामे सन्निहित करणोकी उपाधिसे प्रतीयमान होता है तब उन समष्टि उपाधियो-की कारणभूता मायाकी उपाधिसे वही आत्मा ईश्वररूपसे प्रतीय-मान होता है। उपाधिके नियमनसे ही जीवमे नियम्यभाव और ईश्वरमे नियन्ताभाव प्रतीत होता है। परमार्थत जीव और ईश्वर एक अपरिच्छिन्न अद्वितीय आत्मा ही है।

उपासकोकी दृष्टिमे जीव और ईश्वरका भेद सत्य है, परन्तु अद्वैतियोकी दृष्टिमे भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नही। ब्रह्मात्यैक्यबोधसे यह भेद बाधित हो जाता है। क्योकि जीव और ईश्वर दोनोका परमार्थ-स्वरूप एक शुद्ध-चेतन ही है। इसीका सकेत भगवान् भाष्यकारने **आत्मा स भोक्तुरित्यपरेमे** किया है।

ईश्वरकी सत्तामे दो हेतु मुख्य है कर्मफलदाताकी समस्या और सृष्टिमे जीव-जगत्के नियमनकी समस्या। यद्यपि पूर्वमीमा-

सकोने इस समस्याका हल कर्म और तज्जन्य 'अपूर्व'को मानकर कर लिया है तथापि उपासकोने दोनो समस्याओका हल एक ईश्वरकी सत्ता मानकर किया है। प्रथम पक्षमे जाड्य कर्मकी प्रधानता है और दूसरेमे चेतन तत्त्वकी प्रधानता है।

कर्मके फलमे यदि कर्मसे उत्पन्न अपूर्व ही हेतु हो तो किसी कर्मका विपरीत फल नही होना चाहिए। कर्म होता है वर्तमानमे और फल होता है भविष्य-कालमें। इस अन्तरालमे अपूर्वका आश्रय कौन रहता है? चेतन जीव ही उसका आश्रय ठहरता है। अनेक जीव, उनके अनेक कर्म, उनके अनेक अपूर्व, इन सबका सृष्टिमे समन्वय जड़ताके अन्तर्गत ठीक नही होता। एक ईश्वरको जीवोंसे अलग, जीवो और जगत्के नियन्ताके रूपमे, स्वीकार कर लेनेपर यह समस्या आसानीसे और अधिक यथार्थरूपसे हल हो जाती है। श्रुतिको ईश्वर-सिद्धान्त मान्य है, यह श्रुतिके सभी पाठकोको निर्विवादरूपसे स्पष्ट है।

परन्तु ईश्वर जीवके कर्मों का फल एक निरकुश सम्राट्की भाँति मनमानीसे नही देता। उसमे भी कर्म बीचमे हेतु है। यदि कर्मको कर्मफल (भोग)मे हेतु न मानें तो दो दोष प्राप्त होगे—१ अकृताभ्यागम और २ कृतविपरिणाम।

जो नही किया उसका भोग भोगना अकृताभ्यागम दोष है। और जो कर्म हम कर रहे है, उसका फल विना भोगे ही समाप्त हो जाय, वह कृतविपरिणाम दोष है। जो सुख-दु.ख हमको आज प्राप्त होरहे है वह विना किसी कारणके नही है। (हमारे पूर्वकृत कर्मो-का फल है) और जो कर्म हम आज कर रहे है वह विना सुख-दु.ख दिये समाप्त नही होगा। ईश्वर कर्म, भोग और भोक्ताके बीच एक चेतन कड़ी है। यह श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है।

यदि साख्यका आत्मा भोक्ता है तो उसे ईश्वरकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। आत्मा भोक्ता है, सो तो ठीक है। परन्तु प्रश्न यह है कि सब आत्माओंको एकसरीखा ही भोग मिलता है या उनमे कुछ अलगाव होता है ? अलगाव होता है तो फिर उस अलगावका निमित्त क्या है ?

कहो द्रष्टाओकी इच्छा निमित्त है तो पहिले तो द्रष्टाके साथ इच्छाका जुड़ना ही कठिन है। यदि भोक्ताओकी इच्छा मान भी ले तो इच्छाओमे भेद क्यो है ? भोगमे भेदका कारण तो बताना ही पड़ेगा न ! आया कि विषयमे भेद है, कि विषयकी भोग-शक्तिमे भेद है, कि विषयकी इच्छाओमे भेद है या कि ऐसी कोई परतन्त्रता आ बैठती है कि जिसके कारण भोगमे भेद हो जाता है ?

बोले . भाई कर्ममे भेद है। भोगके अलगावका हेतु कर्म है। यदि कर्म हेतु है तो पुरुष भोक्ताके साथ कर्ता भी सिद्ध होना है। इससे सांख्यसिद्धान्तकी हानि होती है।

यदि कहो कि ईश्वर निमित्त है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर स्वतन्त्रतासे भोग (कर्मका फल) देता है या कर्मके अनुसार भोग देता है ? यदि स्वतन्त्रतासे भोग देता है तब तो ईश्वर पुरुषके ऊपर हो गया, पुरुपका स्वामी तीसरा तत्त्व हो गया और वह ईश्वर स्वय पक्षपाती, निर्दयी और तानाशाह हो गया कि जिसको जो चाहे सो भोग देता है। उसमे पहिले कहे हुए अकृताभ्यागम और कृतविपरिणाम दोप भी आते है। और यदि ईश्वर कर्मके अनु-सार पुरुपको भोग देता है तो भी पुरुष भोक्ता और कर्ता दोनों सिद्ध होता है।

अब कहोकि भोगमे अलगाव नही है, क्योकि जब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है और द्रष्टाकी अपने स्वरूपमे अवस्थिति होती है तो उस समय सब द्रष्टाओको एकसरीखा भोग ही मिलता

है। इसमें दो स्थितियाँ है वृत्तिसारूप्य और स्वरूपावस्थान। अब हमारा प्रश्न यह है कि अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर कि मै द्रष्टामात्र हूँ, अन्त करणकी हालत क्रियाशील रहती है या निष्क्रिय रहती है ?

यदि निष्क्रिय रहती है तब तो निरोध दशा है, समाधि दशा है और यदि क्रियाशील रहती है तो फिर प्रपञ्चका भान हो रहा है।

हम कहते हैं कि द्रष्टा तो द्रष्टा ही है। उसके लिए वृत्तिके निरोधमे और वृत्तिकी चचलतामे कोई भेद नही है। प्रकृति द्रष्टाके सामने नृत्य करती है। कभी द्रष्टाके इतने निकट आजाती है कि द्रष्टा उसे देख नही पाता (समाधि) और कभी एक-एक भाव, एक-एक कटाक्ष, चेष्टा, अग-विक्षेप, सब दिखायी पडते हैं। द्रष्टा प्रकृतिका द्रष्टा है, वह प्रकृति चचल हो तो भी और स्थिर हो तो भी। इसलिए द्रष्टाका द्रष्टापना ही भोक्तृत्व है

भोक्तृत्व नाम उपलब्धित्वम्।

यह अद्वैत-वेदान्तकी दृष्टिसे भोक्तापना है। परन्तु साख्यवादी आत्माको भोक्ता और प्रकृतिको भोग्य मानते है। उनका आत्मा प्रकृतिके आनन्दका भोक्ता है, स्वयं आनन्दस्वरूप नही है। इसका अर्थ है कि साख्यका आत्मा (द्रष्टा) भले ही क्लेशसे रहित हो परन्तु आनन्दका तो कगाल ही है, और वह आनन्द वह प्रकृतिसे ही लेगा—चाहे नित्यानन्दके लिए उसे प्रकृतिका स्थैर्य अपेक्षित हो या हर्षानन्दके लिये उसका चाचल्य अपेक्षित हो। फलत आनन्द-का कगाल साख्यदर्शनका आत्मा-भोक्ता होनेके नाते अपनी भोग्य प्रकृतिके किसी विकार-सस्कारके साथ राग और किसी (विरोधी) विकार-सस्कारके साथ द्वेष किये विना नही रह सकता। उसे प्रकृतिके साथ आसक्ति और राग दोनो करने पडेगे। जिससे आनन्द लेना होता है उसे खुश भी रखना पडता है यह बात गृहस्थ

लोग खूब अच्छी तरह जानते है। तब आत्मा गृहस्थानन्दका उपभोक्ता होगा। साख्यके भोक्ता आत्माकी यह दशा होती है।

अब आनन्दमे खलल न पडे, अधिक आनन्द हो, उसके लिए प्रकृतिके स्वामी ईश्वरको माननेकी आवश्यकता होती है। इसलिए योगदर्शनमे इष्ट समाधिकी उपलब्धिमे ईश्वरकी सत्ता-कृपा स्वीकार की गयी है। वह ईश्वर कैसा है, इसपर योगदर्शन कहता है :

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर ।

क्लेश और कर्म विपाकाशयसे अपरामृष्ट जो विशेष पुरुष है वह ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश ये पॉच क्लेश है। शुभाशुभ आदि कर्म और उनके विपाक अर्थात् फल-भोग और उनसे उत्पन्न वासनाएँ कर्मविपाकाशय है। ईश्वर इनसे अछूता है। पुरुषविशेष कहकर ईश्वरको कर्ता-भोक्ता जीवात्मासे अलग बनाया गया है।

यहॉ भी सूत्ररूपसे यही बात कही गयी है. **तद्व्यतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञः सर्वशक्तिः।**

जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, ससारी परिच्छिन्न भी माने और अपनेसे व्यतिरिक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सत्ता नही माने, तो उसे सुख प्राप्त नही हो सकेगा। तुम्हारे अल्प सुखका सम्बन्ध यदि अनन्त सुखसे नही रहेगा तो वह अल्प सुख भी क्षयको प्राप्त हो जायेगा।

ईश्वर कैसा है ? जैसे तुम वैसा ईश्वर। यदि तुम चेतन हो तो तुम्हारा ईश्वर भी चेतन होगा। यदि तुम देहधारी हो तो तुम्हारा ईश्वर भी देहधारी होगा। विशेषता स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमे है। तुम अज्ञानसे ससारमे भटकते हो, वह लीलासे, माया-से, अवतार-शरीर धारण करके। तुम कर्मवश सुखी-दु खी होते हो, वह लीलाके लिए सुखी-दु खी होता है। और जिस दिन तुम्हे

यह ज्ञान हो जायेगा कि तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य, सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म हो, उस दिन तुम्हारा ईश्वर भी तुमसे पृथक् स्वरूप और पृथक् अस्तित्ववाला नहीं रहेगा। इसी बातको आचार्यने कहा कि

आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।

इस भोक्ताका जो परमार्थ-स्वरूप है, वही ईश्वर है वही इस क्षुद्र अहमस्मि प्रत्ययका आलम्बन है, ऐसा वेदान्ती मानते हैं।

श्रीरमण महर्षिने कहा **साकारधीरात्मनि यावदस्ति।** आत्मा-में साकार बुद्धि कबतक ? जबतक हमें अपनेमें साकार बुद्धि है।

ईश्वर और जीवमें भेद सिर्फ अज्ञानकाल और ज्ञानकालका है। अज्ञानकालमें जैसे तुम वैसा ईश्वर, ज्ञानकालमें जैसे तुम वैसा ईश्वर। यह केवल ज्ञानकाल और अज्ञानकालका ही अन्तर है परन्तु जीव और ईश्वरका भेद कहीं भी विवेकसे सिद्ध नहीं है।

लोग अवतारवादको लेकर भेदकी पुष्टि करते हैं। परन्तु यह भेदका प्रत्याख्यान करनेके लिए, भेदका निषेध करनेके लिए ही अवतारवाद है, भेदकी स्थापना करनेके लिए नहीं है। यह हम अवतारके भीतर पैठकर उसको जानते हैं।

अच्छा, ईश्वर भोक्ता है या नहीं ? भोक्ता होगा तो कर्ता भी होगा। प्रलयका कर्ता होनेसे उसे पाप लगेगा और पालनका कर्ता होनेसे उसे पुण्य होगा। फिर वह ईश्वर कभी सुखी होगा और कभी दुःखी होगा।

यदि ईश्वर कर्ता होगा तो भोक्ता भी होना पड़ेगा उसे। तब वह ईश्वर कैसा ? परतन्त्र हो जायेगा। ईश्वरका ईश्वरत्व ही बिगड़ जायेगा।

विज्ञान भिक्षुकी एक टीका है योग-दर्शनपर। उसमें उन्होंने एक मनोराज्य उठाया है कि ईश्वरको सुख कभी मिलता है या

नही ? सुख न हो तो ईश्वर कैसा ? और दु ख तो ईश्वरको मिल ही नही सकता। क्योकि ईश्वर अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य नही है, वह तो अन्त.करण सामान्य-परिच्छेदाभावावच्छिन्न चैतन्य है। अर्थात् संसारमे पशु, पक्षी, कीट, पतग, मनुष्य, देवता सबके जितने भी किस्म-किस्मके अन्त करण है उनके परिच्छेदका जो अभाव है, उस अभावसे उपलक्षित या अवच्छिन्न जो चैतन्य है वह ईश्वर है। इसका मतलब है कि ईश्वरमे किसी किस्मका अन्त.-करण नही है। 'अब ईश्वर हँसता है, अव ईश्वर रोता है, अब ईश्वर नाराज होता है', इत्यादि यह सब तो हम अपने अन्त करणमे सोचते है। ईश्वर तुम्हारी तरह तुनकमिजाज हो तो वह तुम्हारी तरह ही विकारी होगा।

अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य कूटस्थ आत्मा है। अन्त करण-सामान्यपरिच्छेदाभाववाच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। और अन्त करणके भावाभावोपलक्षित, अन्त करणके साहित्य, राहित्य और साहित्य-राहित्य उभयभावावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है।

तो ईश्वरको भी सुख होता है, किन्तु वह सुखका भोक्ता नही है, भोक्ताका अन्तर्यामी है। ईश्वर भोक्ता नही, भोजयता है।

इसप्रकार भोक्ताके भी दो विभाग हो गये। एक समष्टि भोक्ता ईश्वर, जो भोक्ता नही भोजयता है। दूसरा व्यष्टिमे बैठा हुआ चैतन्य जीव, जो भोक्ता है। वस्तुत आत्म-चैतन्य तादात्म्यके कारण (ज्ञानेन्द्रियोके साथ) भोक्ता होता है। स्वरूपसे अभोक्ता हुआ भी मायासे भोक्ता प्रतीत होता है।

यह जो कर्ता-भोक्ता ससारी जीव है, उसका काम बिना ईश्वरके नही चल सकता। जीव कर्म करनेमे स्वतन्त्र या परतन्त्र ? भोगमे स्वतन्त्र या परतन्त्र ? इसलिए भोग देनेके लिए कोई बलवान चाहिए जो डडेके बलपर उससे पापका फल भुगतवावे।

वेदान्तके विचारसे दो-का विचार किया जाता है : एक दृक् और एक दृश्य। दूसरे शब्दोमे एक चेतन और एक चेतनका विषय। एक जिसको मालूम होता है सो और दूसरा जो मालूम पड़ना है सो। मालूम पड़ना जिसका धर्म है सो दृक् नही, वरन् मालूम पडना ही जिसका स्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप दृक्। वेदान्तके मतमे जो दृक् है वही ब्रह्म है, वह अद्वितीय सच्चिदानन्द-घन है। इसलिए उसके दृश्य मिथ्या है। परन्तु दृक्का जो भान होना है वह उपहित और अनुपहित दो रूपसे मालूम पडता है। उपहित = उपाधि सहित, अनुपहित = उपाधि रहित।

जो अनुपहित है वह ब्रह्म है। जो उपहित है वह दो प्रकारका है। व्यष्टि या कार्योपाधिसे वह दृक्तत्त्व कर्ता, भोक्ता, ससारी भासता है और समष्टि या कारणउपाधिसे वही दृक् (चैतन्य तत्त्व) सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके रूपमे भासता है।

दृश्य (अपने) अधिष्ठान-ज्ञान-पर्यन्त सत्य है और ज्ञानोत्तर कालमे मिथ्या हो जाता है। तव वह उपाधि भी जो जीव-चैतन्य और ईश्वर-चैतन्यको अलग करती है मिथ्या हो जाती है। फिर जीव-ईश्वरका भेद भी मिथ्या हो जाता है।

ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है। उसे यदि ढूँढना हो तो अपने आत्माके रूपमे ही ढूँढो। अरे बाबा! घरके पारस-पत्थरसे तो रोज मसाला पोसें और पारसको ढूँढने जॉय जंगलमे, तो क्या पारस मिलेगा? जब पहिचान ही नही है पारसकी तो पारस न घरमे मिल सकता है और न जगलमे। और यदि पहिचान है तो घरके मसाला-पीसनेवाले पत्थरके रूपमे भी पारस उपलब्ध है।

ईश्वर वह चीज है जो सब जगह, सब समय, सबकी आत्माके रूपमे मौजूद है। उसे यदि आत्माके रूपमे न जाना तो स्वर्ग और

वैकुण्ठ-लोकमें कैसे पहिचानोगे ? जहाँ ढूँढनेकी इच्छावाला और ढूँढनेके प्रयत्नवाला बैठा है वही ईश्वर बैठा है।

यह जो भोक्ता है इस शरीरमे, जो कहता है : मै सुखी, मै दु खी, वह वास्तवमे भोक्ता-वोक्ता कुछ है नही। केवल भोक्तापन-का भ्रम होता है।

हमारे एक भगत बहुत चिढ़ गये जब मैने कहा कि राग किसीको किसीसे नही होता। जब चित्तमे रागाकार-वृत्ति उदय होती है तब हम उससे तादात्म्य कर लेते है और बोलते है कि हम रागी है। जब वह वृत्ति बदल जाती है तो रागीपनेका भ्रम भी मिट जाता है। परन्तु होता यह है कि एक भ्रम मिटता है दूसरा हो जाता है, दूसरा मिटता है तीसरा हो जाता है। भ्रमोकी यह धारा बहती रहती है। तादात्म्य होते रहते है, परन्तु यह असगात्मा अपनेको ठीक-ठीक न जाननेके कारण बार-बार अपनेको रागी अनुभव करता है।

असगो ह्यय पुरुष

तब तुम सुखी, दु खी कहाँ हो ? यह सुखी, दु.खीपना बदलता रहता हैं और इन सुख-दु खमे जो एक असस्पृष्ट असगात्मा है वही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। 'सर्व' माने समष्टि। उस समष्टिमे जो ज्ञाता है वही असलमे सुखी-दु खी होनेवालेकी आत्मा है जो समग्र सृष्टिको प्रकाशित करता है और धारण करता है, उसीमे यह सर्व अध्यस्त है।

आत्मा स भोक्तु इति अपरे

यहाँ 'स' तत्पदार्थ ईश्वर है। 'भोक्तु ' त्व-पदार्थ जीव है और 'आत्मा' जीव और ईश्वरका परमार्थरूप है और 'असि' पदका लक्ष्य है। यही 'तत्त्वमसि' वेदान्त-सिद्धान्त है। ●

(८. ७.)

ब्रह्मजिज्ञासा विचार–६

उपसंहार

(विचारकी महिमा)

एवं वहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्यं यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

(इति जिज्ञासाधिकरण भाष्यम्)

'इस प्रकार युक्ति, श्रुतिवाक्य और युक्त्याभास तथा वाक्याभासोका आश्रय लेकर अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। उन सबका विचार किये विना यदि जिस किसी मतको मान लिया जाय तो माननेवालेको मोक्षमे वाधा पड़ेगी और अनर्थकी प्राप्ति होगी। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके द्वारा जिसमे शास्त्राविरोधी तर्क सावनरूपसे स्वीकृत है और जिसका प्रयोजन मोक्ष है उस वेदान्तशास्त्र (उपनिषद्) के, वाक्योकी मीमासा प्रस्तुत की जाती है।'

आपको दर्शन शास्त्रका एक विवेक सुनाते हैं। यह किसी एक पोथीमे नही लिखा। ढूँढोगे तो थोड़ा-थोड़ा कई पोथियोमे मिल जायेगा। साधु हैं न भाई हम! माधुकरी भिक्षाकी भाँति कई जगहसे प्राप्त की गयी भिक्षा है यह!

प्रश्न। यह है कि कार्य-कारणसे परे कोई वस्तु है या नही?

प्रतिप्रश्न : कार्य–कारणसे परेकी वस्तु क्यो खोजते हो भाई ? अकेले कार्यसे, या अकेले कारणसे या फिर कार्य-कारण दोनोसे सन्तोष क्यो नही कर लेते ?

उत्तर : कार्य-कारणसे परेकी वस्तु खोजनेका प्रयोजन यह है कि कार्य तो होता है विनाशी, वह मरकर कारणमे विलीन होता रहता है। परन्तु कारण यद्यपि अपेक्षाकृत अविनाशी है तथापि कारणमे भी नित्यताका भ्रम ही होता है। जैसे कोई कहे कि वृक्ष टूट जायेगा परन्तु बीज बना रहेगा, ऐसी ही बात है यह। प्रत्येक पौधा अपने बीजका नाश करके ही पैदा होता है। प्रत्येक बच्चा अपनी मांकी जवानीका नाश करके ही पैदा होता है, यह सृष्टिका नियम है। अब उस बीजका नाम चाहे कारण रख लो या प्रकृति रख लो। कारण गीला हुए बिना, कारण फटे बिना, विकृत हुए बिना कार्यको कैसे उत्पन्न करेगा ? यदि कहो कि कारण एक हिस्सेमे नित्य रहता है और दूसरे हिस्सेमे अनित्य रहता है, तो यह 'अर्धयुवती न्याय' ठीक नही है।

यदि कार्य-कारण ही एकमात्र तात्त्विक सत्य है तो कहना पडेगा कि अनित्यता ही एकमात्र सत्य है, क्योकि कारण फूट करके कार्य बन जाता है और कार्य बिखर करके कारणमे लीन हो जाता है। और यह कार्य-कारणात्मक प्रवाही चक्की चल रही है। आखिर इसका कोई नित्य आधार है या नही ? यह प्रश्न है।

अब विभिन्न दर्शनकारोंने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया है उसको मै आपको सुनाता हूँ। उनकी मीमांसा नही करूँगा, केवल मात्र उनका उत्तर भर प्रस्तुत करता हूँ।

१ **चार्वाकका** कहना है कि कार्य-कारणके सिवाय कोई नित्य वस्तु नही है। पञ्चभूत (वे चार भूत ही मानते हैं) पहिलेसे रहते हैं और उनके परस्पर संयोगसे यह शरीर बनता है और उसी

शरीर-निर्माणकी प्रक्रियाके अन्तर्गत शरीरमे चेतना उत्पन्न होती है। शरीर असमर्थ हो जानेपर देह बिखर जाता है और उसीके साथ द्रव्येक्षण-योग्यता अर्थात् विषयज्ञानकी योग्यता भी नष्ट हो जाती है। प्रपञ्च केवल जन्म-मरणात्मक है और इसमे देह भूतोंका परिणाम है। यह परिणिति होती ही रहती है और विलोमतः देह बिखर-बिखरकर वापस भूतोमे लीन होते रहते हैं। बस यही कार्य-कारण-परम्परा चलती रहती है। कार्य-कारणसे परे कोई वस्तु नही है।

२. जैनका कहना है कि कार्य-कारणसे रहितकी दशा साधनसे बनायी जा सकता है। चार्वाक तो कहता है कि ऐसी दशा कोई है ही नही, परन्तु जैनका कहना है कि जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिए एक ऐसी दशा बनायी जा सकती है जहाँ न कार्यके समान मरना पड़ेगा और न कारणके समान फूटना पडेगा। वह उत्पाद्य-दशा होगी। यह कैसे होगा, इस जिज्ञासापर कहते है कि सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् सकल्प और सम्यक् समाधिके द्वारा जब जीव बिलकुल निर्दोष हो जायेगा, (अष्टादश दूषण,-रहित हो जायेगा), उज्ज्वल होकर जगमग-जगमग चिन्मात्र रह जायेगा, जब उसका पुद्गलके साथ कोई सम्बन्ध नही रह जायेगा, तब वह जीव-अजीव द्रव्यसे विनिर्मुक्त हो जायेगा। यही कार्य-कारणसे परेकी दशा है। वहाँ जीव अपने शुद्ध स्वरूपमे जाज्वल्यमान ज्योतिके-रूपमें प्रकाशित रहता है। वहाँ न देश है, न काल और न द्रव्य; वहाँ मन नही है। वह देश-काल-वस्तुसे अतीत, दोष-गुणातीत, अवस्था है।

स्मरण रहे कि यह अवस्था उत्पाद्य है।

३ बौद्ध दर्शनोका कहना है कि कार्य और कारण दोनो भ्रम है। असलमे ये प्रत्ययमात्र हैं। बौद्धोके दो विभाग करके यह एक

विभागकी बात सुनायी (क्षणिक विज्ञानवादियोकी)। वेदान्तियोने अपने विचारकी सुविधाके लिए बौद्ध-दर्शनोको चार विभागोमे बाँट रखा है :

बाह्यार्थशून्यवादी, अन्तरर्थशून्यवादी, उभयार्थशून्यवादी और अनुभयार्थशून्यवादी।

परन्तु इनमे दो ही मुख्य हैं : बाह्यार्थशून्यवादी या क्षणिक-विज्ञानवादी और उभयार्थशून्यवादी या शून्यवादी।

(i) क्षणिकविज्ञानवादियोका कहना है कि विज्ञान ही कार्य-कारणके रूपमे भासता है। उदाहरणार्थ, जैसे स्वप्नमे एक क्षणिक विज्ञान ही पृथिव्यादि पंचभूतोके रूपमें भासता है और वही उनसे बने हुए पुतलोके रूपमें भी भासता है। स्वप्नमे बाप भी भासता है और बेटा भी, परन्तु कारण बाप और कार्य बेटा, दोनो भ्रम हैं क्योकि दोनों विज्ञानमात्र हैं।

इसी प्रकार कार्य-कारणकी प्रतीति भ्रम है। कार्य भी भ्रम है क्योकि वह किसीसे पैदा नही हुआ और कारण भी भ्रम है क्योकि उससे कुछ उत्पन्न नही हुआ। कार्य और कारणमें कोई सम्बन्ध भी नही है। सम्बन्ध भी भ्रममूलक है। कार्य, कारण और कार्य-कारण सम्बन्ध, तीनो भ्रम हैं और ये सब-के-सब प्रत्ययमात्र हैं। प्रत्ययमे कोई नित्यकाल होता है, यह भी भ्रम है और प्रत्ययमें कोई बाहर और भीतरका देशमूलक भेद होता है, यह भी भ्रम है। इसलिए प्रत्येक प्रत्यय स्वतन्त्र है। पूर्व-प्रत्ययका पश्चात्-प्रत्ययके साथ कोई सम्बन्ध नही है तथा पूर्व और पश्चात्का जो भाव है वह भी प्रत्यय है। यह जो अन्तः-बाह्यका भाव है वह भी प्रत्यय है। ये सब अलग-अलग स्वतन्त्र प्रत्ययोकी धारा बहती रहती है। वे लोग इन अलग-अलग स्वतन्त्र प्रत्ययोको क्षणिक विज्ञान कहते हैं।

(ii) शून्यवादी कहते हैं कि विज्ञानवादियोंकी बात तो ठीक है। परन्तु जब कार्य, कारण, कार्य-कारण-सम्बन्ध, अन्दर, बाहर, पूर्व, पश्चात्, आगे, पीछे, सब कुछ भ्रम ही है तो सब कुछ (जो भी अनुभवमें आता है) भ्रम हो जानेपर तत्त्व क्या बचा ? व्यावहारिक दृष्टिसे सब कुछ भ्रम है और तत्त्व तो शून्य ही शेष रहा।

इनके मतमें, वृत्तिकी दृष्टिसे कार्य-कारण भ्रम है; और शून्यतत्त्वकी दृष्टिसे कार्य-कारण है ही नहीं। शून्य चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। अतः कोई वस्तु तत्त्वत. न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न सदसत्से भिन्न है।

शून्य माध्यमिकादयः

माध्यमिक बौद्ध शून्यको ही तत्त्व मानते हैं।

निष्कर्ष यह कि कार्य-कारण मिथ्या है और कार्य-कारणसे परे शून्य है।

४. उपासक लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत्‌का जो कर्ता है, सर्वज्ञ सर्वशक्ति-परमेश्वर, वह कार्य-कारणसे असस्पृष्ट है। वह जगत्‌का उपादान कारण नहीं है बल्कि निमित्त कारण है।

यत् उपादाय कार्यं प्रवर्तते, तत् उपादानम्।

कार्य जिस वस्तुको अपने अन्दर लिये हुए होता है उसको उपादान कारण बोलते हैं। उदाहरणार्थ घड़ा अपने अन्दर मिट्टीको लिये होता है इसलिए मिट्टी घडेका उपादान कारण है परन्तु वह कुम्हारको अपने अन्दर लिये हुए नहीं रहता; अतः कुम्हार घडेका उपादान कारण नहीं है। परन्तु कुम्हारके बिना घड़ा बन भी नहीं सकता। कुम्हार भी होना चाहिए, उसे घडेका ज्ञान भी होना चाहिए, उसमें घडेको बनानेकी शक्ति भी होनी चाहिए और उसको यह भी स्वातन्त्र्य होना चाहिए कि वह जब चाहे घडेको चाकपर से उतार ले। कुम्हार घडेका निमित्त कारण है।

इसी प्रकार ईश्वर जगत्का निमित्त कारण है। जैसे कुम्हार मिट्टीकी कार्य-कारणतासे अछूता रहता है वैसे ही ईश्वर जगत्की कार्य-कारणतारूप विकारसे असंस्पृष्ट रहता है।

अद्वैतकी दृष्टिसे भक्ति-दर्शनका अन्तर्भाव न्याय-दर्शनके अन्तर्गत होना चाहिए। और भक्तोंकी दृष्टिसे यह स्वतन्त्र दर्शन है। ये जो उदयनाचार्य आदि है वे ईश्वरको सृष्टिसे अलग सिद्ध करके भक्तिके प्रतिपादनमे सहायक हैं। वैसे श्री रामानुजाचार्यजी महाराज, श्री बल्लभाचार्यजी महाराज न्यायसिद्ध परमेश्वरका बड़ा आदर करते है। श्री निम्बार्काचार्य महाराजजी तो सप्रमाण ईश्वरको सिद्ध करते है—ऐतिह्यसिद्ध ईश्वर, अर्थापत्तिसिद्ध ईश्वर अनुपलब्धिसिद्ध ईश्वर। बहुत प्रकारसे वे ईश्वरको सिद्ध करते है।

५. **न्याय-वैशेषिक**का कहना है कि उपादान कारण तो है परमाणु, निमित्त कारण है ईश्वर और कार्य है यह पाञ्चभौतिक जगत्। यद्यपि उपादान कारण तो कार्य-कारणसे परे नही है तथापि जो निमित्त कारण ईश्वर है वह कार्य-कारणके अन्तर्गत नही है। दृष्टान्ततः घट, मृत्तिका और कुम्हार। परमाणुओके संयोगसे घट बनता है और घट नष्ट होकर पुनः परमाणु हो जाता है। कुम्हारका इनसे क्या मतलब ?

न्यायसिद्ध ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है, परन्तु यह अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हैं। जैसे घटका कर्ता घट और मृत्तिकासे पृथक् चेतन कुम्हार होता है वैसे ही जगत्का कर्ता जगत् और परमाणुसे पृथक् चेतन (ईश्वर) अवश्य होना चाहिए।

ईश्वर कर्ता है, ईश्वर ज्ञाता हैं और ईश्वर सर्वसमर्थ है। वह ईश्वर कार्यकारणातीत है, अनुमान-सिद्ध है और जीव उसके अधीन है। जीव जो है वह धर्माधर्म, इच्छा, सस्कार, प्रयत्न, राग-द्वेष, ज्ञान गुणवाला है और वह ईश्वरका नियम्य है।

कार्य-कारणमे फँसा हुआ जीव दुःखी है और जबतक इनमें फँसा रहेगा तबतक दुःखी रहेगा। न्यायशास्त्रमे इक्कीस प्रकारके दुःख माने हैं। उसमे शरीर धारण करना भी एक दुःख है। प्रमाण-प्रमेय आदि सोलहपदार्थ हैं जिनमे आत्मा भी एक पदार्थ है: आत्मा दो प्रकारका है—जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर)। इनका ठीक ज्ञान होनेपर ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है। कार्य-कारणसे अतीत परमेश्वर है, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वसमर्थ है। उसकी उपासना करो, भक्ति करो, उसका हुकुम मानो। यही वेदका वचन है—

तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।

स्मरण रहे कि न्यायका ईश्वर अनुमान-सिद्ध है। वेदान्तमें अनुमानको अकिंचित्कर मानते हैं। वेदान्तियोका कहना है कि किसी भी प्रमाण द्वारा वस्तुका साक्षात्कार होना चाहिए, उस वस्तुपर विश्वास नही होना चाहिए। वैसे प्रमाणकी व्यवस्थाके लिए न्यायदर्शनने, तथा पदार्थकी व्यवस्थाके लिए वैशेषिक दर्शनने वहुत काम किया है।

भक्त लोग जब भी अपने इष्टदेवका वर्णन करते हैं तो उसे कार्य-कारणसे परे कहते हैं। यथा—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्। (तुलसीदासजी)

५ सांख्यका कहना है कि परमात्मा प्रपञ्चके परे नही उरे है। जहाँसे हम प्रपञ्चको देखते हैं व[illegible] [illegible]मात्मा है। परमात्मा 'वह' नही (न्यायादिकी तरह), वह [illegible] है।

प्रपञ्चको वनाकर आदिमे [illegible]ठनेवाला परमात्मा नही है; प्रपञ्चको मिटाकर अन्तमे वैठनेवाला परमात्मा नही है; और अलग वैठकर प्रपञ्चको वनानेवाला परमात्मा नही है। जो प्रपञ्चको देख रहा है, ज्ञानमात्र, द्रष्टा, सो परमात्मा है। यह द्रष्टा कार्य-कारणातीत है।

सांख्य चार प्रकारके तत्त्व मानता है : प्रकृति, प्रकृति-विकृति, कार्य और पुरुष। कारण प्रकृति है, महत्तत्त्वादि प्रकृति-विकृति हैं, पञ्चभूत कार्य है और पुरुष न कार्य है, न कारण।

इस प्रकार कार्य-कारण सत्य है परन्तु द्रष्टा कार्य-कारणसे परे है, यह योग और साख्यमत है। कार्य-कारण सत्य है और ईश्वर कार्य-कारणसे परे है यह न्यायवैशेषिक मत है। कार्य-कारणसे परे शून्य है शून्यवादी बौद्धोका मत है। कार्य-कारण भ्रम है, यह विज्ञानवादी बौद्धोंका मत है। कार्य-कारणसे परेकी अवस्था साधनसे उत्पन्न की जा सकती है, यह जैनोका मत है। और कार्य-कारण द्रव्यात्मक है और यह सत्य है तथा कार्य कारणसे परे कुछ है ही नही, यह चार्वाक मत है। अब वेदान्तकी बात कहते है :

न्यायदर्शन तत्-पदार्थको (ईश्वरको) साख्यदर्शन त्व-पदार्थ (द्रष्टा)-को कार्य-कारणसे परे बताता है। अब वेदान्त कहता है कि तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ दो नही हैं, एक ही है। इस एकत्व-ज्ञानकी विशेषता यह है कि इस ज्ञानसे ही बौद्धोके समान कार्य-कारण जो है वह शून्य अथवा भ्रममात्र हो जाता है; साख्ययोगके समान द्रष्टा अपना आत्मा हो जाता है।

न्यायके समान ईश्वर अपना आत्मा हो जाता है।

जैनोकी जो साधन-साध्य स्थिति है वह अन्त करणकी शुद्धि हो जाती है, और चार्वाकोके कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चकी एकमात्र सत्यताके समान परिवार और सम्बन्धियोका मोह मिट जाता है।

प्रत्येक दर्शनका एक उपयोग है। चार्वाकने मोह-ममता मिटायी; जैनने असाधन दूर किया, बौद्धोने देश-काल-वस्तुको प्रत्ययमात्र बना दिया; साख्यने सबका साक्षी आत्मा (त्वं-पदार्थ) सिद्ध कर दिया; न्यायवैशेषिकने तत्-पदार्थ ईश्वर सिद्ध कर दिया; और वेदान्तने तत् और त्व दोनो पदार्थोको एक कर दिया।

वेदान्तका यह चरम सिद्धान्त भगवान्‌ने यों कहा :

आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

भोक्ताका आत्मा ईश्वर है। इसकी व्याख्या पहिले हो चुकी है।

इधर तुम भोक्ता बनकर बैठे हो और उधर वह सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् बनकर बैठा है। तब 'वह' भोक्ताकी आत्मा कैसे हो सकता है? इसीके उत्तरके लिए वेदान्त-विचारका प्रारम्भ है।

प्रश्न यह है कि जिस शून्यको या ईश्वरको या द्रष्टाको या साधनजन्य अवस्थाको तुमने कार्य-कारणातीत जाना है उसका कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चके साथ व्यवहारमे क्या प्रयोजन है? आखिर इन सभी कार्य-कारणातीत तत्त्वोमे अन्तर क्या है?

शून्य निष्प्रयोजन है, भला शून्यसे किसीको क्या मिलेगा? साधन-साध्य कार्य-कारणातीत अवस्थासे दुःखोकी निवृत्ति हो जाती है। अनुमित कार्य-कारणातीत ईश्वरसे भक्ति-सुख मिलता है और विविक्त कार्य-कारणातीत द्रष्टासे तटस्थ सुखकी प्राप्ति होती है।

वेदान्त-बोधित कार्य-कारणातीत वस्तुके ज्ञानकी विशेषता है कि उसका तत्त्वमस्यादि महावाक्यो द्वारा ज्ञान होनेपर, अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध होनेपर, कार्य-कारणकी पृथक्ताका ही बाध हो जाता है। कार्य-कारण भी स्वरूप हो जाता है। इसका फल होता है मोक्ष। मोक्ष माने परम स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति और सब प्रकार-के बन्धनोसे मुक्ति। जाति-बन्धन, आश्रम-बन्धन, वर्ण बन्धन, सम्प्रदाय-बन्धन, धर्म-बन्धन, शास्त्र-बन्धन, ईश्वरकी अधीनता-रूप बन्धन, अपनेमे अभिमानरूप-बन्धन, परिच्छिन्नतारूप-बन्धन सब बन्धनोसे मुक्ति ब्रह्मज्ञानका फल है। यह उच्छृङ्खल स्वातन्त्र्य प्रदान करता है क्योकि मोक्षमे जो बाधक कार्य-कारणता है उसका बाध हो जाता है। यह वेदान्तकी विशेषता है।

केवल मुक्ति-दशामें ही मुक्ति नही होती। वेदान्तकी मुक्ति व्यवहारदशामे भी होती है। औरोकी मुक्ति हो वैकुण्ठमे या शून्य-दशामें, दूषण-रहित अवस्थामे या समाधिमे, मगर वेदान्तकी मुक्ति तो इसी जीवनमे और अभी है। और मुक्ति भी छोटी-मोटी नही, ऐसी मुक्ति है यह वेदान्तकी कि इसमे ईश्वरकी भी पराधीनता नही रहती कि जब ईश्वर चाहे तब जन्म दे दे और जब न चाहे तब न दे; इसमे तो जीवकी परिच्छिन्नताका ही भंग हो जाता है।

इस प्रकार मतभेद तो बहुत सारे हैं। सबके पक्षमें युक्ति हैं, वचन है और तदाभास भी हैं। उनका आश्रय लेकर लोग विप्रतिपन्न हैं :

एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः।

(भाष्य)

वेदान्तमें शब्दको प्रमाण माना जाता है। एक शब्द वह होता है जो कानसे सुना जाता है, यानी जिसका प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रियसे होता है। वह शब्द प्रमाण नही है वह तो प्रमेय है और श्रवणेन्द्रिय उसमें प्रमाण है। वेदान्त इस प्रमेय शब्दको प्रमाण स्वीकार नही करता। शब्द-प्रमाण वस्तुतः अर्थावबोधक-प्रमाण है।

वेदान्तमें शब्द-प्रमाण भी दो तरहके होते है : (१) अतत्त्वबोधक प्रमाण, जो शब्द-स्पर्शादिका ज्ञान कराये या कर्ता, भोक्ताका ज्ञान कराये। (२) तत्त्वबोधक प्रमाण, जो नामरूपसे विनिर्मुक्तका, आकारके आरोपसे विनिर्मुक्तका, ब्रह्मात्मैक्यका बोध करावे। तत्त्वबोधक प्रमाण गुणके बोधक नही होते और मिथ्या पदार्थोंके बोधक नही होते, वरन् उनके अधिष्ठान सत्यके बोधक होते हैं। वे आकारसे विनिर्मुक्त आत्माका अभेदरूपसे ज्ञान करानेवाले होते हैं।

श्रुति प्रमाणोका ठीक विवेक न होनेके कारण युक्ति और युक्त्याभासका आश्रय लेकर आत्माके विशेषस्वरूपमे अनेक विप्रतिपत्ति है।

कहो कि चाहे जिस विचारको ठीक मान लो—इसमे हानि ही क्या है? तो इसपर कहते है कि यदि बिना विचार किये किसी भी मतको मान बैठे तो मोक्षमे बाधा पड़ेगी, कल्याणमे प्रतिघात होगा और अनर्थकी भी प्राप्ति होगी।

तत्राविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत् अनर्थं चेयात्। (भाष्य)

निःश्रेयस क्या? वेदान्तोमे इसका विवेक आया है कि मनुष्यके सामने दो प्रकारकी वस्तुएँ आती हैं—श्रेय और प्रेय। जो वस्तुएँ वर्तमानमे और भविष्यमे भी सर्वदा कल्याणकारी हों और सच्ची हो वे श्रेय कहलाती हैं। इसके विपरीत जिसको देखकर इन्द्रियाँ तो तुरन्त प्रसन्न हो जाँय परन्तु परिणाममे जो हानिकारक हो वे प्रेय कहलाती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य श्रेयका वरण करते हैं और जो मन्द बुद्धि हैं वे प्रेयका वरण करते हैं:

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

(कठोपनिषद् १.२.२)

गीतामे इसका विवेक दूसरे ढंगसे है: वहाँ कहा है कि जो वस्तु पहिले सुख दे और परिणाममे दुःख दे वह राजस है। जो वस्तु पहिले भले ही दुःख दे परन्तु परिणाममे सुख दे वह सात्त्विक है। जो वस्तु पहिले भी दुःख दे और परिणाममे भी दुःख दे वह तामस है। सात्त्विक वस्तुएँ श्रेय प्रदान करनेवाली हैं और राजस तथा तामस वस्तुएँ प्रेयकी ओर अभिमुख करती हैं।

पहिले आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यानमें भले ही कष्ट हो

परन्तु परिणाममे सुख देनेवाली हैं। अतः ये श्रेय है। जैसे पाँच सौ वषसे बनी झोपडी उजाडनी पडे और उसके स्थानपर महल बनता हो तो उस झोपडीको उजाड देते हैं, उसी प्रकार देह-इन्द्रियोको सुख देनेवाली वस्तुओसे मन हटानेपर यदि अनन्त तृप्ति देनेवाली वस्तु मिलती हो तो उन वस्तुओको छोड देना चाहिए। केवल मोहके द्वारा गुजर-बसर कर लेना या गम-गलत कर लेना, यह मोहका मार्ग है—प्रेयका मार्ग है।

अब निःश्रेयस क्या हुआ? निरतिशय श्रेयस् जो हो, जिससे बड़ा और कोई श्रेयस् न हो, वह हुआ निःश्रेयस। निश्रेयसका अर्थ इस प्रकार मोक्ष है। वेदान्तोक्त मोक्ष, जिसमें सम्पूर्ण अनर्थोका अत्यन्ताभाव है और जो परमानन्दस्वरूप है।

निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अर्थात् मोक्षमे बाधा पडेगी। प्रतिहन्येत्का अर्थ है बाधा होना, प्रतिघात होना।

यदि कहो कि वेदान्तोक्त मोक्ष हमको नही चाहिए। फिर हम विचार क्यो करें? इसपर कहते हैं कि **अनर्थं चेयात्**, अर्थात् अनर्थकी प्राप्ति होगी।

अनर्थ क्या? ये जो चार पुरुषार्थ होते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इनके विपरीत जो होता है उसे अनर्थ बोलते हैं। धर्मके विपरीत अधर्म, अर्थके विपरीत दारिद्र्य और हीन भावना, कामके विपरीत सकल्पकी विफलता और मोक्षके विपरीत बन्धन होता है। यदि विचार नही करोगे तो यही अनर्थ आपके पल्ले पड़ेगा।

यदि चार्वाककी बात मान ली तो धर्मकी जगह अधर्म मिलेगा; क्योकि चार्वाक-सिद्धान्तमे आत्माके दीर्घकालीन जीवनका ध्यान नही रखा गया, केवल देह और दैहिक सुखका ही ध्यान रखा गया है। फिर क्या आश्चर्य कि धर्मसे वंचित हो जाना पड़े।

यदि अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानकर आपमें हीनताका

भाव आ गया, तो आप अर्थसे भी वंचित हो जायेंगे। आपके मनमे कामजन्य सुखकी भी स्फूर्ति नही होगी और भोग तो मिलेगा ही नही। रह गया मोक्ष सो वह तो मिलना असम्भव ही है। बन्धन ही शेष रहेगा। सकल्प-पूर्तिकी जगह सकल्प-प्रतिघात मिलेगा, धनकी जगह गरीबी मिलेगी, धर्मकी जगह अधर्म मिलेगा और मोक्षकी जगह बन्धन मिलेगा, यदि आप विचार नही करते हैं तो।

यदि देहको ही सब कुछ मानोगे तो मरना ही मुक्ति होगी। इसका अर्थ है कि चार्वाक-मतमे अपनेको अमर समझना अज्ञान है। धर्मके लिए दान देना व्रत करना, सदाचारका पालन करना, भजन करना, यज्ञ करना, वेद-वेदान्त मानना, सत्सग करना, सब कुसस्कार हो जायेगा और जिदगीके लिए जहर हो जायेगा।

यदि बौद्धोकी बात मानोगे तो प्रत्ययकी अखण्डताका भ्रम मिट जाना ही मोक्ष होगा। इसका अर्थ है कि जीवन ही कट गया, जीवनकी धारा समाप्त हो गयी।

शून्य ही आत्मा है, यदि इस बातको मानोगे तो मानना पडेगा कि निर्वाण ही मोक्ष है। निर्वाण माने होता है बुझ जाना। जैसे दीपककी लौ बुझ गयी। उसमे-से अब प्रकाश वापस नही आ सकता। यदि बुझ जाना ही मोक्ष है तो मिला क्या? न कुछ सुख मिला न ज्ञान। अच्छा, निर्वाण हो गया या आत्मोच्छेद हो गया—यह ज्ञान कैसे हुआ? शून्य यदि ज्ञानस्वरूप नही है तो निष्प्रयोजन है।

यदि जैनोकी बात मान ली तो? यदि पाप-पुण्यका लेप स्वाभाविक है, यदि जन्म-मरण स्वभाविक हैं, तो साधन करके भी जिस कार्य-कारणातीत मोक्षावस्थाको प्राप्त हुए हैं, उस अवस्थामे हम बने ही रहेगे इसका क्या भरोसा है? साधनजन्य

अवस्था सब अनित्य होती है। तब आत्माका मोक्ष भी अनित्य होगा। वह साधनसे पहिले नही था, कालमे कभी नही रहेगा।

हम साधनका खण्डन नही करते हैं। विचारके लिए बात रखते हैं।

यदि आत्माको कर्ता मानोगे तो कैसा मोक्ष मिलेगा ?

प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः

प्रपञ्चके साथ अपने सम्बन्धके विलयका नाम मोक्ष है, जैसे सुषुप्ति-दशामें होता है। सुषुप्तिमे 'मै बाप, वह बेटा' इत्यादि सम्बन्ध नही फुरते हैं, तो क्या वह मोक्षदशा है ? यदि मोक्षकी सुषुप्तिवत् कोई अन्य अवस्था भी हो (जैसे समाधि) तो क्या वह अवस्था कभी बदलेगी नही ? बदलेगी तो मोक्ष भी अनित्य होगा।

जब कर्मियोने इस प्रपञ्चसम्बन्ध-विलय-दशाको मोक्ष माना, तो उनको दृष्टिमे कर्मका फल कर्म-विश्रान्ति हुआ। जैसे लम्बी नौकरीका फल एक अच्छी पेंशन होता है !

यदि उपासकोकी बात मानोगे तो उपास्यैकाकारिताको मोक्ष मानोगे। अब यह उपास्यकी इच्छा है कि आपको अपनी नगरीमें रखे (सालोक्य मोक्ष) या आपका वेष अपना जैसा बनाकर अपना मुसाहिब बनाले (सारूप्य मोक्ष) या आपको अपने अंगो-का भूषण बनाकर रखे (सामीप्य मोक्ष) या आप अपने प्रेमीके रसगुल्ले बनकर उनके विग्रहके अङ्ग बन जायँ (सायुज्य मोक्ष) और या वह आपको कहीका गवर्नर बना दे (सार्ष्टि मोक्ष)।

यदि आप साख्यकी बात मानेंगे तो प्रपञ्च-सम्बन्ध-निवृत्तिरूप मोक्षको स्वीकार करना पडेगा। यहाँ प्रपञ्च सम्बन्धका विलयरूप मोक्ष नही है बल्कि निवृत्तिरूप मोक्ष है, क्योकि साख्यमे विवेक-ख्याति साधन है। देखते रहना दुनियाको टुकुर टुकर ! दुनियाके

साथ आपका कोई सम्बन्ध नही फुरेगा। यदि भोक्ताके अभ्यास-वशात् फुरेगा तो विवेक और अभ्यास वलसे समाप्त हो जायगा।

क्या यह मोक्षदशा उस पुरुष-जैसी नही है जो अपनी तलाक दी हुई पत्नीको देखता भर तो है परन्तु उसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। इसपर साख्यका पुरुष तो द्रष्टा है और भोक्ता है परन्तु कर्ता नही है।

वेदान्तका मोक्ष सबसे विलक्षण है। यह द्वैताभाव-ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध सम्बन्धो-भावकी निवृत्ति है।

श्रीमद्भागवतमे प्रलयोका वर्णन आया है। वहाँ चार प्रकारके प्रलय बताये गये हैं—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय।

सृष्टि निरन्तर वदल रही है, यह नित्य प्रलय है। क्या समुद्रमें वही जल है जो कल था? फिर ज्वार-भाटोका क्या हुआ? क्या गगामे वही जल वह रहा था जो कल था? फिर गगाके प्रवाहका क्या हुआ? क्या दीपककी लौ वही है जो एक घण्टे पूर्व थी? फिर तेल और वत्तीके जलनेका क्या हुआ? मेरे भाई! सृष्टि प्रतिक्षण बदल रही है। हमने अन्तर्दृष्टिसे देखा है कि हमारा मन जितना चञ्चल है, हमारे मन.कण जितने प्रवाही हैं, ये स्थूल भौतिक कण भी उतने ही प्रवाही और चञ्चल हैं। यह तो सादृश्य-के कारण भ्रम होता है कि 'यह वही है जो कल था।'

किसी निमित्तसे जैसे बाढसे, भूकम्पसे, पृथिवी या ब्रह्माण्डका ध्वस हो जाना नैमित्तिक प्रलय है।

सम्पूर्ण कार्य और कार्य-कारण जब अपने मूल कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं तब प्राकृत प्रलय होता है। प्राकृत प्रलयमें महत्तत्त्व अपने कार्यके सहित प्रकृतिमे लीन हो जाता हैं या यो कहो कि हिरण्यगर्भ ईश्वरमे सो जाता है।

चौथा आत्यन्तिक प्रलय है। यह प्रवाह रूपसे नित्य प्रपञ्च-धाराका आत्यन्तिक प्रलय इसके अधिष्ठान और प्रकाशकी एकताके ज्ञानसे होता है। आत्यन्तिक माने जिसके बाद प्रपञ्चाकारिताका उदय ही न हो। प्रपञ्चाकार चाहे भासे या न भासे, परन्तु प्रपञ्च सत्य न रहे। यह आत्यन्तिक प्रलय है। सब पुराणोमे इसका वर्णन है।

जैसे कोई मनुष्य मरनेके बाद पुनर्जन्म न ले, उसी प्रकार यह निखिल प्रपञ्च जो है वह अधिष्ठान-ज्ञानसे बाधित हो जानेके बाद सत्तावान् न रहे, यह आत्यन्तिक प्रलय है। कैसे निष्पन्न होगा यह प्रलय ? तो भागवतमे कहा हैं :

> **बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।**
> **दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आद्यन्तवद्वस्तु यत्॥**

(भागवत १२.४.२३)

अन्त.करण, इन्द्रियों और विषयोके रूपमे ज्ञान ही भास रहा है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दृश्य है और द्रष्टासे व्यतिरिक्त नही है, क्यो ? जो आदि अन्तवाली हैं वह तो वस्तु ही नही है।

अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त अध्यस्तकी सत्ता नही है। इसलिए यह सम्पूर्ण कार्य-कारण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही है।

इस ज्ञानके होनेपर क्या होगा ? आत्यन्तिक प्रलय हो जायेगी। यही वेदान्तोक्त मोक्ष है। जन्म-मरण-प्रवाहकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप जो नि.श्रेयस् मोक्ष है वह सिवाय वेदान्तके किसी अन्य मतमे संभव नही है। यह विचार करके देख लो।

ब्रह्मसूत्रका अन्तिम सूत्र है—अनावृत्तिः शब्दात्। माने ब्रह्म-सूत्र उस मोक्षका प्रतिपादन करता है जिसमें आवर्तन नही होता, पीछ लौटना नही पड़ता. अर्थात् आत्यन्तिक प्रलय ही वेदान्त-दर्शनका मोक्ष है।

नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत प्रलयोंमे आवर्तन होता है क्योंकि सबमे लय और उदयकी प्रक्रिया चलती रहती है परन्तु आत्यन्तिक प्रलयमे आवर्तन नही होता।

परमाणुओका परिवर्तन आवर्तनरूप है। वे जीवरूपी चुम्बकके चारो ओर घूमते रहते हैं। भगवान्के साथ ऐक्य भी आवर्तनरूप है क्योकि ऐक्य भगवदनुग्रहके विना होता नही और यदि भगवदिच्छासे ऐक्य (सायुज्य) सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थं श्रीराधारानी भगवान्से ऐक्य होनेपर भी भगवदिच्छासे अलग रहती हैं। वैष्णवोने भगवान् और श्रीराधारानीका भेदाभेदरूप सम्बन्ध ही माना है।

फिर अनावृत्तिरूप मोक्ष कहाँ है? वह ब्रह्मका स्वतःसिद्ध स्वरूप है और वह केवल अविद्याके द्वारा आवृत है। इसलिए अविद्याकी निवृत्तिके लिए वेदान्तका विचार, ब्रह्मजिज्ञासा, आवश्यक है।

तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणानिःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

तस्मात्=इसलिए। कस्मात्? किसलिए? क्योकि विचार न करनेसे मोक्षमे वाधा और अनर्थकी प्राप्ति होगी इसलिए हम ब्रह्मजिज्ञासाका उपन्यास करते है। अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासाका प्रारम्भ करते हैं।

यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस विचारका मुख है। मुख माने प्रारम्भ। इसीसे 'आमुख' शब्द वना है।

प्रश्न यह है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' स्वयं इससे आगे कहे जानेवाले वेदान्तदर्शनका भाग है या नही? यह सूत्र तो ग्रन्थकी प्रतिज्ञामात्र है, ग्रन्थका भाग कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर है कि यह भी वेदान्त-दर्शनका भाग है। क्यो ? तो कहा कि उपनिषद्में ही यह आज्ञा दी गयी है कि **'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'**। उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है। इस वेदान्तका भाव बतानेके लिए ही यह सूत्र है। इसलिए यह वेदान्तसूत्र है। आचार्य कहते हैं कि यह वेदान्तका मुख है—**उपन्यासमुखेन**।

उपर्युक्त प्रश्न ऐसा ही है जैसे कि 'शरीरको बतानेवाला मुख शरीरका भाग है या नही ?' है, बाबा ! मुख भी शरीरका ही अंग है।

श्रीसायणाचार्यने वेद-भाष्यमे एक प्रश्न उठाया कि ऋग्वेदादि जो हैं उनके वेद होनेमें उपनिषद् प्रमाण हैं या नही ? बोले, नही ! क्योकि उपनिषद् तो खुद ही वेद है। अपने ही एक अंशमे प्रमाण और एक अंशमे प्रमेय, यह नही हो सकता।

वेदान्तमे वक्ताको प्रमाण नही मानते। यही कारण है कि वेदान्तमे जैसे बौद्धागम या जैनागम प्रमाण नही माने जाते वैसे ही वैष्णवागम या शैवागम भी प्रमाण नही माने जाते। इसमे राग-द्वेषकी बात नही है, सिद्धान्तकी बात है।

वेदान्तमे कोई वचन आप्तवचन होनेसे ही प्रमाण नही होता। वचनमे प्रतिपाद्य वस्तुका उस वचनसे साक्षात्कार होता है या नही, यह प्रमाणकी कसौटी है। महान् पुरुषोंसे भी अनजानमें गलती हो जाती है। भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा दोषोसे विनिर्मुक्त वेदान्त-वाक्य ब्रह्मावबोधक होनेसे प्रमाण माने जाते हैं।

इसलिए आओ ! वेदान्त-वाक्योकी मीमांसा करें। वक्ताके वचनके बोझसे दबकर हम विचार करने नही जा रहे। हम उन वेदान्त-वाक्योकी मीमांसा प्रस्तुत करने जा रहे हैं जिनका प्रामाण्य

सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-शून्य देश-काल-वस्तुके अधिष्ठान एव अवभासक दृङ्मात्र जो ब्रह्मतत्त्व है उसके अपरोक्षीकरणमें है। **वेदान्तवाक्य-मीमासा**। मीमासा अर्थात् पूजित विचार।

परन्तु तर्क-वितर्कका क्या करोगे? बोले : जहाँतक अविरोधी तर्क होगा वहाँतक हम तर्कको मानेंगे परन्तु शास्त्रविरोधी तर्कको नही मानेंगे। करछी दाल अच्छी पकानेके लिए होती है उसे जलानेके लिए नही। यदि करछीसे दाल जल जाय तो वह किस कामका? शास्त्रसे अविरोधी तर्क मीमासाका उपकरण है : **तदविरोधितर्कोपकरणा**।

मनुस्मृतिमे तर्कके सम्बन्धमे बहुत अच्छा कहा है :

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविमोहनात्।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर.॥

'आर्ष और धर्मोपदेशोका, जो वेदशास्त्रके अविरोधी तर्कोंसे अनुसन्धान करता है उसको ही धर्मका ज्ञान होता है दूसरोको नही।'

ब्रह्ममे तर्क नही चलता। तर्कसे ब्रह्मज्ञान नही होता।

तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र)
नैषा तर्केणमतिरापनेया (उपनिषद्)

तर्क माने काटना। केवल काटनेसे काम नही चलेगा, कुछ मिलना भी चाहिए। क्या मिलेगा? तो कहा नि श्रेयस मिलेगा। हमारे वेदान्तवाक्य-मीमासाका प्रयोजन दर्शन-शास्त्रका निर्माण नही है या कालक्षेप करना नही है। उसका प्रयोजन है–नि श्रेयस। **नि.श्रेयसप्रयोजना**।

ऐसी मीमासा अब हम प्रस्तुत करते हैं :

तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा नि श्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते। ●

(२. ०.)

जन्माद्यधिकरण

जन्माद्यस्य यतः ॥ १. १. २ ॥

'जन्मादि अस्य यतः । इस जगत्‌की (=अस्य) उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय (=जन्मादि) जिससे होते हैं (=यतः), वह ब्रह्म है।'

(२. १.)

ब्रह्मका लक्षण

ब्रह्मजिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किं लक्षणं पुनस्तत् ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकारः—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्‌गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गम् समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३.१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यत. सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः ।

(भाष्य)

अर्थ : (प्रथम अधिकरणमे) यह कहा गया कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए । तो उस ब्रह्मका लक्षण क्या है ? इसपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि 'जन्माद्यस्य यत.' । (इसमे जन्मादि-

का अर्थ है :) जन्म-उत्पत्ति है आदिमें जिसके वह 'जन्मादि' है। यह तद्गुण सविज्ञान बहुव्रीहि समास है। (अतः) उत्पत्ति, स्थिति और भग, यह समासका अर्थ है। श्रुतिनिर्देशसे तथा (लोक-प्रत्यक्ष) वस्तुस्थितिकी अपेक्षा जन्मादि कहा गया है। श्रुति-निर्देश है यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते० (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे ये जीवन धारण करते हैं, जिसकी ओर ये सब जारहे हैं और जिसमें ये सब प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है; उसकी विजिज्ञासा करनी चाहिए। इस श्रुतिवाक्यमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका क्रम दिखायी देता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी है कि जन्मसे सत्ताको प्राप्त धर्मीकी हो स्थिति और प्रलय सम्भव है।

('अस्य'का अर्थ करते है :) 'अस्य' प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध धर्मीका 'इदम्' शब्दसे निर्देश है। और 'अस्य' इसमे षष्ठी विभक्ति जन्मादि धर्मोंका धर्मी जगत्के साथ सम्बन्ध लक्षित करनेके लिए है।

(यतः का अर्थ करते हैं :) 'यतः' यह शब्द कारणका निर्देश करता है।

(अत' जन्माद्यस्य यत' का अर्थ है कि) जो नामरूपसे अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ताओ और भोक्ताओसे सयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्तसे क्रिया और फलका आश्रय है एव मनसे भी अचिन्त्य रचनारूपवाले इस जगत्की (=अस्य) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (=जन्मादि) जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं (=यत.) वह ब्रह्म है। 'वह ब्रह्म है' यह वाक्य शेष है।

•

प्रथम अधिकरणमे बताया गया कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' मे यही बताया गया कि ब्रह्म हो

जिज्ञास्य है, उसको पूछो और जानो! श्रुति उद्‌बोधन करती है कि **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** (कठ० १३.१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उसका बोध करो।'

यहाँ हमारे वचनका अभिप्राय केवल वस्तुके साक्षात्कारमें है—ब्रह्मके ज्ञान, ब्रह्मके साक्षात्कारमें, ब्रह्मविषयक श्रुति या वक्ताके बड़प्पनमे नही है। वक्ता अपना बड़प्पन सिद्ध करनेके लिए कहेगा : 'मैने यह देखा, यह सुना, यह अनुभव किया और वही अब तुमको सुनाते हैं।' परन्तु ब्रह्मवेत्ता लोग अपना 'अनुभव' किसीको नही सुनाते, अपितु आपको अनुभव करानेके लिए बोलते हैं। वस्तु यदि प्रत्यक्ष हो तो शब्दसे भी उसका अपरोक्षज्ञान ही होता है, यह बात मालूम होनी चाहिए।

ब्रह्मजिज्ञासितव्यम्—ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए, यह बात कही गयी। इसपर प्रश्न हुआ कि तब ब्रह्मका लक्षण क्या है? **किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म?** इसका यह भी अभिप्राय है कि क्या ब्रह्मका लक्षण भी हो सकता है? इसको 'आक्षेपिका सगति' बोलते हैं। आक्षेप इसमे यह है कि ब्रह्मका लक्षण बन ही नही सकता। लक्षण तो तब बने जब कही रूप हो, गुण हो, क्रिया हो सम्बन्ध हो, जाति हो। निर्विशेष ब्रह्ममे जब यह सब कुछ है ही नही तो शब्दके द्वारा उसका लक्षण कैसे बने?

तो बोले, अच्छा आओ! ब्रह्मका असम्बन्धरूप लक्षण बनाये। जिसका किसीके साथ कोई सम्बन्ध न हो वही ब्रह्म है। परन्तु यह लक्षण सम्भव नही है क्योकि ब्रह्म अद्वितीय है और उपर्युक्त लक्षण बताता है कि ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है तो सही परन्तु उसका ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नही है। इस लक्षणमें 'किसीके साथ कोई'—रूप जो द्वैत रह गया वह अद्वितीय ब्रह्मका लक्षण नही बनने देगा।

इसपर सूत्रकारसे कहा ' अच्छी बात है हम जगत्कारणत्वरूप लक्षण बनाते हैं। जो जगत्का कारण है, जगत्के जन्मादि जिसमे होते हैं, सो ब्रह्म है। **जन्माद्यस्य यतः।** इस लक्षणमे आपत्ति यह है कि कार्य और कारण दोनोमे दोष होता है। कार्यमे दोष है— विनाशी होना, ओर कारणमे दोष है परिणामी होना। बीज गीला होता है, फटता है, फूटता है; तब उसमे-से अङ्कुर निकलता है और अङ्कुर बढता है, फलता-फूलता है और नष्ट हो जाता है। तब अविनाशी कूटस्थ ब्रह्मका लक्षण जगत्कारणत्व कैसे बनेगा ?

ठीक है, यदि ब्रह्मको जगत्का कारण सिद्ध करनेके लिए ब्रह्मका यह लक्षण बनाते तब तो वह सदोप होता। परन्तु ब्रह्मका जो लक्षण हम 'जन्माद्यस्य यत' करके बना रहे हैं वह ब्रह्मको कारण सिद्ध करनेके लिए नही बना रहे हैं, वह ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध करनेके लिए ही बना रहे हैं।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि सत्यका लक्षण मिथ्या हो सकता है या नही ? अर्थात् मिथ्या लक्षणसे सत्यका ज्ञान हो सकता है या नही ?

यदि किसी मनुष्यको समुपस्थित स्थाणुमे चोरका या भूतका भ्रम हो जाय तो उसको स्थाणुका ज्ञान करानेके लिए यही तो कहेगे कि "तेरी नजरमे जिस स्थानपर जिस वस्तुमे चोर या भूत दीख रहा है, वही तो तुम्हारे चोरका बाप, तुम्हारे भूतका बाप, तुम्हारे चोर और भूतका उपादान वह ठूँठ है, स्थाणु है।"

पुनः एक आदमीको साँप दीख रहा है और दूसरे आदमीने वही उसी वस्तुको रज्जु देख रखा है। अब दूसरा आदमी पहिलेसे कहता है : 'भाई जरा रस्सी ले आओ !' तो पहिला क्या कहेगा ? वह बोलेगा : 'यहाँ रस्सी कहाँ है, अरे बाबा, यहाँ तो साँप है !' अब दूसरे आदमीको पहिलेको ज्ञान करानेके लिए क्या कहना

चाहिए? यही कि "भलेमानुस, वह रस्सी ही साँप बनी हुई है। जिसमें साँपकी उत्पत्ति हुई, जिसमें साँपकी स्थिति है और जिसमें साँपका विलय हो जाता है तथा जिसमें साँप तीनो कालमें है ही नही, वह जो सर्पभावाभावोपलक्षित रज्जु है; वही है।"

इस प्रकार सत्य रज्जुका मिथ्या सर्प लक्षण बन गया न?

सर्पभावाभावोपलक्षितत्वं रज्जुत्वम्।

'सर्पके भाव और अभावसे उपलक्षित रज्जु है।' तो मिथ्या वस्तुसे भी सत्यका लक्षण (सत्यको लखानेके लिए) बनाया जा सकता है।

लक्षण वह है 'जिससे वस्तु लखी जाय, देखी जाय, जानी जाय।' वस्तुको पहिचाननेका जो उपाय है उसको लक्षण बोलते हैं।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

'लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है'— यह दर्शनशास्त्रका प्रसिद्ध वचन है। किसी भी वस्तुको सिद्ध करना हो तो उसका लक्षण और प्रमाण दोनो बताना चाहिए।

सामान्यरूपसे लक्षण और प्रमाणके बिना भेद पहिचाननेमे नही आता। जैसे आप एक गाय देखते हैं, तो आँखसे गाय देखते है। 'गाय है'—इसके ज्ञानमे नेत्र प्रमाण हैं। [यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि प्रमाण उसको कहते हैं जो आपके शरीरमें हो।] सब प्रमाण किसी-न-किसी प्रकारसे वस्तुका निश्चयज्ञान ही करवाते हैं। अनुमानसे भी अग्निका निश्चयज्ञान ही होता है, उपमानसे भी गायका निश्चयज्ञान ही होता है; अनुपलब्धिसे भी अभावका निश्चय ही होता है; और अर्थापत्तिसे भी अर्थसिद्ध-वस्तुका निश्चय ही होता है। एक पदार्थ ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष होता है, एक मानस-प्रत्यक्ष होता है, एक साक्षी-प्रत्यक्ष होता है और एक वस्तु है जो स्वयं साक्षी है। परन्तु जबतक वस्तुका 'यथार्थ' अनुभव न हो तबतक प्रमाण क्या?

दूसरी चीज है लक्षण। गाय आप आँखसे (प्रमाणसे) देखते है। परन्तु आँखसे तो गाय भी दिखती है और बकरी भी, हाथी भी दिखता है और घोडा भी। गायमे ऐसी क्या विशेष बात है जिससे आप गायको पहिचानते हैं? गायके गलेमे जो ललरी लटकती है, गलकम्बल या सास्ना जिसको कहते हैं, कण्ठसे पाँवतक जो लटकती है, वही गायका लक्षण है :

सास्नावत्वं गोत्वम्।

सास्नावती होना गायका लक्षण है। अब गाय बकरीसे अलग हो गयी, घोडेसे अलग हो गयी, हाथीसे अलग हो गयी।

अच्छा, कोई कहे कि 'शृङ्गवत्वम् गोत्वम्' अर्थात् सीगवाला होना गायका लक्षण है, तो क्या यह गायका लक्षण बना? नही बना। क्योकि सीग तो बकरी, भैस, हरिणमे भी होते हैं। इससे गायका अन्य सीगवाले पशुओसे व्यावर्तन (=पृथक्करण) नही हुआ। अतः इस लक्षणमे अतिव्याप्ति दोष है। अर्थात् जो लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमे भी घटता हो, वह लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त है।

लक्षण तीन दोषोसे मुक्त होना चाहिए : **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव।** जो लक्षण लक्ष्यमे व्यापे ही नही वह अव्याप्ति-दोषवाला है। जैसे कोई कहे कि 'जिसके खुर फटे न हो वह गाय है।' तो यह अव्याप्ति युक्त लक्षण है गायका, क्योकि यह लक्षण तो गायमे घटता ही नही (गायके खुर फटे होते हैं)। जो लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अन्यमे भी घटित हो वह अतिव्याप्ति दोषवाला है। जैसे 'शृंगवाला होना गायका लक्षण है'। इसकी चर्चा अभी कर ही चुके हैं। जो लक्षण कभी किसीमे घटित ही न हो वह असम्भव दोष-वाला लक्षण है। जैसे कोई कहे 'एक खुरवाला पशु गाय है'। तो यह लक्षण असम्भव है क्योकि किसी भी गायके एक खुर नही होता।

लक्षणके बारेमें एक बात प्रायः यह देखनेमें आती है कि लक्षण जिस वस्तुका होता है वह (लक्षण) उसी वस्तुमें रहता है। जैसे आपको पृथ्वीका प्रत्यक्ष करना है तो गन्धवती होना पृथ्वीका लक्षण है और नाकसे गन्ध सूंघी जाती है। अतः गन्ध पृथ्वीका लक्षण है और घ्राणेन्द्रिय (नाक) पृथ्वीके सम्बन्धमें प्रमाण है। हमारे यहाँ पदार्थ-लक्षणके लिए वैशेषिक-दर्शनमे और प्रमाण-व्यवस्थाके लिए न्याय-दर्शनमें बड़ी गम्भीरताके साथ विचार किया गया है। (पदार्थके यथार्थ ज्ञानका कारण है और एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका व्यावर्तक लक्षण है)।

असलमे विचार करना है ब्रह्मका। ब्रह्मका लक्षण क्या है और प्रमाण क्या है ?

यदि ब्रह्म किसी एक इन्द्रियका विषय होता, या सब सम्मिलित इन्द्रियोका विषय होता, या मन-बुद्धिका विषय होता, या स्वयं साक्षीका विपय होता, तो हम किसी भी प्रमाणके द्वारा (आँख या नाक या कान या त्वचा या रसना या इन सबके द्वारा), या मनमे बैठे हुए भावनाजन्य सस्कारके द्वारा या संस्कारानुसारी विचारके द्वारा या अप्रमाणके द्वारा (जैसे सुषुप्तिका ज्ञान विना किसी प्रमाणके सीधे साक्षीके द्वारा होता है) हम ब्रह्मको देख सकते।

यदि गन्धादिक विषयोके समान ब्रह्म होता तो वह इन्द्रियोसे दीखता। यदि भावनासे भावित ध्येय मूर्तिके समान (रामकृष्णादिकी मूर्तिके समान) ब्रह्म होता तो वह मनसे दीखता। यदि सस्कारानु-सारी विचारके द्वारा धर्म आदिके समान ब्रह्म उद्बोधित होता तो उसका बुद्धिसे ग्रहण होता। यदि वह सुषुप्तिके समान साक्षीभास्य होता तो हम ब्रह्मको विना किसी मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि प्रमाणोके द्वारा स्वयं ही ब्रह्मको देख लेते।

जब हम स्वय ही ब्रह्म हैं तो स्वयंके दर्शनमें प्रमाण क्या हो सकता है ? यही कि किसी भी तरह आत्माकार या ब्रह्माकार वृत्ति उदय हो। यह वृत्ति कौन जगायेगा ? क्या आँख, कान आदि इन्द्रियाँ जगायेंगी ? क्या कल्पना अथवा सस्कारसे अनुप्राणित विचार जगायेगा ? बोले : नही, यह कोई नही जगा सकता ब्रह्माकारवृत्तिको। केवल शब्द जगायेगा, केवल तत्त्वमस्यादि वेदान्त-वाक्य जगायेंगे इस वृत्तिको—वे वाक्य जो हमारे स्वरूपके बोधक हो।

स्वरूप-बोधक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो ज्ञात आत्माकारवृत्तिको जगाते हैं और दूसरे वे जो अज्ञात आत्माकारवृत्तिको जगाते है। जितना तुम्हे अपने बारेमे (अपनी आत्माके बारेमे) ज्ञात है कि "मैं हूँ, मै जानता हूँ, मैं प्रिय हूँ'—यदि इतना ही ज्ञान वाक्यने जनाया कि 'तुम हो, तुम जानते हो, तो वह वाक्य प्रमाण नही हुआ। प्रमाण वह होता है जो अज्ञात-ज्ञापक होता है=न जानी हुई चीजको जो जनावे सो प्रमाण। तो अज्ञातका तो ज्ञापन करे और ऐसा ज्ञापन करे कि वह किसी दूसरे प्रमाणसे बाधित न हो सके, कट न सके—तब वह वाक्य प्रमाण होगा।

तो देखो, 'आत्मा है, आत्मा जानता है, आत्मा प्रिय है' यह बिना किसी प्रमाणके ही स्वतःसिद्ध ज्ञान है। यदि वेदान्त-वाक्य-प्रमाणने यही ज्ञान कराया तो कुछ ज्ञात नही कराया। इसमे जो आत्माका अज्ञात अपरिच्छिन्नत्व एवं अद्वितीयत्व है, इस अज्ञात-का जो बोधन करानेवाले वेदान्त-वाक्य हैं जैसे 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वे ही प्रमाण हैं और वे ही ब्रह्माकार प्रमाण-वृत्ति उत्पन्न करते हैं। वेदान्तका यह गम्भीर एवं सर्वोपरि सिद्धान्त है।

आत्माका जो प्रसिद्ध अंश है कि 'मै हूँ, मै जानता हूँ, मै प्रिय हूँ' इसको लखानेमे प्रमाणकी प्रमाणता नही है। जो हम नही जानते हैं उसको लखानेमे प्रमाणकी प्रमाणता है। अनधिगतार्थं बोधकत्व तथा प्रमाणान्तरसे अबाधिकत्व प्रमाणमे होना चाहिए।

जब प्रमाण यह बता देगा कि तुम देशाकार, कालाकार, द्रव्याकार वृत्तिके अधिष्ठान और साक्षी अद्वय ब्रह्म हो, तब द्वैत बाधित हो जायेगा और केवल आत्मा ही आत्मा रह जायेगा। इस प्रकार हमारे अन्त करणमें आत्माके अज्ञात ब्रह्मत्वका कौन-सा प्रमाण है? आत्माके ब्रह्मत्वका बोधक महावाक्य ही प्रमाण है, फिर वह चाहे सस्कृतमे हो या हिन्दीमे या अग्रेजीमे। भाषा-भेदका यहाँ कोई प्रभाव नही है। "यह जो वृत्तिका द्रष्टा आत्मा है, यह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे रहित, अद्वय ब्रह्म है"—इत्याकारक वृत्ति ही ब्रह्माधिष्ठानमे भ्रान्तिको निवृत्त करके और स्वयको भी निवृत्त करके स्वय भी बाधित हो जाती है। अत ब्रह्मात्मैक्य-बोधमे महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्याकार-वृत्ति ही प्रमाण है, इसके सिवाय और कोई प्रमाण नही है।

यह लक्षणके साथ प्रमाणकी चर्चा सुना दी। अब ब्रह्मके लक्षणकी बात सुनाते है।

जन्माद्यस्त यतः

—यह ब्रह्मका लक्षण है। जगत्के जन्मादि जिससे होते है सो ब्रह्म है। अब देखना यह है कि यह ब्रह्मका लक्षण है भी? यह लक्षण ब्रह्मेमे है या नही (अर्थात् कही अव्याप्ति तो नही है?), ब्रह्मके अतिरिक्त किसी अन्यमे भी है क्या (अर्थात् कही अतिव्याप्ति दोष तो नही है) और कही यह असम्भव लक्षण तो नही है?

परन्तु इस विचारसे पहिले यह विचारणीय है कि ब्रह्मका

लक्षण हो भी सकता है या नही ? किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मसे आचार्यने इसी आक्षेपकी ओर सकेत किया है।

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवास्ति नहि विद्यते।
जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात् सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः॥
(वैयासिक न्यायमाला १२)[1]

प्रश्न है कि ब्रह्मका लक्षण है या नही ? बोले—है। क्या ? जन्माद्यस्य यत.। जगत्का जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है। बोले—ब्रह्मका यह लक्षण नही हो सकता। क्यो ? क्योकि जन्मादि जगत्-निष्ठ है ब्रह्मनिष्ठ नही है। बोले—अच्छा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० उप० २ १-१) (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) यह ब्रह्मका लक्षण है। तो कहा, नही। यह भी लक्षण नही हो सकता क्योकि ये सब लक्षण 'सत्यता, ज्ञान और अनन्तता' अनुभवमे नही आ सकते। जो अनुभवमे आता है वह सब अनित्य, जड और परिच्छिन्न है। इसलिए अप्रसिद्ध ब्रह्मका कोई प्रसिद्ध लक्षण नही हो सकता। और यदि ब्रह्मका कोई लक्षण ही नही बनता तो उसके ज्ञानकी आशा ही छोड देनी चाहिए। सूत्रकार-की जो प्रतिज्ञा है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—वह व्यर्थ है। (यह उक्त आक्षेपप्रदर्शक श्लोकका भावार्थ है)।

'जन्माद्यस्य यत:' यह एक-सूत्रीय अधिकरण है जिसको जन्माद्यधिकरण कहते हैं। इस अधिकरणका विषयवाक्य यह श्रुति है :

---

१. यह श्लोक वैयासिक न्यायमालाका है। पहिले लोगोको कण्ठ करने-का बडा अभ्यास था। परन्तु सूत्र और भाष्य सबको कण्ठ करना बडा मुश्किल पडता है। इसलिए समग्र ब्रह्मसूत्रके प्रत्येक अधिकरणपर प्रायः दो-दो श्लोक, और कही-कही दो-से-अधिक भी श्लोकोकी रचना करके याद करनेके लिए यह वैयासिक न्यायमाला बनायी गयी।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म ।

(तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१)

यह जो ब्रह्मसूत्र है वह उपनिषद्के वाक्य-पुष्पोको एक माला-गूथनेके लिए बनाया गया है। इस मालाका जो पहिला पुष्प-मणिका है, वह यह उपर्युक्त वाक्य है जिसमें बताया गया है कि :

"ये सब भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते है, जिसकी ओर इनकी गति है और जिसमें ये अन्ततः प्रवेश कर जाते है, उसीकी जिज्ञासा करो। वही ब्रह्म है।" यह वाक्य यह बतलाता है कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय तीनों ब्रह्मसे होते है।

विचारका विषय यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय (=जन्मादि) ब्रह्मका लक्षण है या नही ? उक्त विषय वाक्यमें यह सन्देह हो गया । (**लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवा अस्ति ?**)

अव इसमें पूर्वपक्ष क्या है ? वह यह है कि जन्मादि ब्रह्मका लक्षण नही है क्यो ? क्योकि वादीका कहना यह है कि जन्मादि अन्यनिष्ठ है ब्रह्मनिष्ठ नही है (जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्) जन्म होता है जगत्का, स्थिति होती है जगत्की, मृत्यु होती है जगत्की। फिर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय उस ब्रह्मका लक्षण कैसे हो सकता है जो जगत्से परे है ? पूछा तो था ब्रह्मका लक्षण क्या है और बता दिया कि जिससे जगत्के जन्मादि होते है। यह तो ऐसा ही हुआ कि पूछा आमका पेड़ कौन-सा है और बता दिया कि वह रहा नीमका पेड़ ! **आम्रान् पृष्ठः को विदारान् आचष्टे !**

क्योकि जन्म-आदि ब्रह्मके नही होते, जगत्के होते हैं, इसलिए जगत्के जन्मादि ब्रह्मके लक्षण कैसे हो सकते हैं ?

भामतीकारने कहा कि यद्यपि सूत्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्रतिज्ञा प्रथम सूत्रमे कर चुके हैं परन्तु बात्त यह है कि जब जहाँ जो अनुभवका विषय होता है वह परिमित होता है, सोमित होता है, परिच्छिन्न होता है। जिस कालमे, जिस देशमे जो वस्तु जिस कारणके द्वारा अनुभवका विषय होती है वह परिच्छिन्न होती है। वह वस्तु शुद्ध भी नही होती क्योकि उसमे हमारी वृत्तिका सम्बन्ध भी होता है। वह वस्तु ज्ञानस्वरूप भी नही होती क्योकि वह ज्ञानका विषय दृश्य होती है और वह विध्वंसी अर्थात् विनाशी होती है—

तत्र यद्यावदनुभूयते तत्सर्वं परिमितं अविशुद्धमबुद्धं विध्वंसि न तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वरूपं शक्य लक्षयितुम्। (भामती)

इसलिए अनुभवके विषयके द्वारा जो तुम 'सत्यं ज्ञानमनन्त' ब्रह्मका लक्षण बनाने चले हो यह बिलकुल गलत है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव एवं अपरिच्छिन्न है और अनुभवका विषय सदा ही अनित्य, अशुद्ध, ज्ञेयरूप तथा परिच्छिन्न होता है।

पुन लक्षण प्रसिद्धका होता है, अत्यन्त अप्रसिद्ध ब्रह्मका लक्षण नही हो सकता।

सिद्धान्ती ब्रह्म शास्त्रसे प्रसिद्ध है। शास्त्र ब्रह्मको 'सत्यम्', 'ज्ञानम्' और 'अनन्तम्' कहता है यही ब्रह्मके लक्षण हो तो क्या आपत्ति है?

पूर्वपक्षी : अच्छा मानलो कि ब्रह्मके लक्षण 'सत्यम्', 'ज्ञानम्', और 'अनन्तम्' हैं। परन्तु ये लक्षण कभी अनुभवमे नही आ सकते। ये कोरी कल्पना है। किसी भी वस्तुका तुम नित्यरूपमे साक्षात् कर सकते हो क्या? नही कर सकते। हम दुनियामे किसी भी माईके लालको चुनौती देते हैं। यह वस्तु नित्य है, इसका अनुभव

तुमको कैसे हुआ ? वह वस्तु पहिले थी, उससे पहिले थी, उससे पहिले भी थी,…और बादमे रहेगी, उसके बादमें रहेगी, उसके भी बादमें रहेगी…—यही तो तुम्हारी नित्यता है न ? यह पहिले-पहिलेका और बाद-बादका साक्षात्कार तुम्हे कैसे हुआ ? क्या तुम्हारी बुद्धि अनादि भूतमें थी और अनन्तमें रहेगी ? या कि पहिले और बादको देखनेकी कोई खुर्दबीन या दूरबीन तुम्हारे पास है ? कैसे साक्षात्कार होगा अनादि और अनन्तका तुमको ? इसलिए अनादि-अनन्त जो तुम ब्रह्मका लक्षण बताते हो वह गलत है।

क्या ज्ञान ब्रह्मका लक्षण है ? वह भी नही है। प्रश्न यह है कि क्या ज्ञानका ज्ञान होता है ? दूसरे शब्दोंमे, क्या ज्ञान ज्ञान रहकर ज्ञात होता है या ज्ञेय होकर ज्ञात होता है ? माने जो जाननेवाला ज्ञान है और जो जाना-जानेवाला ज्ञान है उनमे कोई फर्क है या नही ? यदि कहो कि फर्क नही है तो 'आत्माश्रय' दोष आता है अथवा 'कर्तृ-कर्म विरोध' आता है। क्योकि एक ही ज्ञान ज्ञाता भी और ज्ञेय भी नही हो सकता। या तो ज्ञानमे ज्ञाता और ज्ञेय दोनो झूठे होगे और या फिर परिणामी होगा ! यदि ज्ञाता और ज्ञेय दोनो झूठे हैं तो ज्ञान जाना ही नही गया और यदि ज्ञान परिणामी है तो ज्ञान ज्ञान ही नही है, दृश्य है, जड है, विध्वसी है। यदि कहो एक ज्ञान दूसरे ज्ञानको जानता है तो दोनोमे फर्क क्या है ? जो जाना गया वह नाशवान् और जो जानता है सो अविनाशी ! इसमे ज्ञान कभी नाशवान् तो कभी अविनाशी। पहिला दूसरेको जानता है और दूसरा पहिलेको। यह 'अन्योन्याश्रय' दोष हुआ। यदि एक तीसरा ज्ञान होवे तो 'चक्रिकापत्ति' दोष है। यदि चौथा होवे तो 'अनवस्था' होगी। यदि कहो ज्ञान जाना ही नही जाता तो 'वदतोव्याघात' दोष है। ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है; वह क्यो नही जाना जायेगा ?

नित्यताका भी साक्षात्कार नही होता, वह केवल कल्पना है। व्यापकताका भी साक्षात्कार नही होता इसलिए वह भी कल्पना है। केवल चिन्मात्रताका भी साक्षात्कार नही होता, इसलिए वह भी कल्पना है। अनन्तताका भी साक्षात्कार नही होता, इसलिए वह भी कल्पना है। तब 'सत्य ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' का लक्षण कैसे बन सकता है? अर्थात् ब्रह्मका लक्षण नही बन सकता।

सिद्धान्ती : अच्छा भाई, लो हम ब्रह्ममे कारणताका अध्यारोप करके ब्रह्मका लक्षण बताते हैं। अर्थात् जगत्‌के जन्मादिका जो कारण सो ब्रह्म है।

पूर्वपक्षी : इसका खण्डन तो हम पहिले ही कर चुके हैं कि 'जन्मादि' ब्रह्मनिष्ठ न होनेसे ब्रह्मका लक्षण नही हो सकता।

सिद्धान्ती : हम जन्मादिको ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण कब बता रहे है? हम तो जन्मादिको ब्रह्मका कल्पित लक्षण बता रहे हैं। कल्पित लक्षणसे भी सत्यवस्तुकी पहिचान होती है।

कल्पित लक्षण कैसा होता है?

रेलगाडी प्लेटफार्मपर आ रही है या नही, इसका लक्षण क्या है? हरा सिगनल हो तो नही आ रही है, लाल सिगनल हो तो आ रही! अब देखो, हरे सिगनल या लाल सिगनलका रेलगाड़ीसे क्या सम्बन्ध है? यह लक्षण तो अन्यनिष्ठ है क्योकि उसका सम्बन्ध तो सिगनल देनेवालेसे है। प्लेटफार्मके खाली होनेसे क्या सम्बन्ध है इस हरे-लाल सकेतका? कोई नही। परन्तु यह कल्पित सम्बन्ध गार्ड, ड्राइवर और सकेत देनेवालेको मालूम है और इसीसे प्लेटफार्मके खाली होने न होनेका ज्ञान उनको हो जाता है। यहाँ अन्यगत लक्षण अन्यका लक्षण है।

द्वितीयाके दिन चन्द्रकला कैसे देखते हैं? दिखानेवाला कहता

है : 'देखो, देखो, वह जो पेड़ है उसकी ऊपरकी डालीसे दो हाथ ऊपर चन्द्रमा है'। तो क्या चन्द्रमा वास्तवमे दो हाथ ऊपर होता है? चन्द्रमाका न तो पेड़की डालीसे और दो हाथकी ऊँचाईसे कोई वास्तविक सम्बन्ध है, परन्तु द्वितीयाके चन्द्रमाका यह कल्पित लक्षण होते हुए भी देखनेवालेको चन्द्रमाका दर्शन होता ही है। यह 'शाखाचन्द्र न्याय' है। यहाँ भी अन्यनिष्ठ लक्षण अन्यका लक्षण बनता है।

लक्षण दो प्रकारका होता है : स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण।

'शाखाचन्द्र न्याय'से 'पेड़की डाली' और 'दो हाथ ऊँचाई' द्वितीयाके चन्द्रका तटस्थ लक्षण है परन्तु यदि यह कहा जाय कि 'आकाशमे सबसे अधिक प्रकाशमान हँसियेकी शक्लका जो नक्षत्र है वह द्वितीयाका चन्द्रमा है' तो यह द्वितीयाके चन्द्रमाका स्वरूप-लक्षण होगा।

जो लक्षण वस्तुके स्वरूपमे रहे और वस्तुको लखाये उसे स्वरूप-लक्षण कहते हैं। जो लक्षण वस्तुके स्वरूपसे अलग रहे और फिर भी वस्तुको लखाये उसे तटस्थ लक्षण कहते है।

तद्भिन्ने सति तद्बोधकम् तटस्थलक्षणम्।
तदभिन्ने सति तद्बोधकम् स्वरूपलक्षणम्॥

तो यह जो 'जगत्के जन्मादिका कारणरूप' ब्रह्मका लक्षण 'जन्माद्यस्य यत.'से बताया जा रहा है वह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। इसलिए अन्यनिष्ठ होनेपर भी जिज्ञास्य ब्रह्मका बोधन करानेमें समर्थ है। यह लक्षण उस जिज्ञासुकी स्थितिको ध्यानमे रखकर बनाया जा रहा है जो ब्रह्मको जानना चाहता है।

ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग् भुजङ्गवत्।
लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि॥
(वैयासिक न्यायमाला १४)

एक आदमीको फूलकी माला दीख रही थी। उसी जगह दूसरे आदमीको साँप मालूम पड़ रहा था। तीसरेको वहाँ डंडा पड़ा दिखायी दे रहा था। चौथेने कहा : ऐ! जरा वहाँसे रस्सी तो उठा लाओ! तीनोने कहा, यहाँ रस्सी कहाँ है? यहाँ तो माला है, पहिलेने कहा। यहाँ तो साँप है, दूसरेने कहा। यहाँ तो डण्डा है, तीसरेने कहा। तब चौथा बोला: अरे भाई, वह माला जिसमे दिख रही है वह रस्सी है। वह सर्प जिसमे दिख रहा है वह रस्सी है। वह डंडा जिसमें दिख रहा है वह रस्सी है। अब देखो! वह रस्सी न माला है, न साँप है, न डंडा है, परन्तु माला, साँप, और डंडा देखनेवालोको रस्सीका बोध हो गया न! और माला, सर्प, डंडा सब-के-सब रस्सीके कल्पित या तटस्थ लक्षण हो गये न!

निष्कर्ष यह है कि भ्रान्तिसे सिद्ध जो विषय है वे मिथ्या विषय भी अपने अधिष्ठानका बोधक हो सकते हैं, होते है। क्योकि कोई भी भ्रम निरधिष्ठान नही होता। मिथ्या वस्तु बिना अधिष्ठानके नही होती। अतः ब्रह्मका लक्षण सम्भव है। और वह लक्षण तैत्तिरीय श्रुतिके आधारपर यह है कि "जिससे इस जगत्‌के जन्म, स्थिति और भंग होते हैं वह ब्रह्म है।"

अब कारणरूपमे जो ब्रह्मका यहाँ निरूपण है उसकी पूरी व्यवस्था आपको सुनाते हैं। पहिले कार्य-कारणके यथार्थरूपको जो लोकमे है उसको पहिचानो। तब उसका जो निषेध है वह पहिचानमे आयेगा। अगर सच्चे साँपको आप न पहिचानते हों तो 'यहाँ साँप नही है—यह भी पहिचाननेमे नही आयेगा। आप

मना ले सकते है, पहिचान नही सकते है। अच्छा, जिस रूपमें ईश्वरका प्रतिपादन किया जाता है, यदि उसको उस रूपमे आप नही समझेंगे तो 'ईश्वर नही है' कहनेवालोकी बात भी आप कैसे समझ पायेगे ? वह तो आपने मानली उनकी बात। आप तो ठगे ही गये। 'अस्ति'को 'नास्ति' मान बैठना और 'नास्ति'-को 'अस्ति' मान बैठना ठगा जाना ही है। इसलिए कार्य-कारण व्यवस्थाको ठीक-ठीक समझकर उसके निषेधावधिको ब्रह्मरूपमें यथार्थतः समझना चाहिए।

कार्यकी उत्पत्तिके लिए उसके अव्यवहित पूर्वक्षणमे जिसकी उपस्थिति अनिवार्य हो उसको कारण बोलते हैं। नियतपूर्ववर्तित्व जिसमें हो सो कारण, यह न्यायकी परिभाषा है। जैसे, घड़ा बननेके पहिले मिट्टी, कुम्हार, चाक, डडा, सूतका होना अनिवार्य है। अतः मिट्टी, कुम्हार आदि घड़ाके कारण हैं। इसी प्रकार बच्चेके कारण हैं—माता, पिता, रज, वीर्य, देश, काल संसार।

अब इन कारणोके दो विभाग कर लो : (१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण। समवायीका अर्थ है जो कार्यमे अनुगत होकर रहे; कार्य बनकर कार्यमे रहे। असमवायी कारण वह है जो कार्य बन जानेके बाद कार्यमे न रहे। इस प्रकार घड़ेका समवायी कारण मिट्टी है और कुम्हार, चाक, डडा, सूत सब असमवायी कारण हैं। समवायी कारणको वेदान्ती लोग उपादान कारण बोलते हैं—**यत् उपादाय कार्यं प्रवर्तते**। (समवायिन् प्रातिपदिक है; कारण नपुसकलिङ्गक शब्द है, अत 'समवायि कारणम्' ऐसा प्रयोग होता है)।

असमवायी कारण पुनः दो विभागोमे विभक्त हो जाता है। (१) निमित्त कारण और (२) सहकारी कारण। निमित्त कारण कर्त्ता (चैतन्य) होता है जैसे कुम्हार। और जिनके

सहयोगसे कर्त्ता कार्यको बनाता है जैसे डंडा, चाक, सूत, थापी, वे सहकारी कारण कहलाते हैं।

प्रत्येक कार्यमे समवायी कारण (उपादान कारण) और निमित्त कारणका होना अनिवार्य है।

अब ब्रह्मसे जगत्के निर्माणमे देखो कि यहाँ निमित्त और उपादान कारण क्या हैं? सूत्र कहता है: **जन्माद्यस्य यतः।** पहिले सूत्रकी शब्द-योजनाको समझो।

जन्मादि+अस्य+यतः=जन्माद्यस्य यतः

अस्य दृश्यस्य जगतः जन्मादि जन्मस्थितिभंगम यतः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म।

"इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और स्वयं साक्षी द्वारा भास्य जगत्) के जन्म, स्थिति और प्रलय जिस कारणसे होते हैं, वह ब्रह्म है।" इसकी आधार श्रुति **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०** और **जन्माद्यस्य यतः** सूत्रको पढकर यह बात स्पष्ट मालूम पडती है कि जगत्का उपादानकारण और निमित्तकारण दोनो ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है 'जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिससे यह जी रहा है, जिसकी ओर जा रहा है और जिसमे जाकर यह लीन हो जाता है, वह ब्रह्म है।' तो लीन होना तो उपादान कारणमे ही होता है। घडा फूटकर अपने उपादान कारण मिट्टीमे ही लीन होता है, निमित्त कारण कुम्हारमे नही। इसलिए जगत्का उपादान कारण ब्रह्म ही है।

निमित्तकारण जगत्का ब्रह्म है यह तो सभी वेदान्तियोको इष्ट है। नैयायिकोने और भक्तोने यहाँ इस 'जन्माद्यस्य यत.' सूत्रमे यह माना है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वकर्त्ता, निमित्तकारण ईश्वर-को ही यहाँ ब्रह्म कहा गया है। इस सूत्रके सम्बन्धमे अद्वैत-

वेदान्तियोको छोड़कर अधिकाश आचार्योंका यही मत है। यह तो आप जानते हैं कि अद्वैत तो सबसे निराला ही है।

असलमे इस सूत्रको देखकर यह स्पष्ट नही होता कि यह जगत्के कुम्हार और मिट्टी दोनोको ब्रह्म कहता है या एकको ब्रह्म कहता है। श्रुति अवश्य यह कहती है कि—उत्पत्तिका स्थान, जीवनयात्राका स्थान, जीवनका लक्ष्य और जीवनकी जो अन्तिम धातु है वह ब्रह्म है।

प्रथम तो, जो केवल निमित्तकारण होगा और उपादानकारण उससे भिन्न होगा, वह ब्रह्म ही नही होगा। इसी प्रकार जो केवल उपादानकारण होगा और निमित्तकारण उससे भिन्न होगा तो वह भी ब्रह्म नही हो सकता। इसलिए ब्रह्म जगत्का निमित्ता-कारण भी है और उपादानकारण भी है। फिर भी यदि किसीके मनमे शका रह जाय तो ब्रह्मसूत्रमे उसके लिए भी उपाय है। आगे अधिकरण आयेगा।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (१.४.२३)

यहाँ बताया गया है कि प्रकृति अर्थात् उपादानकारण भी ब्रह्म है क्योकि एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा और मृत्पिण्ड आदिके दृष्टान्त तभी सगत होते है।

प्रस्तुत सूत्रमे 'यत' पद ब्रह्मवाची है, प्रकृतिवाची नही, यह बात भी ब्रह्मसूत्रमे ईक्षत्यधिकरणमे स्पष्ट कर दी गयी है।

इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि ब्रह्मका लक्षण सम्भव है। मिथ्या पदार्थ भी मिथ्याके अधिष्ठानका लक्षण हो सकता है। अतः मिथ्या जगत्की मिथ्या जन्मादि ब्रह्मके तटस्थ लक्षणके रूपमे व्यवहृत किये गये हैं। तथा 'यतः' पदसे जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्मका ग्रहण होता है। [अभी इस सम्बन्धमे अगला प्रवचन भी पठनीय है]। •

(२. २.)

ब्रह्मका लक्षण–जगत्कारणत्व

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। आइये ब्रह्मका विचार करें।

ब्रह्म-विचारमें एक वात यह ध्यानमे रखनी चाहिए कि वस्तुका स्वरूप प्रयोजनको अपेक्षा नही रखता। दार्शनिक सत्य प्रयोजन-निरपेक्ष होता है। जैसे जज चोरको दण्ड देते समय चोरने किम प्रयोजनकी पूर्तिके लिए चोरी की यह नही देखता; चोर कई दिनोसे भूखा था या उसकी लड़कीका विवाह था यह सव जैसे चोरीके अपराधके निर्धारणमे नही देखा जाता; वैसे ही जव हम सत्यका निर्णय करने चलते हैं तो प्रयोजनानुसारी सत्यको नही वनाया जाता। जैसे वर्षा स्वाभाविक ही होती है, उससे चाहे कुम्हारका घड़ा फूटे या मालीका वगीचा सूखे; वैसे ही

सत्यका निर्वचन स्वाभाविकरूपसे ही किया जाता है चाहे उससे किसीके सिद्धान्तकी हानि हो या लाभ !

लोग कहते है कि यदि ब्रह्मको निर्गुण मानोगे तो उप सनाकी सिद्धि कैसे होगी; यदि ब्रह्मको सर्व मानोगे तो समाधिकी सिद्धि कैसे होगी; और यदि ब्रह्ममें जगत्‌को मिथ्या मानोगे तो कर्म और कर्म-फलकी सिद्धि कैसे होगी ? तो क्या यह सब पूर्व विचार करके ब्रह्मका निर्णय करने चले ? ब्रह्म तो जैसा है वैसा ही है। उसको वैसा ही देखनेके लिए विचार किया जाता है। कमकी या उपासनाकी या समाधिकी सिद्धिके लिए ब्रह्मका विचार नहीं किया जाता।

जो लोग दार्शनिकोंपर बेईमानीका आरोप करते हैं कि उन्होने अमुक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए अमुक सिद्धान्त बनाया—जैसे श्री शकराचार्यजी महाराजपर आक्षेप किया जाता है कि उन्होने बौद्धोको परास्त करनेके लिए मायावादका सिद्धान्त स्वीकार किया—वे लोग स्वयं पक्षपातके दोषी हैं। औपनिषद सिद्धान्त पर यह बात लागू नही होती, क्योकि औपनिषद ऋषियोके अन्तःकरण शुद्ध हैं। शुद्धान्त करणमे पक्षपात नही रहता, क्रूरता नही होती। इसीसे अशुद्धान्त करणवालोको यह वज्र सत्य यह भयकर सत्य स्वीकार नही होता :

योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः।

(माण्डूक्यकारिका ३.३९)

जिनको कुछ पाना है, जिनको कुछ लेना-देना है, जिनको कुछ छोडना-पकड़ना है, वें इस भयंकर सत्यसे, इस सर्वोच्छेदी सिद्धान्तसे, इस ब्रह्मात्मैक्यका निरूपण करनेवाले औपनिषद-सिद्धान्तसे डरते हैं। यह कोई प्रयोजनानुसारी या वासनानुसारी सत्य नही है, यह तो यथार्थ है।

वैकुण्ठमे जानेके लिए साधन करना और बात है, स्वर्गमें जानेके लिए या नरकसे बचनेके लिए या फिर लौकिक सुख-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिए साधन करना और बात है। परन्तु यथार्थ सत्यकी जो जिज्ञासा है, वह व्यक्तिगत भोग या योगको दृष्टिमे रखकर नही होती। वह तो वस्तु-तत्त्वका निरूपण करनेके लिए है, उसमे सिर्फ आत्माकी, ब्रह्म-विषयक अविद्याकी निवृत्ति ही अपेक्षित है।

मैं एक महात्माके पास गया। महात्माने छा। क्या चाहते हो?

मैं : सत्यका ज्ञान चाहता हूँ।

महात्मा : तुम केवल ज्ञान ही चाहते हो सत्यका या और कुछ?

मैं : केवल ज्ञान ही।

महात्मा : अच्छा, यदि सत्यका ज्ञान होनेपर अन्तमे तुम्हे यही अनुभव हो कि सब नरक ही नरक है, तो क्या तुम ऐसे सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेको तैयार हो? यदि सत्यका ज्ञान होनेपर तुम्हे शाश्वत बन्धन मिलता हो या तुम्हारी मृत्यु होतो तो क्या तुम तैय्यार हो?

महात्माने ऐसे ही कहा मुझसे। उनका तात्पर्य यह था कि क्या जिज्ञासुको उसका अज्ञान इतनी पीड़ा दे रहा है कि भले ही उसे मरना पडे या उसे हमेशाके लिए शोक, दुःख और बन्धन मिलता हो परन्तु उसे सत्यका ज्ञान चाहिए? जो अज्ञानान्धकारमें रहना नही चाहता, उसके लिए ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानका विचार है। तो आओ, अब ब्रह्मका विचार करे।

प्रश्न यह है कि अपने जिज्ञास्य ब्रह्मको पहिचानें कैसे? जिसको नही पहिचानते उसकी पहिचान बतानी है; उस ब्रह्मका लक्षण बनाना है।

लक्षण बनेगा जानी हुई चीजसे और उससे पहिचानी जायेगी अनजानी चीज। जैसे हमे किसी सज्जनको पहिचानना है, तो किसीने हमें बताया कि अमुक सज्जन इसी सड़कसे रोज निकलते हैं और काला कोट और काला चश्मा लगाते हैं तथा उनके गालपर एक काला मस्सा भी है। अब देखो, काला कोट, काला चश्मा और काला मस्सा आप पहिचानते है। ये तीनो चीजे एक ही जिन सज्जनमे आपको दीख पड़ेंगी उनको आप पहिचान जायेंगे। इस प्रकार ज्ञात लक्षणसे अज्ञात वस्तुकी पहिचान हो जाती है।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है। यह बात ध्यानमें रखो कि प्रमाण होता है देखनेवालेमे, जिज्ञासुमे; और लक्षण होता है देखेजानेवालेमे, जिज्ञास्यमे। 'सत्य ज्ञानमनन्तम्' या जगज्जन्मादि लक्षण हैं—ब्रह्ममे, और ब्रह्माकारवृत्तिरूपी प्रमाण है—जिज्ञासुमे।

अब प्रश्न यह है कि किस ज्ञात लक्षणसे अज्ञात ब्रह्मका बोध न हो जैसे ज्ञात घड़ेसे उसके उपादान मृत्तिकाकी पहिचान होती है और उस घडेके बनानेवाले (निमित्त कारण) कुम्हारका अनुमान होता है, वैसे ही आओ, यह कार्यरूप जगत् जो सामने है उसके द्वारा जगत्के उपादानकारण और निमित्तकारण अथवा जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ब्रह्मको पहिचानें। अर्थात् आओ, कार्यसे कारणकी पहिचान करें।

नैयायिक कार्यसे निमित्त कारणका अनुमान करते हैं, उपादान कारणका नही। क्योंकि उनके मतमे उपादान कारण तो प्रत्यक्ष ही रहता है; वह सदा कार्यमे अनुगत रहता है।

साख्योके मतमे कार्यको देखकर उपादान कारणका अनुमान किया जाता है। क्योकि घड़ेका उपादान कारण, उनके मतमे, पञ्चभूतोमे तो घड़ा कल्पित है। अर्थात् जो पञ्चभूत हैं वे ही घडा

हैं। घडा पञ्चभूतोका कार्य नही है। उनके मतमे पञ्चभूत प्रकृतिके अन्तिम कार्य हैं और स्वयं प्रकृति मूल कारण है। प्रकृति और पञ्चभूतोके बीचमे महत्तत्त्व, अहंकार कार्य और कारण दोनों हैं। प्रकृति इन्द्रियप्रत्यक्ष नही है। इसलिए जो प्रकृति सबका मूल कारण है, वह प्रत्यक्ष नही है, अनुमानसे सिद्ध है।

इस प्रकार कार्यको देखकर निमित्तकारणका अनुमान करते हैं—न्यायवादी और उपादान कारणका अनुमान करते हैं—साख्यवादी। जब निमित्त कारण और उपादान कारण अलग-अलग होते हैं तब तो यह स्थिति हुई। परन्तु यदि निमित्तकारण और उपादानकारण एक ही हो तब तो उस अभिन्ननिमित्तोपादान कारणका न प्रत्यक्ष ही हो सकता है और न अनुमान ही।

जगत्मे ऐसा कोई दृष्टान्त देखनेमे नही आता जहाँ निमित्त-कारण और उपादान कारण एक ही हों। यदि कहो कि मकड़ीके जालेका निमित्त और उपादान दोनो कारण मकड़ी है, तो यह ठीक नही है क्योकि वहाँ निमित्तकारण तो मकड़ीका चेतनांश है और उपादानकारण मकड़ीका जडाश है।

ऐसी स्थितिमे ब्रह्म जो जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है उसका लक्षण कैसे बनेगा? यह हम पहिले बता चुके हैं कि ब्रह्मका निरूपण नित्यत्वरूप धर्मसे नही किया जा सकता क्योकि ससारकी किसी भी वस्तुमे नित्यत्व लक्षण है ही नही। न काल नित्य है, क्योकि जाग्रत्का काल स्वप्नमे नही रहता और जाग्रत् स्वप्नके काल सुपुप्तिमे नही रहता। इसी प्रकार देशकी नित्यता भी अनुभवमे नही आती। नित्यत्वरूप धर्म अनुभवमे न आनेके कारण धर्मी ब्रह्मका नित्यत्व लक्षण नही बन सकता। बोले कि हम तादात्म्यके द्वारा लक्षण बना लेंगे। जैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुपुप्ति आयी और चली गयी, परन्तु इनमे काल ज्यो-का-त्यो रहा, वैसे

ही बदलती हुई चीजोमे जो न बदलनेवाले कालके आकारकी वृत्ति हुई उस कालावच्छिन्न वृत्तिका जो द्रष्टा है, वही वृत्तिसे तादात्म्य करके कालका अनुभव करता है। परन्तु परिवर्तनशील ब्रह्मका अनुभव तुमको होगा कहाँ? तब? तब नित्याकारवृत्तिके साथ तादात्म्य करके भी ब्रह्मका निरूपण नही हो सकता। इसी प्रकार व्यापकत्वरूप धर्म और तदाकारवृत्तिके साथ तादात्म्य अथवा अद्वैतत्वरूप धर्म एवं तदाकार-वृत्तिके साथ तादात्म्यके द्वारा भी ब्रह्मका निरूपण नही हो सकता।

भामतीकार कहते है कि ब्रह्ममे परमार्थतः कारणत्व नही है, अपितु मायाके द्वारा कारणत्व नटवत् प्रतीत होता है।

मायया कारणं ब्रह्म नटवत् शंकरोऽब्रवीत्।

'किस देशमें बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है? किस कालमे बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है? किस द्रव्यमे बैठकर ब्रह्म जगत्का कारण बन रहा है? जगत्का कारणत्व कैसा है? आप देश, काल, द्रव्यको तत्त्व जानते हैं या अतत्त्व जानते हैं? देश, काल, द्रव्य अतत्त्व भी हों परन्तु वे तत्त्वको लखा सकते हैं।

एक आदमीको वट-वृक्ष पहिचानना था। अब जानकारने उसके हाथमे पत्तलका एक टुकडा (वट-पत्र) रख दिया और कहा कि जिस पेड़से यह पत्ता आया है वही वट-वृक्ष है। वह छोटा सा पत्ता उस विशाल वट-वृक्षके पहिचाननेमें हेतु हो गया न! देखो, वह वटका पेड़ न तो उस पत्तेमे निमित्तकारणके रूपमें आया और न उपादान कारणके रूपमे आया। वह वट-वृक्ष तटस्थ रहा किन्तु उसीसे गिरे हुए पत्तेसे उसकी पहिचान हो गयी। वास्तविक निमित्तत्व भी नही हुआ, वास्तविक उपादानत्व भी नही हुआ, उसकी तटस्थता भी भंग नही हुई और उसके एक

पत्तोसे उसकी पहिचान भी हो गयी। अतः तटस्थ वस्तुमे हम कारणत्वका अध्यारोप करके उसकी पहिचान कर सकते हैं।

ब्रह्मके कारणत्वको समझनेके लिए हमारे सोचनेका ढंग जरा बदलना पडेगा। बताओ तो यह दिक्‌तत्त्वका प्रारम्भ कहाँसे हुआ? इस दिक्‌तत्त्व—पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओका प्रारम्भ (कारण) कहाँसे हुआ? कहो न मुझसे, मेरे शरीरसे। मेरे शरीरका सामना, मेरे शरीरका पीछा, मेरे शरीरका दायाँ, मेरे शरीरका बायाँ—यही न प्रारम्भ है। तो दिक्‌तत्त्वका प्रारम्भ होता है 'मैं'से।

कालका प्रारम्भ कहाँसे होता है? इसी सेकेण्डसे कलाका प्रारम्भ होता है। वर्तमान सेकेण्डका आदि और अन्त ही काल-का आदि और अन्त है। हमारी बुद्धि कालके अनादित्व और अनन्तत्वको ग्रहण नही कर सकती। परन्तु जिसमें यह वर्तमान सेकेण्ड भास रहा है वही कालकी अनादिता और अनन्तता है। कालका अनादित्व 'मैं' हूँ। कालका अनन्तत्व 'मैं' हूँ। इसी प्रकार वर्तमान हृदय देश ही देशकी अनादिता और अनन्तता है।

देखो, यह फूल है। यह फूल कहाँ पैदा हुआ? एक विचार तो यह है कि पेडमे पैदा हुआ। यह तो साधारण विचार है। दूसरा विचार यह है कि इस फूलका दर्शन नेत्रोसे हो रहा है। नेत्राकार-वृत्ति-हृदयमे है। उस नेत्राकार वृत्तिका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है वह इस फूलका वास्तविक कारण है। जिसके बिना फूलकी सिद्धि नही होती और जिसके होनेसे ही फूलकी सिद्धि होती है, वही फूलका कारण है।

कारणकी खोजमे विचारको फैलाते क्यो हो? विचारको लाखो बरस पीछे क्यो फेंकते हो? एकदम पिछड़े हुए बुर्जुआ

हो! विचारको लाखों वरस आगे क्यों फेकते हो? एकदम अव्यावहारिक हो। यह कोई विचारकी पद्धति या प्रयोगकी पद्धति हुई? प्रयोगकी पद्धति यह है कि वस्तु इस समय क्या है, इसका विचार और विश्लेषण करो। तो सबसे पहिले तुम्हारा 'मैं' सामने आता है। इसका विचार करो कि 'मैं' क्या है? जब यह जाँच-पड़ताल करोगे तो मालूम पडेगा यही 'मै'—'हृदय-गह्वारमध्ये अह-अह इति साक्षात् ब्रह्मरूपेण भाति'—हृदय गुहामे स्थित, स्फुरित, मै-मै, साक्षात् ब्रह्म है और वास्तवमे वही समस्त जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वही 'मै' अज्ञानके कारण 'मै-तू-वह-यह'के रूपमे स्फुरित हो रहा है, जैसे एक ही रज्जु अज्ञानके कारण माला, भुजंग, दण्ड, इत्यादि विकल्पोंके रूपमे स्फुरित होती है।

जैसे रज्जुमें सर्प देखनेवालेको रज्जुका ज्ञान करानेके लिए यह कहना पड़ेगा कि: **इदं सर्पतया कल्पितं वस्तु यस्मिन् अधिष्ठाने भासते तदेव रज्जुः।** 'यह सर्पके रूपमें कल्पित वस्तु जिस अधिष्ठानमे भासती है वही रज्जु है।' वैसे ही यह नाम-रूपात्मक निखिल प्रपञ्च जिस नामरूपादि आकारसे विनिर्मुक्त अधिष्ठानमे भासता है वही अधिष्ठान ब्रह्म है।

रज्जुमें परमार्थत. सर्पकी सत्ता नही है। परन्तु अन्धकारके कारण रज्जुका अज्ञान ही सर्पकी सत्ताका निमित्तकारण और उपादानकारण दोनो बनता है। उस अज्ञानदशामे रज्जुको लक्ष्य करानेके लिए रज्जुको सर्पका कारण बताया जा सकता है। रज्जु-ज्ञानके साथ ही रज्जुमे सर्पकी कारणताके अध्यारोपका भी अपवाद हो जाता है। ऐसी ही अध्यारोपित जगत्-कारणता ब्रह्मका लक्षण बनाया जाता है।

(२३)

'जन्माद्यस्य यतः' के पदोंका अर्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। आइये ब्रह्मका विचार करें।

ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहत्। छोटी-वस्तु, छोटा भाव, छोटी दृष्टि, छोटा आदर्श कितना भी श्रेष्ठ क्यो न हो, वह राग-द्वेषका जनक ही होता है। उसके चिन्तनसे, उसकी प्राप्तिसे राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नही हो सकती। ब्रह्म जो अत्यन्त बृहद् है, उसके ही विचारसे, चिन्तनसे, मननसे, राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। आइये, राग-द्वेष जिसको छू नही सकते, राग-द्वेष जिसमे डूब जाते है, देश-काल-द्रव्यके परिच्छेद जिसको बाँधते नही हैं, जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, जो सजातीय-विजातीय स्वगतभेद-शून्य है, उस महान् अद्वय ब्रह्मका अनुसन्धान करें।

किस लक्षणसे ब्रह्मका अनुसन्धान करें? तो कहा : जन्माद्यस्य यत। यहाँ मूलसूत्रमे तीन पद पडे हुए है :—(१) जन्मादि (२) अस्य (३) यत.।

(१) जन्मादिमें 'जन्म' और 'आदि'का समास है। समास माने संक्षेप; व्यासका विलोम है यह! व्यासका अर्थ होता है विस्तार।

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थं। (भाष्य)

जन्म (=उत्पत्ति) है आदिमें जिसके वह जन्मादि। यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार (सृष्टि की) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय यह 'जन्मादि' शब्दमे प्रयुक्त समासका अर्थ है।

(२) **अस्य**=इसका। 'इदं' शब्दवाच्य दृश्यप्रपंचका। 'इदम्'की षष्ठीविभक्ति (सम्बन्ध विभक्ति) का रूप 'अस्य' है। इस विभक्तिका प्रयोग प्रत्यक्षादिसे सिद्ध जगत्का उसके धर्म 'जन्मादि' के साथ सम्बन्ध बतानेके लिए है।

अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। (भाष्य)

(३) **यतः**=जिससे। यत्का पञ्चमी विभक्तिका रूप 'यतः' है। पञ्चमी उपादानमें होती है।

यत इति कारणनिर्देशः। (भाष्य)

'यत' अर्थात् 'जिससे'—यह जन्मादि धर्मवाले जगत्का कारण निर्देश करता है।

इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रका शब्दार्थ भगवान् भाष्यकार इन शब्दोमे प्रकट करते हैं :

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः। (भाष्य)

अस्य = अर्थात् उस जगत्का जो नामरूपसे प्रकट हुआ है; जो अनेक कर्ता-भोक्ताओसे सयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल, निमित्तासे क्रिया और क्रियाफलका आश्रय है और जो मनसे भी अचिन्त्य रचना-स्वरूपवाला है, उस जगत्का, जन्मादि अर्थात् जन्म, स्थिति और भङ्ग यतः जिससे, जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं, वह ब्रह्म है।

'अस्य' इसमे जगत् आगया। 'यतः' इसमे जगत्का कारण ब्रह्म आगया। और जगज्जन्मादि ब्रह्मका लक्षण हो गया। लक्षण तो लक्ष्यनिष्ठ होता है। तो क्या 'जन्मादि' लक्षण भी ब्रह्मनिष्ठ है? इसपर हम विचार कर चुके हैं कि जन्मादि लक्षण जगन्निठ हैं, ब्रह्मनिष्ठ नही है। वास्तवमे तटस्थतासे हो यह ब्रह्मको लक्ष्य करता है।

जगत्के जन्मादि होते है यह श्रुतिसे प्राप्त है। यथा

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म।

(ये सब भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिससे तृप्त होते है और अन्ततः जिसमे प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है)। इसमे जन्म आरम्भमे है, स्थिति और भङ्ग तदनन्तर हैं। अत तद्गुणसज्ञान बहुव्रीहिसमाससे 'जन्मादि' यह लक्षण बना।

वस्तुस्थिति भी यही देखनेमे आती है कि जिसका जन्म हुआ है उसको स्थिति और प्रलय भी सम्भव है। अतः आचार्यने भाष्यमे कहा·

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च (भाष्य)

आइये, अब तनिक सूत्रके पदोके अन्तरमे प्रवेश करें :—

हमको दो चीज मालूम पडती हैं। एक तो इदम् प्रत्ययके विषय अर्थात् वे विषय जो 'यह' करके बोधित होते हैं और एक

विषयी जो अहं-प्रत्ययका विषय होता है। जो इदम्-प्रत्ययका विषय है वही जगत् है। उसका लक्षण है : जन्म, स्थिति और प्रलय। जिसका जन्म हो, जिसकी स्थिति हो और जिसका प्रलय हो सो इदम्, सो जगत् :

यज्जन्मवत् यत् स्थितिमत् यच्च लयवत् तत् इदं जगत्।

'इदम्' कहनेसे क्या मालूम पडा? इद कहनेसे मालूम पडा भासमानत्व, प्रतीतिविपयत्व। इस प्रकार यह जो इदं-प्रतीतिका विषय दृश्य-प्रपञ्च है उसके जन्म, स्थिति और प्रलय दिखायी पड़ते है, वे प्रतीयमान जन्मादि जिस कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है :

अस्य प्रतीतिविषयस्य दृश्यस्य प्रतीयमानं यत् जन्मादि तद् यतो भवति तद् ब्रह्म।

अथवा जिससे 'इदम्' होता है तथा जिससे 'इदम्' के जन्मादि होते हैं सो ब्रह्म है :

यतः इदं भवति यत इदमो जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।

शका : किसी भी व्यक्तिने ब्रह्मसे जगत्को उत्पन्न होते हुए नही देखा और किसीने भी जगत्को ब्रह्ममे लीन होते हुए नही देखा है। देखा भी नही हैं और देख भी नही सकता है। ऐसी स्थितिमे जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलयको ब्रह्मका लक्षण बताकर ब्रह्म-विचारमे प्रवृत्त करना ठीक नही है।

समाधान : ठीक है। जो नही देखा उसका विचार मत करो। उडा दो जन्म और प्रलयको चिदाकाशमें। तुमको एक सेकेण्डका आना, उसका रहना और उसका चला जाना, मालूम पड़ता है या नही? तुमको एक इञ्च स्थानका उदय-विलय प्रतीत होता है या नही? यह एक फल है, यह एक घड़ी है, इन एक-एक वस्तुओकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रतीत होती है या नही? तुम किसीके कारणका विचार करो। प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक देशमें

और प्रत्येक वस्तुमे जो तुम्हे निरन्तर जन्म-स्थिति और भंगका भान हो रहा है और जो जन्मादिवाला है भासता है, वह सब जिससे होता है वह ब्रह्म है।

यत्प्रतिक्षणं प्रतिदेशं प्रतिवस्तुं जन्मादिभासते यत् जन्मादिमत् भासते च तत्सर्वं यतः तद्ब्रह्म ।

इससे क्या निकला ? आपको कुछ मालूम पड़ता है या नहीं ? आंखसे, कानसे, नाकसे, जिह्वासे, त्वचासे, मनसे, बुद्धिसे, साक्षीसे—किसीसे कुछ मालूम पडता है या नही ? पड़ता है। है कोई माईका लाल जो कह सके कि हमे कुछ मालूम ही नही पड़ता ? मालूम तो कुछ-न-कुछ सबको पड़ता ही है।

मालूम पडना (प्रतीति) दो तरहकी होती है · एक प्रतीति मालूम पडती है और मिटती जाती है और दूसरो प्रतीति मालूम पडती और मिटती भी नही है। इस विवेकको सदा ध्यानमे रखो। 'अस्य' अर्थात् 'यह' पदार्थ मालूम पडता है और बदलता जाता है और जिसको यह परिणामी प्रतीति मालूम पडती है वह आत्मा मालूम पडता रहता है और वह कभी बदलता नही।

जो जन्म-स्थिति-लयवाली प्रतीति है वह सब 'यहवाली' प्रतीति है। (उस प्रत्येक प्रतीतिमे 'यह' (इद) लगा हुआ है। 'यह'का जन्म होता है, 'यह'की स्थिति होती है, 'यह'की मृत्यु होती है। यह अमुक, यह अमुक। तो यह 'यह' जिसमे सिद्ध हो रहा है वह ब्रह्म है।

इदंतया जन्मादिमत्तया च यद्भासमानं तत् यतः यस्मात् प्रतीयते तत् प्रत्यक् चैतन्या[illegible]ं तद् ब्रह्म ।

'इदरूपसे जन्मादिवालारूपसे जो कुछ भासमान है वह जिससे है, और जिससे प्रतीत हो रहा है वह प्रत्यगात्मा अभिन्न ब्रह्म है।'

देखो 'जन्माद्यस्य यतः' से यह 'तत्-त्वम्'की एकतारूप लक्षण ब्रह्मका निकल आता है।

जिससे जन्म-स्थिति और प्रलय मालूम पड़ता है वह स्वयं जन्म-स्थिति और प्रलयसे रहित है। वह जन्मरहित है, स्थितिरहित है, प्रलयरहित है, और इदतारहित है, क्योकि वह 'अस्य'से जुदा है। 'वह जन्म-स्थिति-भङ्गसे रहित, इदतासे रहित, 'अस्य'से पृथक्, प्रत्यगात्मासे अभिन्न, अनन्त, अपरिच्छिन्न चैतन्य वस्तु है सो ब्रह्म है'—ऐसा यह ब्रह्मका लक्षण निकला।

'यत्' पदका अर्थ है : **यतः अनिर्वचनीयात्**। वह जगज्जन्मादि-का कारण जो ब्रह्म है वह अनिर्वचनीय है। कैसा अनिर्वचनीय है? इदतया निर्वचनीय है नही है, जन्मादिमत्तया निर्वचनीय नही है, वाङ्मनोगोचर रूपसे निर्वचनीय नही है।

यत् पद-वाच्यार्थ जो ब्रह्म है वह 'सत्त्वासत्त्वाभ्या अनिर्वच-नीय' नहीं है क्योकि ब्रह्मके विवादमे वह 'है' या 'नही है' यह प्रश्न नही उठता है। विषय तो 'अस्ति' 'नास्ति' प्रत्ययोका विषय हो सकता है परन्तु ब्रह्म तो अस्ति-नास्ति प्रत्ययोका विषय नही, अपितु अस्ति-नास्ति प्रत्ययोका आश्रय हे। दोनो प्रत्यय ब्रह्मसे ही सिद्ध होते है। बल्कि दोनो प्रत्यय ब्रह्मकी अनन्ततामे मिथ्या ही हैं। तब ब्रह्म है या नही है, यह प्रश्न ही नहो उठता। यदि ब्रह्म तुम्हारे मनके (वृत्तिके) सामने आता होता तो वह है या नही, यह प्रश्न उठ सकता था। परन्तु ब्रह्म तो वह वस्तु है जिसके सामने मन ही है, जिसके सामने हैं और नही दोनो प्रकारकी वृत्तियाँ है। अतः ब्रह्म 'सत्त्वासत्त्वाभ्या अनिर्वचनीय' नही है।

'जन्माद्यस्य यतः'में जगत्के जन्मादिके कारणको केवल 'यत्' कहा गया है। यत् सर्वनाम ब्रह्मके लिए ही प्रयुक्त हुआ है, यह कैसे ज्ञात हुआ? तो कहा कि 'ब्रह्मणः उपक्रान्तत्वात्'। प्रथम

सूत्रमे ब्रह्मजिज्ञासा पदमे ब्रह्मशब्दका प्रयोग हो चुका है और ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की जा चुकी है। अतः यहाँ यत्पद केवल ब्रह्मका ही वाची है।

वह 'यत्' कैसा? दृश्यका जन्मादि जिससे होता है सो यत्। इसका अर्थ है कि वह दृश्य नही है और उसके जन्मादि नही होते। जन्मादिसे रहित और दृश्यसे विलक्षण जो पदार्थ है उसका नाम ब्रह्म है। वह ब्रह्म अन्य है या स्व है, यह अलग प्रश्न है। वह 'स्व' है अर्थात् प्रत्यगात्मासे अभिन्न है, यह बात सूत्रार्थमे-से ही कैसे निकल आती है, यह बताया जा चुका है।

'अस्य' और 'यत्' पदार्थोमे पृथक्ता है, इसपर ध्यान दो। यत् जो दृश्यसे विलक्षण है, दृश्यका अधिष्ठान है जो दृश्यमे निहित (व्यापक) है, जिसमे दृश्य अध्यस्त है और जिससे दृश्यका बाध हो जाता है, वह दृश्यसे विलक्षण, दृश्यका द्रष्टा, दृश्यसे रहित चेतन है ब्रह्म है।

यत् दृश्यादिविलक्षणं दृश्यादि अधिष्ठानं, दृश्ये निहितं, यस्मिन् दृश्यमध्यस्त यस्मिन् दृश्यं बाध्यते तद् ब्रह्म।

इससे यह अर्थ निकला कि दृश्यसे विलक्षणमे ही दृश्य भास रहा है दृश्यरहितमे ही दृश्य भास रहा है:

दृश्यविलक्षणे दृश्यत्वरहिते दृश्यं प्रतीयते इत्यर्थः।

अर्थात् जिसमे दृश्य नही है उसीमे दृश्य भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है: अपने अभावके अधिकरणमे भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है:

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

क्योकि 'इद' दृश्य है और उसके जन्मादि भी दृश्य हैं अतः ये जिस अधिष्ठान अनिदम्मे, जिस अनिदम्से दृश्यरूपमे भास रहे

है, वह यत्-पद-वाच्यार्थ ब्रह्म है; केवल वही सत् है और इदं तथा जन्मादि मिथ्या हैं :

'अस्य' भी मिथ्या है और उसके जन्मादि भी मिथ्या हैं और जिस अधिष्ठानमे 'अस्य' और 'जन्मादि' दोनो भास रहे हैं वह सत्य है।

मिथ्या कहते ही उसको है जो अपने अभावके अधिकरणमे भासे। जो चीज जहाँ न हो वही भासे तो वह मिथ्या कहलाती है। इस न्यायसे—

एकमे अनेक नही हैं। उसी एकमे अनेक भास रहा है। अत अनेकता मिथ्या है।

चेतनमे जड़ नही है। उसी चेतनमें जड भास रहा है। अतः जड मिथ्या है।

अनन्तमे सान्त नही है। उसी अनन्तमे सान्त भास रहा है। अतः सान्त मिथ्या है।

अनादिमे सादि नही है। अनादिमे ही सादि भास रहा है। अतः सादि मिथ्या है।

अपरिच्छिन्नमे परिच्छिन्न नही है। अपरिच्छिन्नमे ही परिच्छिन्न भास रहा है। अत. परिच्छिन्नता मिथ्या है।

आत्मामे अनात्मा नही है। आत्मामें ही अनात्मा भास रहा है। अत. अनात्मा मिथ्या है।

सूत्र तो विचारका सूचक मात्र होता है। गम्भीर विचारसे कतराना नही चाहिए। लोग कहानी पढ़कर वेदान्त समझना चाहते हैं।

'जन्माद्यस्य यतः।'

यतः अस्य जन्मादि भवति, यतः अस्य जन्मादि प्रतीयते, यतः अस्य जन्मादि प्रियं भवति तद् ब्रह्म।

'जिससे इस जगत्का जन्मादि होते हैं, जिससे इस जगत्के जन्मादि प्रतीत होते हैं और जिससे इस जगत्के जन्मादि प्रिय लगते हैं, वह ब्रह्म है।' इस अर्थमे ब्रह्म 'अस्ति, भाति, प्रिय' रूपसे वर्णित हो गया।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति' इस श्रुतिमे जायन्ते (उत्पत्ति), जीवन्ति, प्रयन्ति (स्थिति) और अभिसंविशन्ति (प्रलय) ये तीन बातें जगत्के बारेमे बतायी गयी हैं। 'इण् गतौ'से गतिके अर्थमे और 'प्रिय तर्पणे' धातुसे तृप्तिके अर्थमे प्रयन्ति शब्द बनता है। अतः गतिके अर्थमे लेनेसे उसका 'अभिसंविशन्ति'के साथ प्रलयमे उल्लेख किया जाता है और तृप्तिके अर्थमें लेनेसे उसे 'जीवन्ति'के साथ स्थितिमे समावेश किया जाता है। स्वतन्त्र माननेपर श्रुति-वाक्यमे जगत्की चार गतियाँ माननी पड़ती हैं :

उत्पत्ति (जायन्ते), स्थिति (जीवन्ति), तृप्ति (प्रयन्ति) और प्रलय (अभिसंविशन्ति)। अतः जगज्जन्मादि लक्षणवाला ब्रह्म कैसा है ? वह जन्मस्थान है जगत्का, जीवन स्थान है जगत्-का, प्रीणन स्थान है जगत्का और अभिसंविशन स्थान है जगत्-का। इन चार लक्षणोवाला हुआ ब्रह्म। **तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।** उसीकी जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है।

अब देखो ! **यतः अस्य जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।** जिससे इस जगत्के जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है। वह अखण्ड सत्ता जो इद-प्रत्ययका विषय नही है बल्कि उसका आश्रय है, परन्तु जिससे इदन्तया प्रतीत होनेवाले जगत्के जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्मका सत् प्रधान लक्षण हुआ और सूत्रका सत् प्रधान अर्थ हुआ।

यतः अस्य जन्मादि भासते तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्तासे इदन्ताक्रान्त जगत्के जन्मादि भासते हैं वह ब्रह्म है। यह चित् प्रधान अर्थ है।

यतः प्रकाशात् अस्य जगतः जन्मादि प्रीणाति = प्रैति (प्र + एति) तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्ताके प्रकाशित होनेपर ही इस जगत्के जन्मादि तृप्तिका हेतु हो जाते है, वह ब्रह्म है। यह आनन्द-प्रधान अर्थ है।

यस्मिश्च अस्य जन्मादि लीयते = बाध्यते तद् ब्रह्म

जिस अखण्ड सत्तामे जाकर सब-का-सब नामरूप कर्ता-भोक्तारूप जो प्रपञ्च है सो जाता हैं, वह ब्रह्म है। यह श्रुतिवाक्यके 'अभिसंविशन्ति' के अनुसार अर्थ है।

इस प्रकार सबको मिलाकर श्रुत्यर्थके अनुसार ब्रह्मका यह लक्षण बना :—

यतः अस्य जन्मादि भवति, जन्मादि प्रतीयते, जन्मादि प्रीणाति यस्मिश्च जन्मादि लीयते बाध्यते तद् ब्रह्म।

जिस अखण्ड सत्तासे इस जगत्के जन्मादि होते हैं, प्रतीत होते हैं, तृप्तिके हेतु होते हैं और जिसमे जाकर प्रलीन हो जाते हैं, बाधित हो जाते है, वह (सच्चिदानन्दघन अद्वय) ब्रह्म है।

यहाँ एक बातकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ। यह जो श्रुतिवाक्य है : **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, ... तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**; इसमे कहा गया है कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करो 'विजिज्ञासस्व'। यह नही कहा कि ब्रह्मको ढूँढो, या कि ब्रह्मको प्राप्त करो, या कि ब्रह्म ही हो जाओ। ब्रह्मकी जिज्ञासा करो—यह कहा हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्म तो प्राप्त ही है, उसमे जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है वह जिज्ञासा करनेमात्रसे

अर्थात् केवल ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जायेगा। ब्रह्ममें समाधिके द्वारा लीन होना नही है और घट-पटादि प्रत्यक्ष वस्तुओके समान उसको प्राप्त करना नही है। दूसरे शब्दोमें ब्रह्म विषयत्वेन विद्यमान नही है कि उसका लाभ करें तथा ब्रह्म कोई परिणाम-कारण नही है कि उसमे हम लीन हो जायँ। तब? ब्रह्मकी जिज्ञासा करो। विजिज्ञासस्व अर्थात् आत्माभेदेन विजानीहि अर्थात् आत्मासे अभेदरूपमे ब्रह्मको जानो।

इस अभेद अर्थका कारण है। जिस तैत्तिरीय उपनिषद्की यह जिज्ञासा-श्रुति है उसी उपनिषद्की उपसंहारक सिद्धान्त श्रुति भी है:

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति। (तैत्ति० ३.६)

"आनन्द ही ब्रह्म है, इस प्रकार जाना। सचमुच आनन्दसे ही ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्दसे ही जीते है, आनन्दकी ओर ही उनकी गति है। आनन्दमे ही वे लीन हो जाते हैं।"

यहाँ श्रुति 'तद्विजिज्ञासस्व' नही कहती। उल्टे 'आनन्द ही ब्रह्म है' यह कहती है। आशय यह है कि **यतो वा इमानि भूतानि** जायन्ते श्रुतिमे जिस जिज्ञास्य ब्रह्मकी चर्चा की गयी, वह यह आनन्द-ब्रह्म ही है।

देखो, भटके हुए लोगोकी बात तो छोड़ दो जो कही अटक गये हैं या किसीके साथ लटक गये हैं या जिनके साथ कोई खटका लग गया है। बात साफ-साफ यह है कि आनन्द सदैव ही स्वनिष्ठ होता है। 'आहा! यह आनन्द है!' इस अनुभवमे आनन्दका विषयमे आरोप तो है, परन्तु उसकी अनुभूति अपनेसे अभिन्न होती है। सारा सुख और सारा दुःख तुममे ही होता है। तुम्हारा सुख

दुःख दूसरेकी मुट्ठीमें नही है। यह जो पराधीनताका आरोप है; वह मूर्खतापूर्ण है, अविवेकपूर्ण है।

कर्म-सिद्धान्तमें भी सुख-दुःखको स्वनिष्ठ ही माना जाता है :

कोउ न काउ सुख-दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

(रामचरितमानस)

दुःख कहाँ है ? चीजमे ? वह तो पहिले-पहल जिसके घरमें आयी थी उसको पहिले सुख दिया, फिर दुःख दिया। फिर दूसरेके घर जब आयी, तब पहिले सुख दिया फिर दुःख दिया। अब तुम्हारे घर आयी है तो सुख भी देगी दुःख भी देगी। असलमे वस्तु सुख या दुःख नही देती, वह तो सहज स्वभावसे चलती है। परन्तु उसके प्रति जिसकी वासना है वह उसे पाकर सुखी होता है और खोकर दुःखी होता है। तुम स्वय तो तटस्थ हो, उदासीन हो।

कर्मकी दृष्टिसे भी (पुण्यकर्मका फल) आनन्द अपने ही हृदयमें उदित और विलीन होता है। भावनाकी दृष्टिसे भी अपने इष्टदेवका तथा उनके साथ तदाकारताके सुख-दुःखका उदय-विलय भी अपने हृदयमे ही होता है। योगकी दृष्टिसे भी सुख-दुःखकी वृत्ति हृदयमे ही होती है, यद्यपि आत्माका सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नही माना जाता। साख्यकी भी यही स्थिति है। वेदान्तमें अपना आत्मा आनन्दरूप है और दुःख आगन्तुक माना जाता है।

पुत्र-सुख किसको मिलता है ? धनका, स्त्रीका, प्रियका, परिजनका सुख किसको मिलता है ? कुछ ऐसी बात है भाई, कि जो तुम हो, जहाँ तुम हो, जब तुम हो और जब, जहाँ, जो कुछ तुम देख रहे हो, असलमे तुम आनन्दरूप ही हो। यह आनन्द देश-काल-द्रव्यसे कटता नही। देश काल द्रव्यसे अपरिच्छिन्न है यह आनन्द। इस आनन्दका कोई सजातीय नही है; इस आनन्दका

कोई विजातीय नही है और इसमे कोई स्वगत तारतम्य भी नही है। यह आनन्द न स्वय कार्य है, न किसीका कारण है। न इसका कोई बाप है, न यह किसीका बाप है। इसका कोई मालिक भी नही है। अर्थात् यह पराधीन नही है। इसी बातको श्रुति यों कहती है कि—

न तस्य कश्चित् जनिता न चाधिपः।

'न इसका, कोई पिता है न स्वामी'। इसमे देश, काल, वस्तु, क्रिया, उपासना, याग, कुछ नही है। यह आनन्द तुम्हारी आत्माका स्वरूप ही है। यह तुम हो।

यह 'आनन्द-चर्चा' इसलिए की कि 'जन्माद्यस्य यतः'की जो विषय-वाक्यरूप श्रुति थी 'यतो वा०,' उसमे 'तद् विजिज्ञासस्व तद्-ब्रह्म' यह वाक्य पड़ा था तो 'जन्माद्यस्य यतः' मे 'यत्' पदका अर्थ किया ब्रह्म, क्योकि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'मे ब्रह्म शब्द पड़ा है और ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की गयी है। वह ब्रह्म क्या है? तो कहा कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है : **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**

जो आनन्द जन्मे और मर जाय, क्या वह आनन्द हुआ? नही। अत. आनन्द सत्य है।

जो आनन्द हो तो और मालूम न पड़े, क्या वह आनन्द हुआ? नही, अतः आनन्द चित् है।

इसलिए ऐसा आनन्द ब्रह्म है जो अविनाशी है (सत् है), जो चेतन है और ब्रह्म होनेसे जो अनन्त है। इस प्रकार ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण भी निकल आया कि **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**। यह लक्षण भी तैत्तिरीय उपनिषद्‌की श्रुति ही प्रदान कर रही है।

अब देखो 'यत्' जो जगत्‌का कारण है, वह है सत्य, वह है ज्ञानस्वरूप और अनन्त। और जो 'इदम्' है जगत् ('अस्य'पदका

अर्थ) वह है विनाशी, जड़ और परिच्छिन्न। और सूत्र कहता है कि 'यत्'से 'इदम्'के जन्मादि हुए हैं। 'अस्य'से विलक्षण यतः'! विलक्षणसे विलक्षणकी उत्पत्ति हुई है! इस जगत्में जितना आनन्द है वह उत्पत्तिवाला है, थोड़े दिन रहनेवाला हैं, अन्तमें नष्ट होनेवाला है और वह 'इदमानन्द' है, जबकि ब्रह्म आत्मानन्द है। और सूत्र कहता है कि 'जन्मास्य यतः'।

जन्माद्यस्य यतः। यहाँ 'इदम्'की उत्पत्ति जिससे हुई है उसको ब्रह्म बताया। जिस सत्से, जिस चित्से, जिस आनन्दसे और जिस अनन्तसे इस असत्की, इस जड़की, इस दुःखरूप परिच्छिन्न जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वह ब्रह्म है। अब प्रश्न यह है कि 'अहम्' किस दशामे रहा ? 'इदम्' की कक्षामे या 'यत्'की कक्षामें ?

जब 'अहं' होगा तब 'इदम्' मालूम पड़ेगा और जब 'अहम्' नही होगा तब 'इदम्' भी मालूम नही पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि 'इदम्'का मालूम पड़ना 'अहम्'के आश्रित है। इस प्रकार 'अहम्' 'इदम्'की कक्षामे तो आ नही सकता, वह ब्रह्म (यत्) की कक्षामे ही आयेगा।

इस प्रकार सूत्रार्थ यह हुआ कि : जो अजन्मा, अपरिवर्तनशील, इदंतासे विलक्षण, प्रत्यक् चैतन्य (अहम्) आत्मासे अभिन्न सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप अद्वय सत्ता है जिसमे यह जगत् भास रहा है और भासते हुए भी सच्चा नही है, वह ब्रह्म है।

अब 'जन्मास्द्यय यतः' सूत्रके एक-दो अर्थ हँसी-खेलके भी सुना दें। जैसे बालक खिलौनोसे खेलते हैं वैसे ही हमलोग शब्दोसे खेलते हैं। इन अर्थोमे किसीके बुरा माननेकी जरूरत नही है। वेदान्त-निष्ठामे इनका उपयोग है।

भक्तोसे कहेगे कि तुम्हारे जो आद्य हैं, आराध्यदेव हैं, उनका जिससे जन्म हुआ सो ब्रह्म है : कैसे ? **यतः आद्यस्य (आराध्यस्य) जन्म** = जन्म आद्यस्य यत. = जन्माद्यस्य यतः ।

जैनोसे कहेगे कि तुम्हारे जो आद्य है 'आदिनाथ' उनका जिससे जन्म हुआ सो ब्रह्म है । **यतः आद्यस्य आदिनाथस्य जन्म** । इसी प्रकार बौद्धोसे कहेगे कि तुम्हारे जो आदि बुद्ध हैं वे जिनसे होते है सो ब्रह्म है · **यतः आद्यस्य बुद्धस्य जन्म** ।

प्राकृतिकोसे कहेगे कि **आद्यस्य प्रधानस्य यतो जन्म** । तुम्हारी जो जगत्की आदिकारणरूपा प्रकृति है, उसका जन्म जिससे होता है वह ब्रह्म है ।

आस्तिकोसे कहेगे कि . **यतः आद्यस्य ईश्वरस्य जन्म** । अथवा **यतः आद्यस्य हिरण्यगर्भस्य जन्म** । जगत्का जो कारण ईश्वर या हिरण्यगर्भ है, वह जिससे उत्पन्न हो सो ब्रह्म है ।

शृङ्गाररस-रसिकोसे कहेगे कि : **आद्यस्य शृङ्गाररसस्य यतो जन्म** । सब रसोका आदिरस जो शृङ्गाररस है उसका जन्म जिससे हुआ सो ब्रह्म है ।

इस प्रकार सब सम्प्रदायोके इष्टोका जिससे जन्म होता है वह ब्रह्म है । यह ब्रह्मने सर्वोत्कृष्ट दृष्टिको स्थापना है ।

जन्म माने क्या ? प्रतिक्षण प्रतीयमान होनेवाला जन्म और मरण । वह जन्म-मरण नही जो कालके आदिमे हुआ और कालके अन्तमे होगा । जैसे हम देखते हैं कि चनेका बीज पौधेमे-से निकला, यह देखकर कहते हैं कि चनेका जन्म पौधेमे-से हो रहा है । और बीजको जब खेतमे बोते है तो कहते हैं कि अब बीजसे अङ्कुर उत्पन्न हो रहा है । अङ्कुरका जो आदि है और बीजका जो आद है और जो प्रतिक्षण देखनेमे आता है उस आदिकी ही हम चर्चा करते हैं ।

अब कहो कि 'जन्माद्यस्य यतः'के ये अर्थ किस भाष्य या टीकामें हैं ? तो ये कोई रटे-रटाये अर्थ नही है। यों हमारे पास ब्रह्मसूत्रकी कोई ३५-४० टीकाएँ और भाष्य हैं उनमें-से चतु:सूत्री भाष्य या टीका तो सबकी पढी ही हैं और शेषांशका गुर मालूम है। श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोकमे भी 'जन्माद्यस्य यत' पडा हुआ है ही। भागवतके टीकाकारोंने भी इसकी व्याख्या की ही है। कोई पचास टीका भागवत की भी मैंने पढी हैं। बचपनसे ही भागवतके साथ सम्पर्क हुआ और इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' से हमारा परिचय बहुत पुराना है। कोई चालीस वर्षका परिचय तो हो ही गया। सबका सार-अर्थ आपको सुनाता हूँ।

वेदान्त-दर्शन युक्तियोका वर्णन करनेके लिए नही है। युक्तियाँ तो श्रुतिकी मददगारमात्र है। युक्तिमें सबसे बड़ा दोष यह है कि वह कादिशीक होती है। माने उसका नतीजा क्या होगा, यह नही मालूम रहता। वह लक्ष्यहीन रहती है। जो अनन्त ब्रह्मको जानना चाहता है वह तो एक लक्ष्यको जानना चाहता है। उसके लिए लक्ष्यज्ञानकी प्रक्रिया होनी चाहिए। तर्ककी क्या स्थिति है ? चाहे जो कुछ तक उठा लो, चाहे जिस दृष्टान्तसे उसे सिद्ध करदो और उससे चाहे जो कुछ सिद्ध कर दो। और सिद्धिका नतीजा चाहे जो हो, चाहे स्वर्ग मिले या नरक! इसके विपरीत श्रुति ब्रह्मके ज्ञानकी, अनन्त लक्ष्यके ज्ञानकी प्रक्रिया है।

तो ब्रह्मसूत्र श्रुति-वाक्यार्थकी प्रक्रिया है। प्रत्येक सूत्रपर कम-से-कम एक विचारणीय श्रुति होती है। प्रथम सूत्रमे 'तद्विजज्ञासस्व' तथा 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' (बृहदारण्यक २.४.५) इन श्रुतियोका विचार किया गया। प्रस्तुत दूसरे सूत्रमे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इस श्रुतिपर विचार किया जा रहा है।

(२. ४.)

जगत् और ब्रह्म

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमे ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा की गयी और 'जन्माद्यस्य यत ' सूत्रमे ब्रह्मका लक्षण किया गया कि जो इस इद-वाच्य जगत्के जन्मादिका कारण है ('यत्'पदका अर्थ) वह ब्रह्म है। यह भी विचार किया गया कि जो जगत् है वह जन्मादिवाला है और जो उसका कारण है 'ब्रह्म' वह जन्मादि-वाला नही है।

दो तरफ आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ। ब्रह्म क्या है ? और जगत् क्या है ?

जगत् क्या है, इसके बारेमे बहुत-से विद्वानोके बहुत-से और अलग-अलग मत है।

१ एक मत है कि जगत् हमेशा ज्यो-का-त्यो रहता है। इसकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय (जन्मादि) नही है। हमेशासे दुनिया ऐसी ही चल रही है और ऐसी ही चलती रहेगी। ऐसी ही धरती, ऐसा ही सूर्य और चन्द्रमा, ऐसे ही स्त्री और पुरुष और ऐसी ही उत्पत्तिकी प्रक्रिया! उनके लिए तो जगत्के कारणके विचारका प्रश्न ही नही उठता। जिज्ञासा ही समाप्त हो गयी। क्या जाननेकी जरूरत है जब दुनिया हमेशा ऐसी ही रहती है? जगत् किससे, कब, कहाँ, क्यो—कोई सवाल नही है। एक ही डॉड़मे बेडा पार! यह सिद्धान्त ब्रह्म-सूत्रको मान्य नही है क्योकि वह तो कहता है. 'अस्य जन्मादि भवति। यत अस्य जन्मादि भवति तद् ब्रह्म।' इसका (जगत्का) जन्मादि होता है और वह जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है।

२ एक मत है कि चार भूत है जो जगत्के उपादान-कारण है। जगत्का निमित्त-कारण कोई नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार भूत है। सारी दुनिया इन्हीमे है। द्रव्य ही है, ज्ञान नही है, ज्ञान द्रव्यसे ही उत्पन्न होता है। यह चार्वाक सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त भी ब्रह्मसूत्रको मान्य नही है क्योकि जगत्का कारण जो 'यत्' पद-वाच्यार्थ ब्रह्म है वह चार नही हो सकता। जो चार कारण होगे वे सब अपूर्ण और परिच्छिन्न होगे। वे एक पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्मका स्थान कैसे ले सकते है?

३ जैन भी सृष्टिको ज्यो-की-त्यो मानते है। इसमे-से कोई जीव निकल जाता है और सृष्टि अनादि-अनन्त ज्यो-की-त्यो चलती रहती है। यह सिद्धान्त भी ब्रह्मसूत्रको मान्य नही है क्योकि उसके मतमे सृष्टिके जन्मादि होते है।

४ बौद्ध लोग कहते है कि यह सृष्टि विज्ञानमात्र है। न बनी न बिगड़ी। शून्य ही सत्य है। सृष्टि तत्त्व है ही नही। स्पष्ट है कि इनके मतमे भी जगत्के जन्मादिका क्या प्रसग है?

५ पूर्वमीमासक भी यही मानते है कि सृष्टि हमेशासे ऐसी ही है। उनके मतमे भी जगत् कव, किसने, कहाँ वनाया, ऐसा कोई सवाल पैदा नही होता।

मतलव यह कि सृष्टिके कारणके सम्वन्धमे शून्यवादी, विज्ञानवादी, सृष्टि मिथ्यात्ववादी, और भूत सृष्टिवादी (नास्तिको मे) तथा पूर्वमीमासावादी (आस्तिकोमे) वेदान्त-सम्मत नही है।

६ नैयायिक और वैशेषिक जगत्का जन्म तो मानते है परन्तु परमाणुसे जन्य मानते है। अत उनके मतमे भी 'यत्' पदका अर्थ ब्रह्म नही हो सकता।

७ साख्यवादी परिणामी प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं। अतः उनके मतमे भी 'यत्'का अर्थ ब्रह्म नही हो सकता।

वेदान्त-मतमे केवल ईश्वरवादी पक्ष ही सिद्ध होगा, अनीश्वरवादी नही। परन्तु ईश्वरवादियोमे भी मुस्लिम पक्ष वेदान्तसे सिद्ध नही है, क्योकि वे ईश्वरसे उत्पत्ति-स्थिति तो मानते है परन्तु जगत्का प्रलय नही मानते। कहो कि उनके यहाँ भी कयामत है तो शव्दोके धोखेमे मत आना। कयामतके वाद जीव कहाँ रहते है? जिसने कुरानको माना, जिसने खुदापर ईमान लाया, जो मोहम्मद साहवके अनुसार जीवन चलाता है वह कयामतके वाद वहिश्तमे जाता है और जो इस प्रकार नही चलता वह दोजखमे जाता है। वहाँ कितने दिनतक रहता है ? वोले 'इसकी अवधि नही है।' उसका कयाम नही है और सृष्टिका कयाम है। स्थूल सृष्टि सावधिक है और सूक्ष्म सृष्टि निरवधिक है।

इस प्रकार ईश्वरकी वनायी होनेपर भी ईसाई और मुस्लिमकी दृष्टिमे सृष्टिका प्रलय नही है। जवकि वेदान्त-मतमे जगत्का प्रलय होता है। अत ईश्वरवादी होनेपर भी ये मत ब्रह्मसूत्रके अनुसार नही हैं।

जो लोग सृष्टिका पैदा होना नही मानते (जैसे पूर्वमीमासक, जैन और चार्वाक) वे भी वेदान्ती नही है और जो सृष्टिकी स्थिति नही मानते (जैसे विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध) वे भी वेदान्ती नही है तथा जो सृष्टिका प्रलय नही मानते (जैसे ईसाई और मुसलमान) वे भी वेदान्ती नही है। इसीलिए 'जन्माद्यस्य यत' सूत्रमे इन मतोका समावेश नही होगा, क्योकि वेदान्त-मतमे सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते है तथा वे सब ब्रह्मसे होते हैं। फिर किन मतोका समावेश होगा ? जो जगत्‌की जन्मादिको मानते है और ईश्वर या ब्रह्मसे मानते है।

शून्यवादी जगत्‌का निमित्तकारण और उपादानकारण दोनो नही मानते। निरधिष्ठान निरुपाख्य निर्निमित्त ही सृष्टिकी प्रतीति हो रही है, ऐसा शून्यवादियोका मत है।

विज्ञानवादियोका कहना है कि चित्त जो खण्ड-खण्ड प्रवाहरूप है वह संस्कार-धाराके कारण है। इस जगत्‌का न तो कोई निमित्त कारण चैतन्य है और न इस जगत्‌से अलग कोई जड़ या चेतन इसका उपादान कारण है। जो कुछ है वह चित्त-सस्कारधारा ही है। ये लोग चित्तोपादानवादी है।

उपादानवादी दो प्रकारके है : अन्तरग उपादानवादी और बहिरग उपादानवादी। चार्वाक बहिरग उपादानवादी है क्योकि वे बाहरी चार भूतोको उपादान मानते है। वे निमित्तकारणवादी नही है, क्योकि वे ईश्वरको नही मानते। नैयायिक लोग बहिरग उपादानवादी है क्योकि वे परमाणुको उपादान मानते है। परन्तु वे निमित्त कारणवादी भी है क्योकि जगत्‌के निमित्त कारणके रूपमे वे ईश्वरको मानते हैं। प्रकृतिवादी लोग अन्तरग उपादान-वादी है क्योकि बुद्धिके भीतर प्रकृति बैठी हुई है, बुद्धि कार्य है और प्रकृति कारण है। द्रष्टा प्राकृत और प्रकृतिसे विलक्षण है।

अत द्रष्टा और बुद्धिके बीचमे प्रकृति बैठी हुई होनेके कारण (प्रकृति बुद्धिसे अन्तरग होनेके कारण) प्रकृतिवादी लोग अन्त-रग उपादानवादी है। कर्मसस्कारवादी भी अन्तरग उपादानवादी हैं क्योकि कर्मका संस्कार अन्त करणमे बैठा रहता है। विज्ञान-वादी भी चित्तोपादानवादी होनेके कारण अन्तरग उपादानवादी है। ईश्वरवादी भी अन्तरग उपादानवादी है।

असलमे जगत्‌का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनो ही ब्रह्म है और ये दोनो ब्रह्ममे मायासे मालूम पडते है। जबतक हम ब्रह्मको नही पहिचानते तबतक वह निमित्त और उपादान कारण दोनो है। परन्तु ब्रह्मको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न पहिचाननेके बाद ब्रह्म न निमित्त कारण है न उपादान कारण। कारणमात्रका बाध हो जाता है क्योकि ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता है ही नही।

चलते-चलते पाश्चात्य दर्शनवादका भी जिक्र कर देते परन्तु हमने ये दर्शन हिन्दी भापामे पढे है। इसलिए अपने ज्ञानको उनके बारेमे हम प्रामाणिक नही मानते है। क्योकि दार्शनिककी भापामे जबतक उसके दर्शनको ठीक-ठीक न समझले, तबतक उसकी आलोचना ठीक नही।

वात हमारे सामने यह आयी कि पहिले सृष्टि बनी-बनायी हुई सामने दीख रही है और तब शास्त्र इसकी सगति लगाता है कि यह कैसे वनी ? सृष्टि किसीने बनायी—इस मतको वेदान्तमे आर-म्भवाद बोलते है। उदाहरणार्थ जैसे कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है वैसे ही ईश्वरने परमाणुओंसे सृष्टि बनायी। वेदान्तको यह मत मान्य नही है।

किसीने पूछा सृष्टि किसने वनायी ? तो हमने कहाकि सृष्टि है और कभी पैदा हुई ये दो वाते तो तुमने अपनी अक्कलसे मान ली और अव हमसे पूछते हो कि सृष्टि किसने बनायी ? पहिले अपनी

दोनो भूले हमसे पूछो कि सृष्टि है या नही और सृष्टि बनायी गयी या नही बनायी गयी ? जब यह बात मानले कि सृष्टि बनायी गयी तब यह प्रश्न होगा कि सृष्टि अपने-आप बनी या किसीने बनायी ? अपने आप बनी तो कैसे बनी और बनायी गयी तो किसने, क्यो, कब, कहाँ बनायी ?

सृष्टि क्या है यह और बात है किसने बनायी यह दूसरी बात है। अपने-आप बन गयी यह तीसरी बात है। 'सृष्टि बनायी', यह आरम्भवाद है। 'बन गयी' यह परिणामवाद है और 'न बनी न बनायी और न है, केवल भानमात्र हो रहा है इसका' यह विवर्त-वाद है। जैसे रस्सीमे साँप न बना न बनाया, रस्सीके अज्ञानसे भास रहा है—यह विवर्तवाद है, बच्चा अपने आप जवान हो गया—यह परिणावाद है। दो ठीकरे जोड़कर घडा बना लिया यह आरम्भवाद है।

इस प्रकार जगत्के सम्बन्धमे ये अनेक दार्शनिक मत है। असलमे जिसको तुम मै-मेरा मानते हो, यदि वह मानना भूल-सिद्ध हो जाय तो उसका जो राग-द्धेष, मोह-ममता है उसे छोडनेको तैयार हो ? तुम तो छोडनेके बजाय और बनाते हो। इसमे भी असली चोट तो यहाँ है कि जिस शरीरको 'मै', शरीरके सम्बन्धी-को 'मेरा', अपने खिलाने-पिलानेवालेको मित्र और हानि पहुँचाने-वालेको 'शत्रु' मानते हो उसको छोड़नेको तैयार हो ? यदि नही तो वेदान्त सुनो, सुने जाओ। तुम्हे पुण्य होगा। पुण्य होगा माने अन्त करण स्वच्छ होगा।

अब दूसरी दिशामे आपका ध्यान खीचता हूं। 'जन्माद्यस्य यत' मे जन्मादिके साथ क्रियापद तो है नही। 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' मे भी नही था। अत' क्रियापदका अध्याहार करना पडेगा।

'यत अस्य जन्मादि भवति'

यह 'भवति' क्रियापद जोडा गया है। बडे-बडे लोगोने इस सूत्रकी व्याख्या की है। उन्होने यह 'भवति' पदका अध्याहार किया है। वे लोग बडे है इसलिए मानते हम भी है। परन्तु हमको लगता है कि 'भवति' पद यहाँ ठीक नही है। भगवान् श्री शकराचार्य, भगवान् श्री रामानुजाचार्यजीके विरुद्ध तो हम कुछ बोलना नही चाहते परन्तु वुद्धि जव सोचने लगती है तो अनेक दिशाएँ दीखने लगती है। सोच-विचार करके फिर वही पहुँच जाओ, इसमे वुराई भी क्या है।

एक श्रुति है

यथा शकुनि सूत्रेण प्रवद्धः दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा वन्धनमेव उपाश्रयते एवमेव ' प्राणवन्धन हि सोम्य मन इति (छान्दोग्य ६ ८. २)।

जैसे एक चिडिया सूतसे बँधी हुई इधर उधर उडती है परन्तु कोई आश्रय न पाकरके पुनः जिससे वँधी है उसीपर आकर वैठ जाती है, उसी प्रकार हे सोम्य, यह मन है।

आत्मा अन्तिम आश्रय है। आत्मसत्ताके बिना ब्रह्मसत्ता अधूरी है। मेरे विना ब्रह्म वेहोश पड़ा है और ब्रह्मके विना मै कटा-पिटा टुकडे-टुकडे परिच्छिन्न है। न ब्रह्म कही गया, न मैं कही गया। अलगावका भ्रममात्र हो गया है। अलगावके भ्रममात्रने ब्रह्मको वेहोश (जड) कर दिया है और हमको छिन्नभिन्न। ब्रह्मसे अलग रहकर चेतन कट गया और आत्मासे अलग होकर ब्रह्म जड हो गया।

ईश्वर आपसे क्यो नही वोलता ? क्योकि ईश्वरको आपने अपनेसे अलग कर दिया है इसलिए वह न होनेके बरावर हो गया

है। आत्म-चैतन्यसे अलग होकर ईश्वर चैतन्य कैसे होगा ? चेत-नता तो केवल आत्मामे ही होती है। दृश्यमे तो चेतनता होती ही नही। चेतनता न दृश्यमे होती है और न अदृश्यमे। चेतनता ज्ञानस्वरूप है और सम्पूर्ण ज्ञानोका ज्ञान अपना आत्मा है। अपने-को छोड़कर ईश्वरके लिए कहाँ भटकोगे ? लोगोने कितने ईश्वर बनाये और और बनाये हुए ईश्वर मर गये !

मै जो 'जन्माद्यस्य यत'मे 'भवति' क्रियापदके बिना अर्थ बताना चाहता था वह यह है :

'जन्मादि' पद 'यतो वा इमानि०' श्रुतिके जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति और अभिसविशन्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है। वास्तवमे जायन्ते इत्यादि प्रत्ययमात्र है, माने प्रतीतिमात्र है। अत जन्मादि-पद इन्ही प्रतीतियोके प्रत्ययोके लिए प्रयुक्त हुआ है। ये प्रत्यय (वृत्ति-ज्ञान) जिस स्वयप्रकाश आत्मासे होते है (प्रकाशित होते है) रहते है और जिसमे अस्त हो जाते है, वह ब्रह्म है

इमानि भूतानि जायन्ते इति प्रत्यय । इमानि भूतानि जीवन्ति इति प्रत्ययः। इमानि भूतानि प्रयन्ति इति प्रत्ययः। इमानि भूतानि अभिसविशन्ति इति प्रत्ययः। यतः अस्य एते प्रत्यया भवन्ति तद् ब्रह्म।

वहाँ यदि यह होता कि **यतः एषा भूतानां जन्म, यत एषां भूतानां स्थितिः, यतः एषां भूताना प्रलय तद् ब्रह्म।** जिससे इन भूतोका जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वह ब्रह्म है, तब बात दूसरी थी। परन्तु श्रुतिमे भाववाचक शब्द नही है। जायन्ते, जीवन्ति इत्यादि सब क्रियावाचक पद है। अत अर्थ यह होगा कि 'ये भूत जिससे पैदा होते हुए भासते है, ये भूत जिससे जीवित रहते होते भासते है, जिसकी ओर ये जाते हुए प्रतीत होते है और जिसमे ये समाते हुए प्रतीत होते है—ये प्रत्यय—देश-प्रत्यय,

काल-प्रत्यय, वस्तु-प्रत्यय, वस्त्वन्तर-प्रत्यय, जन्म-स्थिति-प्रलय प्रत्यय, जिससे हो रहे है वह ब्रह्म है।

इस अर्थसे यह हुआ कि पहिले जिसे ब्रह्म कहा, वही प्रत्यगात्मा साक्षी हो गया और 'यत्' पदसे दोनोकी एकता सूचित हो गयी।

जगत्, जगत्मे देश-काल और वस्तु, जगत् का कारण ईश्वर और प्रकाशक जीव तथा इनके भेद—जगत्-जगत्का भेद, जगत् और ईश्वरका भेद, जगत् और जीवका भेद, ईश्वर और जीवका भेद तथा जीव-जीवका भेद—ये सव मालूम पडते है। वेदान्तकी भाषामे वोलेगे तो कहेगे कि **भेदो भानव्याप्यः** अर्थात् भेदमात्र भानव्याप्य है।

यत्र यत्र भेदः तत्रैव भानम्। यत्र भान न भवति तत्र भेदोऽपि न भवति। भेदः प्रातिभासिकः।

जहॉ-जहॉ भेद होता है वहॉ-वहॉ भान होता है। जहॉ भान नही होता वहाँ भेद भी नही होता। भेद पूर्ववर्ती भान है, भेद मध्यवर्ती भान है और भेद उत्तरवर्ती भान है। बिना भानके भेद नही होता परन्तु विना भेदके भान होता है। भेदाभावका भान होता है। इसीलिए भान ब्रह्म है और भेद प्रातिभासिक है।

इसका अर्थ है कि भेद होगा ही तव जब मालूम पडेगा। दूसरे शव्दोमे मालूम पडना ही भेद है। परन्तु भेद सच्चा है कि झूठा? क्योकि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद वाधित हो जाता है इसलिए भेद मिथ्या है.

भेदो मिथ्या। अधिष्टानज्ञानवाध्यत्वात् रज्जुसर्पवत्।

हम यहॉ वस्तुओका नाम नही ले रहे हैं। हम कह रहे हैं कि भेद ही मिथ्या है। यदि कहो कि वस्तु तो अभान-कालमे भी रह सकती है। सुपुप्तिमे भेदभाव नही होता तब भी भेद ज्यो-का-त्यो वना

रहता है। जैसे घडा घडा ही रहता है, मकान मकान ही रहता है इत्यादि, तो हम कहते है कि ('दुर्जन-तोषन्याय'से) हम मान लेते हैं कि अभान-दशामे पदार्थ रह सकते है परन्तु अभानमे भेद तो रह ही नही सकता। पदार्थोका भेद तो बिलकुल मानस है, केवल बौद्ध प्रत्ययमात्र है, भानमात्र है, प्रतीतिमात्र है।

भेद वस्तु नही है प्रत्यय है, वृत्ति है। यह न जड है न चेतन। असलमे जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति, और अभिसविशन्ति ये चार प्रकारके जो प्रत्यय होते है जगत्के बारेमे वे जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। 'यत अस्य इदताक्रान्तस्य जगत जन्मादि प्रतोयते तद् ब्रह्म'। जिससे इस जगत्के जन्म-स्थिति और प्रलय भासते है, वह ब्रह्म है। किससे भासता है ? मुझसे। तो ब्रह्म कौन ? तुम ब्रह्म हो। इस प्रकार इस सूत्रमे-से महावाक्य निकल आया।

यह वात हम पहले बता चुके है कि कार्य-कारण भाव मिथ्या होनेपर भी कार्य-कारणातीत वस्तुका लक्षण हो सकता है। इसपर शका होती है कि जब कार्य-कारण भाव मिथ्या ही है तो वेदान्ती लोग इस मिथ्या जगज्जन्मादिका वर्णन ही क्यो करते है ? असलमे यह मृदु उपचार है। जैसे व्रणका उपचार आपरेशन भी है और ओषधि-प्रयोग भी है। इसी प्रकार यदि कार्य-कारण भावसे ही ब्रह्म समझमे आजाता हो तो यह मृदु उपचार होगा।

एक चिकित्सा होती है हेतुप्रत्यनीक-चिकित्सा, जिसमे रोगके कारणका नाश किया जाता है जैसे आयुर्वेदमे चिकित्सा है। एक चिकित्सा होती है व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा जिममे रोगको ही दबा दिया जाता है जैसे एलोपेथी चिकित्सा। आध्यात्मिक चिकित्सा हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा-पद्धति है। वृत्यन्तरके द्वारा कामवासनाको दबाया जाता है। वेदान्ती इसको यो सोचेगा : काम क्यो आया ? दूसरेको सुन्दर और गुणवान् समझनेके कारण।

दूसरेको सुन्दर एव गुणवान् क्यो समझा ? सुन्दरता और गुण अपने पास न होनेके कारण तथा द्वैतमे गुण-वुद्धि होनेके कारण। द्वैतमे गुण-वुद्धि क्यो ? द्वैतमे सत्यत्व-वुद्धि होनेके कारण। अब द्वैतमे सत्यत्व वुद्धि भ्रान्ति है। इसलिए यदि यह भ्रान्ति ही दूर हो जाय तो कामवासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय।

कारणका अनुसन्धान करके द्वैतके भ्रमको मिटाना यह हेतु-प्रत्यनीक चिकित्सा हुई। असलमे ससारमे जितना दु ख है वह भेदन-छेदनके कारण है। इस अद्वितीय ब्रह्ममे न भेद है न छेद।

'यत्' जो वस्तु है वह पैदा होनेवाली नही है, अज है। पैदा होकर दीखने-रहनेवाली नही है, स्थितिवाली नही है। उसका कोई कारण नही है, क्योकि वह किसीमे लीन नही होती। उसमे कोई वासना—कामना नही है, इसलिए उसका कोई लक्ष्य नही है। वह परिपूर्ण है, आप्तकाम है। वह 'इदम्' नही है, वह अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्म है। और वह ब्रह्म वह है जिसको ये सब मालूम पडती है। अन्तमे, जगत् क्या और ब्रह्म क्या है ? सूत्रसे ये सात लक्षण इनके निकलते हैं—

	जगत्	ब्रह्म
१	जन्मवाला	अजन्मा
२	स्थितिवाला, जड	स्थितिवाला नही, चेतन
३	कारणवाला, स्वय कार्य	कारणरहित, स्वय कार्यकारणातीत
४	अपूर्ण; लक्ष्यकी ओर गमनशील	परिपूर्ण, लक्ष्य रहित
५	इद-प्रत्ययका विषय	इदप्रत्ययका अविषय
६	परिच्छिन्न, भेदमूलक	अपरिच्छिन्न, अभेदरूप
७	परप्रकाश्य, प्रत्ययरूप	स्वयप्रकाश, प्रत्ययोका प्रकाशक

●

(२. ५.)

कारणत्व, अद्वितीयताका साधन

आप पहिले यह ध्यान करो कि परमात्मा सच्चिदानन्दघन अद्वय पदार्थ है। सत्‌का वही अर्थ है जो, 'स्वस्ति'का होता है। निरुक्तमे कहा गया है कि **'स्वस्तीत्यविनाशिनाम'** (३.२२)।' स्वस्ति उसको कहते है जिसका कभी विनाश न हो, जिसका अपनेसे कभी अदर्शन न हो। स्वस्ति = सु + अस्ति = जिसका अस्तित्व सुष्ठु हो, स्वस्थ हो, नीरोग हो। इसलिए सत्‌का अर्थ है—अविनाशी सत्ता, अबाधित सत्ता, ऐसी सत्ता जिसका अस्तित्व किसी प्रमाणसे कट न सके।

चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप। जो सम्पूर्ण ज्ञानो, समस्त वृत्तियोके मूलमे अद्वितीय ज्ञान विद्यमान है, वह है चित्।

आनन्द! जो सम्पूर्ण सुखोकी चिन्गारियोका, सुखोकी फुहियो-का, सुख-कणिकाओका, सुख-बिन्दुओका स्रोत है, समुद्र है, वह है आनन्द।

अद्वय कहनेका तात्पर्य है कि सत्, चित् और आनन्द ये तीनो तीन नही है, एक ही है, और इसके सिवाय और कोई वस्तु ही नही है।

ऐसा जो सच्चिदानन्द अद्वय प्रत्यगात्मा है—आनन्द-बिन्दुओका समुद्र, ज्ञानवृत्तियोका समुद्र, अस्ति-अस्ति-अस्ति वृत्तियोंका मूल सत्—वही अद्वितीय ब्रह्म है।

ससारमे क्या दीखता है ? कार्य, दृश्य ओर भोग्य। विचार करके देखो कि कार्यकी सिद्धि सत्से है। दृश्यकी सिद्धि चित्से है और भोग्यकी सिद्धि भोक्तासे है। कर्ता ही कार्यको करेगा, द्रष्टा ही दृश्यको देखेगा, भोक्ता ही भोग्यको भोगेगा।

इस प्रकार कर्ता-कर्मका एक द्वैत है, द्रष्टा-दृश्यका एक द्वैत है, भोक्ता-भोग्यका एक द्वैत है और इन्हीके साथ कारण-कार्यका एक द्वैत है, ईश्वर-जगत्का एक द्वैत है, ज्ञाता ज्ञेयका एक द्वैत है। इनका विवेक, इनका पृथक्करण, अलगाव, अपेक्षित है।

कार्य-कारणका जब विवेक करोगे तो मालूम पडेगा कि कार्य अनित्य होता है और कारण नित्य होता है **यज्जन्यं तदनित्यम्।** परन्तु यह ध्यानमे रखना चाहिए कि कारणका नाम ब्रह्म नहीं है। कारणता ब्रह्ममे अध्यारोपित है। कारण और कार्यका भेद जिसमे अध्यारोपित है, वह अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है।

कार्य और कारण दोनो ब्रह्ममे उपलक्षण हैं। सत्ताकी अनन्ततामे कार्य और कारण आकाशमे दो नीलिमाओकी तरह विवर्तरूपमे दीख रहे हैं। सत्तामे तो चेतन भी है और आनन्द भी है। परन्तु यदि चेतन और आनन्दका विवेक किये विना ही यदि कार्य-कारणका विवेक करे तो एक ही कार्य और कारणके रूपमे विवर्ती होकर दीख रही है। इस विवेकका फल होगा कि देह और उसकी धातु दोनो ब्रह्मसत्ताके विवर्त अनुभूत हो जायेंगे।

कर्ता और कर्मका विवेक करने पर पाप, पुण्य और जीवात्माकी सिद्धि हो जायेगी। परन्तु जो यथार्थ परमात्मा है वह कर्ता-कर्मके भेदसे अछूता है।

कार्य और कर्ममे भेद है। कार्य स्वयं कारणमे उत्पन्न होता है और लीन होता है परन्तु कर्मको कर्ता अपनी बुद्धिमे उल्लेख करके तब करता है। रोम तो शरीरमे अपने आप बढ जाते है परन्तु किसीको चाँटा सोच-समझकर मारा जाता है। रोम निकलनेसे पाप या पुण्य नही होता परन्तु चाँटा चूँकि जान-बूझकर मारा जाता है इसलिए वह पुण्य-पाप दोनोका जनक हो सकता है। कर्मको कर्ता सकल्पपूर्वक करता है जब कि कार्य प्रकृतिमे अपने आप होता है। कर्मसे कर्ताको पाप-पुण्य दोनो लगता है (कर्तृत्वके कारण) जबकि कार्यसे पाप-पुण्य कुछ नही लगता।

कर्तृत्व भी दो तरहका होता है : जीवका अल्प कर्तृत्व तथा ईश्वरका सर्वज्ञरूप-सर्वशक्तिरूप कर्तृत्व। इसीसे जब हम कर्तृ-कर्म विवेक करते है तो पाप-पुण्य, जीव और ईश्वर (अल्पकर्ता और महान् कर्ता) सिद्ध होते है। और यह विवेक होता है कि कर्ता नित्य है तथा कर्म, कर्म-करण और कर्मफल अनित्य होते है। इससे महान् कर्ता ईश्वरकी तरफ रुचि और भक्ति बढती है।

कार्यकारण-विवेक सत्ताकी प्रधानतासे होता है और द्रष्टा-दृश्य-विवेक चित्की प्रधानतासे होता है। करणविशिष्ट चेतन कर्ता होता है और वृत्तिविशिष्ट चेतन ज्ञाता होता है। वृत्ति सहित विषय-विषयीका विवेक ज्ञाता–ज्ञेय विवेक है और वृत्तिरहित ज्ञाता-ज्ञेय विवेक द्रष्टा-दृश्य विवेक हो जाता है। इसमे जाग्रदवस्थाका जो द्रष्टा है वही स्वप्नावस्थाका भी द्रष्टा है और वही सुपुप्ति-अवस्थाका द्रष्टा है। सुषुप्ति-अवस्थामे वृत्ति नही रहती, अतः साक्षी निर्वृत्तिक सुषुप्तिका द्रष्टा रहता है। जो सुषुप्तिका साक्षी है वही कूटस्थ साक्षी है, वही जीव-साक्षी है और वही ईश्वर-साक्षी है।

कार्य-कारण भावमे कारणमे परिणाम मालूम पड़ता है। ईश्वर कार्यरूप परिणामको प्राप्त हो रहा है, यह मालूम पडता है। और द्रष्टा-दृश्य-विवेकमे द्रष्टा असग है यह बोध होता है। कार्य-कारण-विवेकमे जीव कर्ता है—यह सिद्ध होता है और ईश्वर कर्मफल-दाता। जवकि द्रष्टा-दृश्य-विवेकमे द्रष्टा अकर्ता, असग है—ऐसा अनुभव होता है।

भोक्ता-भोग्य-विवेक क्या है ? यह प्रियताका विवेक है। वास्तवमे प्रिय आत्मा है, अपना आपा, परन्तु अपनी प्रियत्वको अन्यमे सचारित करना और फिर देखकर खुशीका होना यह भोक्तापन है। इसमे विवेक यह है कि कोई भी वस्तु स्वय अपने लिए प्रिय नही होती, वह आत्माके लिए ही प्रिय होती है

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति। आत्मवस्तु कामाय सर्वं।प्रिय भवति । (बृहदा० २.४ ५)

भोक्ता-भोग्य विवेकका फल है राग-शैथिल्य और वैराग्य जागरण।

असलमे जैसे कार्य और कारण दोनो ब्रह्मके उपलक्षण है तथा उसके सत्-अशके विवर्त हैं, उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य ब्रह्मके चिदशके विवर्त हैं और भोक्ता और भोग्य दोनो आनन्दाशके विवर्त है।

अव देखो, इन अलग-अलग विवेकोका समन्वय करो। कारण और द्रष्टाको मिला दो तथा कार्य और दृश्यको मिला दो। माने यदि द्रष्टा चेतन ही कारण सत्ता हो तो कारणमे परिणाम होकर कार्य दृश्य नही होगा, द्रष्टा विवर्तित होकर ही दृश्यरूप अनुभवमे आयेगा तथा द्रष्टाकी असगता और कारणकी अपरिच्छिन्नता वनी रहेगी। द्रष्टा तत्त्व वना रहेगा और दृश्यकी अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति हो जायेगी, अतएव दृश्यमे परिच्छिन्नता और विनाशिता वाधित (मिथ्या) हो जायेगी। यह सत् और चित्की एकताके ज्ञानका फल है।

भोक्ता और भोग्यका सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष तादात्म्यमूलक है, एकदम अध्यास है। तादात्म्य माने तत्-स्वरूपता। तादात्म्य = तद् + आत्मता = वही रूप हो जाना। 'तदन्यत्वे सति एकत्वम् अपि'। अन्य होनेपर भी एक हो जाना, यह तादात्म्य है। 'भोक्ता और भोग्यका विवेक करनेसे विषयमे मानी हुई प्रियता अपने वास्तविक आश्रय प्रत्यगात्मामे लौट-जैसे आती है। तब जो सत् चित् था, अब आनन्दरूप भी है। न तो आनन्द बिना ज्ञानके होता है (अर्थात् आनन्दका भासना आनन्दकी सत्ताके लिए आवश्यक है), न ज्ञान बिना सत्ताके होता है और न बिना सत्ताके ज्ञान होता है। इसलिए सत्, चित् और आनन्दका पृथक्त्व सम्भव नही है। अत सच्चिदानन्द एक ही पदार्थ है।

चेतनको अपनेसे अलग करके कोई विद्या नही हो सकती। तुम स्वयं चेतन हो। यह, वह, तुम सब मैके द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए श्रुति कहती है कि परमात्मा इस मैकी गुफामे छिपा हुआ है। परमात्मा हृदयाकाशमे छिपा है **गुहाहितं गह्वरेष्ठं** (कठ १ २ १२)। हृदयाकाशमे ही छिपा है। **निहितं गुहायां परमे व्योमन्'** (तै० उप० २ १ १)। इस बाह्याकाशको बनानेका सामर्थ्य नही है परन्तु हृदयाकाशमे बाह्याकाशको बनानेका सामर्थ्य है। इस हृदयाकाशमे एक सच्चिदानन्द विराजमान है।

तुम्हारे सिवाय अन्य कोई प्रतीति नही है। कुछ भासेगा तो किसको भासेगा? देश, काल, वस्तु, ईश्वर, वेद, गुरु, शास्त्र, ये सब किसको भासेगा? तुमको न! यह सर्वज्ञान-निधान कौन है? तुम ही तो हो! तुम कोई मामूली सत्ता नही हो। अपनेको स्त्री, पुरुष मान करके हीन भाव नही करना चाहिए। इसी प्रकार अपनेको विद्वान्, मूर्ख समझकर विपर्यय नही करना चाहिए। वैदुष्य और मूर्खता तो वृत्तिमे होते हैं, दृश्यमे होते है, द्रष्टामे

नही और स्त्री-पुरुष कार्यमे होते है कारणमे नही। भोक्ता-भोग्य भी दृश्य ही होते है, द्रष्टा भोक्ता-भोग्य नही होता। वह तो एक ही आनन्द है, वह न भोक्तामे है न भोग्यमे।

यह जो विषयी नित्य, चेतन आत्मा है वही अधिष्ठान ब्रह्म है और विषय अनित्य और जड है अत ये मिथ्या है। अत अब क्या रहा? सब ब्रह्म हो गया। अजातको समझनेके लिए विवर्तरूप जातकी प्रक्रिया रखी हुई है। अजातमे जात क्या? विवर्त। और प्रक्रिया? तरकीब।

एक आदमीने जजकी अदालतमे झूठा मुकदमा चलाया कि "अमुकने मेरे ऊपर बडे जोरसे गँडासा मारा परन्तु ईश्वर-कृपासे मै बच गया। डाक्टरने भी लिखा है कि घाव हल्का है। परिणाम यह हुआ कि अब मेरा हाथ ऊपर नही उठता। मुझे हरजाना मिलना चाहिए।"

विपक्षी वकीलने पूछा तुम्हारा हाथ अभी नही उठता या पहिले भी नही उठता था?

मुद्दई अभी नही उठता।

वकील तुम झूठ बोलते हो। तुम्हारा हाथ पहिले भी नही उठता था।

मुद्दई : नही, यह झूठ है।

वकील : नही, तुम झूठ बोल रहे हो। तुम्हारा हाथ पहिले भी नही उठता था और उठता था तो बताओ कितना उठता था।

मुद्दईने तुरन्त हाथ ऊपर उठाकर कहा . इतना उठता था।

वकील (अदालतसे) हुजूर, यह मुद्दई झूठा है। इसका हाथ अब भी उठता है। इसको न अमुकने मारा है और न जोरसे मारा है।

इसका नाम है तरकीब। इसी प्रकार ब्रह्मको समझानेके लिए उसमे कारणत्वका निरूपण किया जाता है। कारणत्व युक्ति है, तरकीब है। किस बातकी ? इस बातकी कि सृष्टिके कारणके सम्बन्धमे जो अनेक मतवाद है (जिनका वर्णन पूर्व हो चुका है) कि सृष्टि चार भूतोसे हुई, या परमाणुसे हुई, या विज्ञानसे हुई, या कर्मसंस्कारसे हुई, या प्रकृतिसे हुई, या देवीदेवतासे हुई, इन सबका इकट्ठा खण्डन इस स्थापनासे हो गया कि सृष्टि ब्रह्मसे हुई। और साथ ही ब्रह्मके चेतन और अद्वय होनेके कारण यह भी ज्ञात करा दिया कि सृष्टि और ब्रह्मका कार्यकारण-सम्बन्ध नही है, यह तो केवल ब्रह्मके अज्ञानसे भास रही है। सारे कार्य-कारण मिथ्या है और ब्रह्म अद्वितीय है। तो फिर ब्रह्मने कारणता क्यो जोडते हो ? तो बोले कि वह ब्रह्मको कारण बतानेके लिए नही जोड़ते, बल्कि उसकी अद्वितीयता बतानेके लिए जोड़ते है। मिथ्या कार्यका कारणत्व भी मिथ्या ही होगा। क्या मिथ्या सर्पके आधार रज्जुमे आधारता सच्ची है ? नही। इसी प्रकार मिथ्या कारणत्वका आधार जो पृथक् अधिष्ठान है उससे पृथक् न कारण है न कार्य है।

कार्यके मिथ्या सिद्ध होनेपर जिस अधिष्ठानमे कारणत्व आरोपित किया गया, उस अधिष्ठानकी अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है। **न तस्य कार्यं विद्यते।** जगत् मालूम पड़ता है, व्यवहारमे कार्य-कारणता मालूम पड़ती है। इसलिए परमात्मामे ही जगत्के कारणत्वका अध्यारोप किया जाता है। कारणत्व ब्रह्मकी अद्वितीयताका लक्षण मात्र है। अद्वितीयताका बोध होनेपर कारणत्व लक्षण भी वापिस ले लिया जाता है

एतस्मिन् अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठां विन्दते।

(तैत्ति० २ ७)

'नान्तः प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञम्' (माण्डूक्योपनिषद्—(७)।

(२. ६)

सूत्रार्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से जिस ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा की उस ब्रह्मका लक्षण किया : 'जन्माद्यस्य यत.' ।

'अस्य प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धस्य जगत ।' 'प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध इस जगत्के' यह अस्यका अर्थ हुआ । माने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य संभव और चेष्टा—ये जो नौ प्रमाण हैं, इनसे बोधित सम्पूर्ण जगत्के जो 'जन्मादि' (अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और भग) जिस कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है । 'यत्' पदका अर्थ है कारण ब्रह्म ।

'अस्य' प्रमाणका विषय है और 'यत्' प्रमाणसे जाना नही जाता। वह 'त्व'-पद और 'तत्'-पदका लक्ष्यार्थ है। 'यत ', इसमे सार्वविभक्तिक तसि प्रत्यय है। अत' 'यत ' का अर्थ है कि जगत्के जन्मादिका जिससे, जिसमे, जिसके द्वारा, जिसके प्रति, जिसके लिए प्रत्यय होता है, वह ब्रह्म है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'मे जो जिज्ञास्य है, लक्ष्य है, उद्देश्य है, अर्थात् ब्रह्म, वही 'यत्' है।

ब्रह्मका जगत्के जन्मादिका कारण बताया जाना ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। क्योकि जन्मादि ब्रह्मके नही होते, जगत्के होते हैं। तब ब्रह्मका स्वरूपलक्षण क्या है ? तो श्रुतिने बताया कि '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' यह ब्रह्मका स्वरूपलक्षण है। इस अनन्त ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे होगा ? तो कहा कि मिथ्या लक्षणसे भी सत्यका साक्षात्कार हो सकता है। और फिर जहाँ अद्वितीय सत्यकी सिद्धि होगी वहाँ तो मिथ्या लक्षणसे ही उसकी सिद्धि होगी। क्योकि यदि लक्षण मिथ्या नही होगा तो ब्रह्म भी सत्य और लक्षण भी सत्य—इस प्रकार सत्य द्वैतकी सिद्धि हो जायेगी। अतः जैसे सर्पवत् प्रतीयमान रज्जुका लक्षण होता है कि मिथ्याभूत सर्प ही जिसका लक्षण है वह रज्जु है **अय दृश्यमान सर्प एव रज्जुः। सर्पोपलक्षित रज्जु** ऐसा कहा भी समझना चाहिए। सत्यका लक्षण सत्य नही हो सकता, अन्यथा सत्की अद्वितीयता ही चली जायेगी।

लोकमे भी यदि कोई व्यक्ति अलग-अलग आदमियोको अपना अलग-अलग नाम बताये तो यही कहा जायेगा कि वह आदमी झूठा है क्योकि उसने अपनी बात बदल दी। बदलना झूठका लक्षण है और सत्यका लक्षण जो आज है वही कल है। जो एकके लिए है वही सबके लिए है। अपरिवर्तन ही सत्यका लक्षण होगा।

सोना एकवार कंगन वना, फिर टूटकर हार वना, फिर कुडल वना। तो आभूपण तो वदलते गये, परन्तु सोना नही वदला। अत आभूषण झूठा है और स्वर्ण सच्चा है। स्वर्णमे आकृति खिची और मिट गयी। अधिष्ठान-रूप स्वर्ण सच्चा है और अध्यारोपित आकृतियाँ झूठी है। 'स्वर्णमेव सत्यम्'। तथापि आभूषण स्वर्णकी पहिचानका साधन हो सकता है।

इसी प्रकार परमार्थमे भी, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, स्थिति, प्रलय, जन्म, जीवन और मरण आते रहते है, बदलते रहते है, और जाते रहते हैं। परन्तु इनका जो अधिष्ठान एव प्रकाशक है, वह एकरस वना रहता है। अत वह एकरस ज्ञान सत्य है और जाग्रदादि सब मिथ्या है। वदलता हुआ ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसे वदलनेका साक्षी जो न बदलनेवाला ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है।

यदि आप दूसरेमे आनन्द लोगे तो आनन्द बदलता रहेगा। अन्यनिष्ठ आनन्द यदि वदलेगा नही तो आनन्द ही नही रहेगा। परन्तु यदि आपका 'आत्मा ही आनन्द है' यह बोध आपको हो जाय तो आनन्दको बदलनेकी जरूरत नही पड़ेगी। इस सत्यको यदि मनुष्य जान जाय तो वह कही राग नही करेगा और इसलिए द्वेष भी नही करेगा। क्योकि आनन्दका कोई परिच्छेदक अथवा वाधक ही नही रहा। उस आनन्दका अभिमान भी नही होगा क्योकि वह अपना सहज स्वभाव है।

तो ब्रह्मका यह स्वभाव है कि उसमे परिवर्तन नही होता। मिथ्या वस्तुओके परिवर्तनके समान (विकल्प-परिवर्तनके कारण) परिवर्तन नही होता, वृत्तियोंके परिवर्तन (विपय-परिवर्तनके कारण) के समान परिवर्तन नही होता और प्रियताके परिवर्तनके समान (अज्ञानमूलक मोह, ममता और उपयोगिता-दृष्टिके परिवर्तनके

कारण) परिवर्तन नही होता। आत्माकी, ब्रह्मकी, सत्ता, चित्ता और प्रियता अखण्ड है, तब ब्रह्मका लक्षण कैसे बनेगा ? वैसे ही जैसे लोकमे बनता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके स्फुरण, परिवर्तन, जन्म-मरणमे जो अखण्ड एकरस सत्ता-चित्ता है वह सत्य है, वही ब्रह्म है।

'जन्माद्यस्य यत'मे जन्म पहिले क्यो लिखा गया ? श्रुति **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०** मे जायन्ते (जन्म) पहिले लिखा होनेके कारण और लोकव्यवहारमे भी स्थिति और प्रलयके पूर्व ही जन्म होनेके कारण। वस्तु पहिले जन्म लेकर फिर अस्तिका विषय होती है और उसके अनन्तर अन्य भाव-विकार (वृद्धि, क्षय, परिणाम और विनाश) को प्राप्त होती है।

'अस्य'के बारेमे श्रीशकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे सिद्ध लौकिक जगत् है वह सब 'इदम्' है। उसका जन्म आदिसे सम्बन्ध बतानेके लिए 'इय'के षष्ठीरूप 'अस्य'का प्रयोग हुआ है। जन्मादिका सम्बन्ध 'इदम्'से है, 'यत्'से नही।

सिनेमामे आँखसे दीखता है कि 'यह जन्मा, वह मरा, यह स्त्री, वह पुरुष' इत्यादि। परन्तु विचार करो तो वहाँ कुछ भी नही है ? वहाँ क्या है ? आकृतिके सस्कारसे सस्कृत केवल प्रकाश अथवा प्रकाशसे उद्दीप्त केवल आकृति। तत्त्व क्या है ? प्रकाश या आकृति ? प्रकाशमे आकृति आगन्तुक है। ससारमे प्रकाश बुद्धिस्थानीय है और आकृति, सस्कार स्थानीय है, तथा पर्दा और प्रकाश दोनो एक है यहाँ—वह है सर्वाधिष्ठान, सर्वज्ञ ईश्वर। सर्वज्ञमे जो सर्व है, वह आकृति है और जो 'ज्ञ' है, वह प्रकाश है। उसका अधिष्ठानत्व ही पर्दा है।

अब समझो चिदाकाश ब्रह्म है। उसमे बुद्धि प्रकाश है, आकृतिका संस्कार दृश्य है, आधारत्व पर्दा है। अस्तु।

असम्बद्धमे सम्बद्धकी कल्पना करके तटस्थ लक्षणका सर्जन होता है, यह बात हम पहिले बता चुके हैं। यहाँ भी कारणत्वसे रहित ब्रह्ममे जगत्‌के प्रतीयमान जन्मादिके कारणत्व का अध्यारोप करके 'जन्माद्यस्य यत' के द्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण किया गया है। इस जगत्‌का स्वरूप क्या है ? श्रीशकराचार्य भगवान् कहते हैं :

अस्य जगतो नामरूपाभ्या व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचना-रूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः।

एकदिन ईश्वर एकान्तमे बैठा और कविता करनेका सकल्प करके उसने कहा कि 'अनन्त गगन है। वायु स्पन्दित हो रही है। तेज प्रकाशित हो रहा है। जल रसमय हो रहा है। पृथ्वी धारण कर रही है। ' जो-जो भाव आया, जो-जो शब्द उसके मुँहसे निकला, वही-वही बनता गया। यह सृष्टि ही उसकी कविता बन गयी। वेदने कहा :

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

(अथर्ववेद, शौनक १० ८ ३२)

ईश्वरके इस काव्यको देखो,यह न मरती है और न बुड्ढी होती है। ईश्वर अनेकरूप-रूप है,उनसे यह दृश्यकाव्य बन गया। इसमे मेरा-तेरा, दोस्त-दुश्मन, सुख, दु ख क्या ? ईश्वर तो आनन्दरूप है। इसमे दु ख कहाँसे आया ?

असलमे लोग बगीचेको देखते हैं, उसको नही देखते जिसका यह बगीचा है।

गुरुनानकके पास एकदिन उनके एक सत्संगी अपनी कन्याको भी लाये। कन्या अतीव सुन्दरी थी। गुरुनानक गौरसे उसे देखने लगे। सत्सगीने पूछा . महाराज गौरसे क्या देखते हैं ? गुरुनानक-देवने कहा : अपने मालिककी कारीगरीको देखता हूँ।

ससारको देखो। दृष्टि है तो देखोगे ही, परन्तु देखनेमे राग-द्वेष नही होना चाहिए। भोग दृष्टिसे मत देखो।

जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो पहिले उसका प्रारूप—घड़ेकी आकृतिका प्रारूप—अपने मनमे अकित कर लेता है, पदुपरान्त वह चाकपर घडा बनाता है। उसी प्रकार सृष्टिमे जितने भी नाम और रूप है उनका व्याकरण ईश्वरकी बुद्धिमे रहता है 'नाम-रूपाभ्या व्याकृतस्य'।

इस जगत्मे अनेक नाम है, अनेक रूप है, अनेक कर्ता है, अनेक भोक्ता है, देश है, काल है, द्रव्य है, द्रव्यमे कार्य-कारण भाव है, क्रिया है, कर्म है, कर्मफल है और स्वय मनुष्यकी रचनासे लेकर सभी प्राणियोकी रचना इतनी सूक्ष्म एव जटिल है कि मनसे भी उनका पूरा चिन्तन नही किया जा सकता। जगत्मे आश्चर्य ही आश्चर्य है।

ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि जिससे भी होगी वह अवश्य ही चेतन, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् होना चाहिए। उसीको वेदान्तने यहाँ ब्रह्म कहा है।

कहो कि सृष्टि शून्यसे या जड़से या जीवसे भी हो सकती है, तो फिर कथित ईश्वरकी क्या आवश्यकता है, तो ऐसा नही हो सकता।

प्रथम जीवसे सृष्टि हो सकती है, इसका खण्डन किया जाता है। जीव अनेक होते है और वह कर्ता भी होता है और भोक्ता भी। जीवकी स्वयकी उत्पत्ति औपाधिक है। शरीर पैदा होता है, साँस पैदा होती है, मन-बुद्धिका उदय होता है। तब उपाधिकी उत्पत्तिसे चेतनमे जीव सज्ञा होती है। यदि उपाधिकी ही उत्पत्ति न हो तो चेतनमे जीव नामही क्यो हो? यही नही उपाधिसे ही

जीवकी अनेकता, कर्तापन और भोक्तापन सिद्ध होते है। अत जीव स्वयभू नही है। वह भी बनाये गये है। जीव तो स्वयं उपाधिकी उपज है और उपाधिमे उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय देखनेमे आते है। अत उपाधिका उत्पादक (स्वय उसका उत्पाद्य) जीव नही हो सकता।

फिर कर्ता भी कई प्रकारके होते है। जब कोई कर्त्ता रसोई तो बनाते है परन्तु उस रसोईको खाते नही, और कोई खाते भी हैं। उसी प्रकार कोई जीव केवल कर्ता ही होते है भोक्ता नही होते और कोई कर्ता और भोक्ता दोनो होते है। फिर जीवके पास सीमित शक्ति है, सीमित इन्द्रियाँ और सीमित बुद्धि है। अत. इतनी बडी और वैविध्यपूर्ण सृष्टि जिसमे बनायी, वह कोई परिच्छिन्न जीव होगा, यह बात ठीक नही हो सकती।

सृष्टि जडसे भी नही बन सकती। बिना बुद्धिमे उल्लेख किये ही यदि जडसे सृष्टि बनी होती तो प्रश्न यह है कि वह अनिश्चित दिशामे क्यो नही बहती ? वह अपने स्वभावको कैसे पकडे रहती है ? सृष्टि नियमबद्ध क्यो है ? अमुक वृक्षमे अमुक ऋतुमे ही फल क्यो लगेगे ? जवानीमे ही उत्पादन-शक्ति क्यो रहेगी ? नक्षत्रोकी चाल, दिशा इत्यादि सब गणितके नियमोका पालन क्यो करती हैं ? सृष्टिमे नियम है यही यह बात सिद्ध करती है कि जगत्का कारण जड नही चेतन है [और नियमोमे व्यतिक्रम भी जो है वह भी जगत्के मूलमे चेतनको ही सिद्ध करता है, क्योकि जडमे क्रिया यन्त्रवत् होती है]।

शून्यसे सृष्टि हुई, यह भी ठीक नही है क्योकि जहाँ कुछ है ही नही उससे कुछ कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

वेदान्तकी रीति यह है कि वह पहिले अल्प उपाधिवाले जीवको सिद्ध करता है, फिर सर्व उपाधिवाले ईश्वरको सिद्ध करता है और फिर निर्विशेष चिन्मात्रमे अभेद सिद्ध करता है।

इसका अन्तिम नतीजा यह निकलता है कि चिन्मात्र ब्रह्म है और चिन्मात्र ही जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का अधिष्ठान है। वह ब्रह्म जगत्‌के जन्मका निमित्त ही नही, उपादानकारण भी है। अर्थात् ब्रह्म जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसके अतिरिक्त शास्त्रयोनि होनेके कारण और संसारमे पूर्ण नियमबद्धता एव व्यवस्था देखनेमे आनेके कारण उसकी सर्वज्ञता और सर्व-शक्तिमत्ता सिद्ध होती है। श्रुतिने 'तत्पद' से उसी समष्टि उपाधिगत चैतन्यको सूचित किया है, 'त्वम्' पदसे व्यष्टि उपाधिगत चैतन्यको सूचित किया है और 'तत्त्वमसि' वाक्यसे उन दोनो चैतन्योका अभेद तथा अभेदकी दृष्टिसे उपाधिका मिथ्यात्व सूचित किया है।

तो इस नामरूपात्मक जगत्‌के पीछे, इस कर्तृभोक्तृसयुक्त जगत्‌के पीछे इस देश-काल-निमित्त-क्रियाफलके आश्रय इस आश्चर्यमयी सृष्टिके मूलमे एक अद्वितीय 'सत्य ज्ञानमनन्तं' वस्तु विद्यमान है जो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वज्ञ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अनन्त, ब्रह्म है।

जगत्‌के सम्बन्धमे चार बाते हुईं १ नाम-रूपमय, २ अनेक कर्ता-भोक्तासे सयुक्त, ३ देश, काल, निमित्त, क्रिया, और फलका आश्रय एवं ४ मनसे भी अचिन्त्य आश्चर्यमय।

ब्रह्मके सम्बन्धमे भी पाँच बाते ध्यातव्य है—१ नामरूपका आश्रय और प्रकाशक २ कर्तृत्व-भोक्तृत्व एव अनेकत्वकी उपा-धियोका आश्रय एव उनके भावाभावका प्रकाशक ३ देश, काल, निमित्त, क्रिया और फलके भावाभावोका प्रकाशक एव अधिष्ठान ४ मनसे भी अचिन्त्य आश्चर्यमय जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रकाशक एव अधिष्ठान ५ जगत्‌के किसी भी स्फुरणामात्रसे अबाधित, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित, प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न, अपरिच्छिन्न 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। ●

(२. ७)

भावविकार और 'जन्मादि'

अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थिति-नाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्ति-स्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्यते तन्माशङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

(भाष्य १.१.२)

अर्थ : अन्य भावविकारोका भी इन तीनोमे ही अन्तर्भाव है अतः यहां जन्म, स्थिति और नाशका ही (जन्मादिसे) ग्रहण है। यास्कमुनि द्वारा उक्त 'जायतेऽस्ति०' वाक्यमे जो छ भाव विकार हैं, उनका ग्रहण किये जानेपर जगत्की स्तिथिकालमे उनकी सम्भावना होनेसे मूलकारण (ब्रह्म) से जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-नाश गृहीत नही होगे—सम्भव है कोई यह आशका करे। ऐसी आशका न करे इसलिए ब्रह्मसे इस जगत्की जो उत्पत्ति, उसीमे जो स्थिति और (उसीमे जो) प्रलय श्रुतिमे प्रतिपादित हैं वे ही जन्म, स्थिति और लय यहां जन्मादिसे गृहीत होते हैं। •

वेदके शब्दोकी व्यवस्थाके लिए जो शब्द-कोष है उसे 'निरुक्त' बोलते हैं। यास्कमुनि इस कोषके रचयिता हैं। निरुक्तमे उनका एक वाक्य है :

जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति। (१.३)

माने शरीर उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर अस्तित्वको प्राप्त होता है, परिणामको प्राप्त होता है, वढता है, क्षीण होता है और अन्तमे नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शरीरके और संसारकी सभी स्थितिमान वस्तुओके, ये छह भावविकार कहलाते हैं। (भाव = क्रिया)।

यहाँ 'जन्माद्यस्य०' सूत्रमे जन्मादिका अर्थ जन्म, स्थिति और नाश किया गया है। इस प्रकार जायते, अस्ति और विनश्यति, इन तीन भावविकारोका प्रत्यक्ष समावेश जन्मादिमे हो जाता है। परन्तु शेष तीन भावविकारोका क्या हुआ? तो कहते हैं कि शेष तीन भावविकारोका भी इन्ही तीन—जन्म, स्थिति और नाशमे अन्तर्भाव हो जाता है। (परिणामका और वर्द्धनका उत्पत्तिमे अन्तर्भाव है तथा अपक्षयका विनाशमे, प्रलयमे, अन्तर्भाव है)।

इस प्रकार 'जन्मादि' का अर्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०** श्रुतिके अनुसार हैं और इसी अर्थमे यास्क-वाक्यके छह भावविकारोका भी समावेश हो जाता है। [अब श्री शङ्कराचार्य भगवान् यह प्रश्न उठाते है कि यह जो 'जन्माद्यस्य०'सूत्र है वह इन्ही भावविकारोके द्वारा ब्रह्मका लक्षण बतानेके लिए है या श्रुतिमे जो 'जायन्ते, जीवन्ति और अभिसंविशन्ति' हैं उससे ब्रह्मका लक्षण बतानेके लिए है?

वेदान्तमे विचारसे कतराया नही जाता। प्रश्न यास्कमुनिका या किसी व्यक्तिका नही है। 'जायतेऽस्ति०' यह जो भावविकार-

वाला वाक्य है वह किसीका भी लिखा हुआ क्यो न हो, उसपर विचार करनेमे क्या आपत्ति हो सकती है ?

श्री शङ्कराचार्य भगवान् कहते हैं कि चाहे ऋषि हो या महर्षि, देवी हो या देवता या हिरण्यगर्भ हो; जो स्वय पैदा होनेके वाद सृष्टिका अनुभव करता है और सृष्टिको देख-देखकर, अनुभव कर-करके जो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमे सिद्धान्त वनाता है वह परमात्माका लक्षण कैसे कर सकता है ? वह तो सृष्टिकी उत्पत्तिके वाद एक अन्तःकरणवाला पुरुष अपने अन्त.करणसे अनुभाव्यका अनुभव करके फिर उसके वाद सिद्धान्त वना रहा है कि यह चीज पैदा होती है, अस्तित्ववान् होती है, वदलती है, वढती है, क्षय होती है और नाशको प्राप्त हो जाती है। एक अन्त करणकी कल्पनामे जो चीज आती है और कल्पना शान्त हो जानेपर जो नही रहती, वह तो केवल अन्त.करणके विषयमे ही कोई लक्षण वना सकती है, अन्त.करणके आश्रयभूत पदार्थके सम्बन्धमे कि वह परिच्छिन्न है या महान् है या अपरिच्छिन्न है, कुछ लक्षण नही कर सकती।

मूल प्रश्न यह है कि वेदान्त अपौरुषेय ज्ञानका विचार करता है या पौरुषेय ज्ञानका ? जो ज्ञान एक जीवका है, जो किसी जीवको जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्तिमे, अनुभवमें आता है, वह पौरुषेय ज्ञान है। और एक वह ज्ञान है जो जीवका अपना स्वरूप है, जो जीवका विषय नही होता, और जिसको जीव इदंतया नही देख सकता। वह प्रत्येक पौरुषेय ज्ञानके होनेके पूर्व और उत्तर विद्यमान रहता है। वह जीवकृत या जीवभोग्य नही है। वही ज्ञान अपौरुषेय ज्ञान कहलाता है। वेदान्त किस ज्ञानका विचार करता है।

एक मनुष्य या एक व्यक्तिके अनुभवकी कोई कीमत नही है,

चाहे वह यास्क हो या कपिल या व्यास हो, देवी हो या देवता हो। उस अनुभववाला व्यक्ति तो स्वयं जन्म-मरणके चक्करमे है। कपिल भी मर गये, जैमिनि भी मर गये, गौतम, कणाद सभी तो मर गये! अन्त.करणसे अनुभूत एक अनुभवके द्वारा अन्त.करणके मूलभूत आश्रय माने सृष्टिके मूलभूत तत्त्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है? उससे तो विषयमात्रकी ही सिद्धि होती है। इसलिए विचार यह है कि व्यक्ति चाहे यास्क हो या व्यास, पौरुषेय अनुभवसे अतीत जो वस्तु है जिससे पुरुषके पुरुषत्वका भी उदय-विलय होता है, उसका विचार कैसे किया जाय? पचभूतकी उत्पत्ति कैसे हुई? अहकारकी उत्पत्ति कैसे हुई? महत्तत्त्वकी उत्त-पत्ति कैसे हुई? महत्तत्त्वकी शान्त और विक्षिप्तदशाकी उत्पत्ति कैसे हुई? अपने अभावके अधिष्ठानमे भासे बिना इनकी सिद्धि नही हो सकती। इसलिए व्यक्तिके प्रति जो महत्तत्त्वबुद्धि है वह वेदान्तको मान्य नही है।

उस अनन्त अधिष्ठानसे पञ्चभूतोकी उत्पत्ति हुई जिसमे पञ्च-भूतोका बीज है। उसको जाननेकी प्रक्रिया यह है कि जब आप आपनेको निर्बीज जानोगे तब जगत्के मूल कारणको निर्बीज जानोगे। जब निर्बीज-निर्बीज और निर्विशेष-निर्विशेषकी एकताको पहिचानोगे तब तत्त्वज्ञानका सामीप्य प्राप्त होगा। एक अन्त:-करणके जागनेका या सोनेका या शान्तिका या तदाकारताका नाम ज्ञान नही होता। यह जो श्रुति निरूपण करती है वह तुम्हारे मनोराज्यका या उसके बीजका निरूपण नही करती है, वह निर्बीज ब्रह्मका निरूपण करती है अर्थात् श्रुति पौरुषेय ज्ञानका नही अपितु अपौरुषेय ज्ञानका निरूपण करती है। मनुष्यके अनु-भवमे भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्साकी (वञ्चना करनेकी इच्छा) गुञ्जायश हो सकती है, परन्तु श्रुति-ज्ञान इन

सीमाओसे उन्मुक्त ज्ञानका वर्णन करती है—उस ज्ञानका जो एक अन्तःकरणकी सविशेष अनुभूतिसे निरपेक्ष है; जिसमे मुक्त और बद्धका भेद नही होता, जिसमें जात-अज्ञातका भेद नही होता, जिसमे छिन्न-अविच्छिन्नका भेद नही होता।

पहिले दुनिया पैदा हुई और फिर बादमे यास्कने दुनियाके पदार्थोंके बारेमे यह अनुभव किया कि सब पाञ्चभौतिक वस्तुएँ छह भाव विकारोसे आक्रान्त हैं। इसलिए यास्कका अनुभव सृष्टिकी स्थितिकालपर्यन्त ही सही हो सकता है। परन्तु श्रुति जब कहती है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' तो वह तो पाञ्चभौतिक वस्तुओके बारेमे नही, स्वयं पञ्चभूतोकी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशका वर्णन ब्रह्मसे करती है। अतः श्रुत्यर्थ हो यहाँ गृहीत है।

यास्क भले ही ऋषि होवें। शङ्कराचार्य भगवान्‌ने तो भाष्यमें (द्र० आनन्दमयाधिकरण) यहाँतक लिखा है कि अगर कही श्रुति और (व्यासकृत) ब्रह्मसूत्रमे विरोध मिले तब क्या करना चाहिए? व्यासको माने या श्रुतिको ? तो उन्होने कहा कि वहाँ श्रुतिके अनुकूल सूत्रको बना लेना चाहिए, न कि श्रुतिको सूत्रके अनुसार। इस श्रुतिपर इतना क्या विश्वास है कि इसके सामने किसी ऋषि-महर्षिको गिनते ही नही ? विश्वास यह है कि दुनियामे किसी वस्तुके बारेमे बोला जाता है तो उसे अनुभव करके बोला जाता है; पहिले अनुभव करते हैं फिर बोलते है। परन्तु श्रुतिका बोलना पहिले होता है और अनुभव बादमे होता है। श्रुतिसे श्रवण करनेके बाद प्रतिपाद्य विषयका अनुभव होता है। श्रुतियाँ भी दो प्रकारकी होती हैं—एक परोक्षके बारेमे कथन करनेवाली और दूसरी प्रत्यक्ष अनुभवारूढके बारेमे कथन करनेवाली। श्रुतिके अनुसार ब्रह्म-

ज्ञानियोको ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होकर ब्रह्मका ज्ञान होता ही है, तो सत्यका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण श्रुतिका प्रामाण्य है। एक और बात भी है। श्रुतिप्रतिपाद्य वस्तुका (साक्षात्कार हो जानेके बाद) बाध नही होता परन्तु श्रुतिका, स्वयका, बाध हो जाता है। माने हम श्रुतिको सच्वी इसलिए मानते है कि उससे सच्ची वस्तुका साक्षात्कार होता है और वह स्वय मिथ्या हो जाती है। किसी भी 'व्यक्ति'के कथनमे अपने कथनको मिथ्या करनेका सामर्थ्य नही होता अतः अद्वैत नही हो सकता। अद्वैत केवल श्रुतिप्रतिपाद्य है, व्यक्तिप्रतिपाद्य नही है।

वाचस्पति मिश्रने इस सम्बन्धमे यह बात कही कि अच्छा यदि श्रुतिने कोई बात कही और यास्कने भीव ही बात कही तब किसको माने ? तो उन्होने कहा कि फिर भी श्रुतिको ही मानो। उसमे बीचमें यास्कको घुसेडनेकी क्या जरूरत है ? श्रुतिको ही रहने दो न ! श्रुति तो यास्कसे पहिले है !

श्रुति इन्द्रियोसे ज्ञानका प्रत्यक्ष नही कराती। शब्दप्रमाण दूसरी चीज है और श्रुतिप्रमाण दूसरी चीज है। शब्द माने क्या ? खट-खट, फट-फट, कट-कट ये शब्द हैं, कानसे सुनायी पडते है। ध्वनिका अनुभव कानसे होता है। ध्वनिकी प्रत्यक्षताका नाम शब्दप्रमाण नही है। हृदयमे जो तदाकार वृत्ति उदय होती है, देश-काल-द्रव्यकी कल्पनासे रहित सजातीय-विजातीय, स्वगत-भेदकी कल्पनासे रहित जो अखण्डार्थ-धीका उदय होता है, उसमें अखण्डार्थका प्रत्यक्ष होते ही धी बाधित हो जाती है। यह अखण्डार्थ-धी ही श्रुतिप्रमाण है। इसलिए अखण्डार्थ-धी व्यक्तित्वका जनक नही है, उल्टे वह व्यक्तित्वका निषेधक है। अतः सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओका निषेध करनेके कारण श्रुति अपरिच्छिन्न वस्तुके साक्षात्कारमे हेतु है।

वक्ता चाहे कोई हो, यदि वह श्रुतिके अनुसार बोलता है तो श्रुति तो हुई स्वत प्रमाण और वक्ता हो गया परत'प्रमाण। इसलिए यास्क भी परत'प्रमाण ही हैं। (यदि वे श्रुतिके अनुसार ही बोले तो छहो भाव विकारोका समावेश 'जन्मादि'मे हो ही गया और यदि अन्तरसे बोले तो श्रुति ही स्वीकार्य है यास्क नही। अत' 'जन्मादि' शब्द श्रुतिके अनुसार जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयका वाचक है।)

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि 'जन्मादि'का अर्थ यास्कमुनि द्वारा कथित छह भाव-विकार मान लिये जायँ तो 'यतः' पदका अर्थ ब्रह्म नही भी हो सकता। क्योकि छह भावविकारोका अधिष्ठान स्वय पञ्चभूत या अहङ्कारका या महत्तत्त्व या प्रकृति कोई भी हो सकता है। ऐसी दशाम जिस जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणका प्रसग है, वह ही समाप्त हो जायेगा। ऐसी सम्भावना न रहे, इसलिए भगवान् शङ्कराचाय इस बातपर जोर देते हैं कि श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका लक्षण यहाँ अभिप्रेत होनेके कारण 'जन्मादि' से यहाँ जगत्की उन्ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे तात्पर्य है जो श्रुतिके अनुसार ब्रह्मसे होते हैं। इसलिए 'जगज्जन्मादि' ब्रह्मका लक्षण सिद्ध है।

यदि 'जगत्का जन्म ब्रह्मसे होता है' केवल इतना ही कहा जाता तो ब्रह्म जगत्का केवल उपादान कारण सिद्ध होता। परन्तु 'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (जिस) ब्रह्मसे होते हैं' ऐसा यहाँ कहा गया है। अत ब्रह्म जगत्का केवल निमित्त-कारण ही नही है उपादान-कारण भी है और केवल उपादान कारण ही नही है निमित्त-कारण भी है। अत. ब्रह्म जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, यह सिद्ध हुआ।

(२. ८)

सृष्टि किससे शक्य नहीं है ?

न यथोक्त विशेषणस्य जगतो यथोक्त विशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनात् अणुभ्योऽभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सभायितुं शक्यम् । न च स्वभावतः विशिष्टदेश-काल-निमित्तानामिहोपादानात् ।

(भाष्य १. १. २.)

अर्थ : पूर्वोक्त विशेषणोसे युक्त जगत्‌की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वरको छोडकर अन्यसे—अचेतन प्रधानसे, परमाणुसे, शून्यसे अथवा संसारी जीवसे, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी सम्भावना शक्य नही है। इसी प्रकार स्वभावसे भी जगत्‌की उत्पत्त्यादि शक्य नही है क्योकि यहाँ विशिष्ट देश, काल और निमित्तका ग्रहण है।

●

श्रुति चेतन ब्रह्मको जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण वताती है। परन्तु चेतनका कारण होना युक्तियुक्त नहीं है। कारण तो वह होता है जो अपनी पूर्वावस्थासे फट करके उत्तरावस्थाके रूपमे आता है। जैसे बीज गीला होता है, फूलता है फटता है और तब अंकुरके रूपमें आता है और तदनन्तर बीजका नाश हो जाता है, वैसे ही यदि बीजकी भाँति ब्रह्मसे जगदंकुरकी सृष्टि होती हो, माने यदि ब्रह्म अपनी पूर्वावस्थाको फोडकर उत्तरावस्थामे आवे तो चेतनके भी नाशका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। परन्तु यह भी पक्का है इस नाम रूपात्मक कर्तृ-भोक्तृसयुक्त देश, काल, क्रिया-फलका आश्रयरूप आश्चर्यमय जगत्के मूलमे यदि कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति चेतन परमेश्वर न हो तो जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी किसी भी प्रकारसे उपपत्ति सम्भव नही है। तव चेतनका जगत्कारणत्व कैसा है ?

[सृष्टिके कारणके सम्बन्धमे बहुत-से विकल्प किये जा सकते हैं। कुछ विकल्प आचार्यश्री स्वय उठाते हैं। जैसे सांख्योका अचेतनप्रधान कारणवाद, नैयायिकोका परमाणुवाद, बौद्धोका शून्यवाद, उपासकोका हिरण्यगर्भवाद और चार्वाकोका स्वभाववाद। परन्तु सृष्टिमे ऐसा नियम और ऐसी व्यवस्था देखनेमे आती है कि जड़से तो उत्पत्ति सम्भव नही हो सकती। काल-कालमे उत्पत्ति, देश-देशमे उत्पत्ति, द्रव्य-द्रव्यमे उत्पत्ति—यह न तो अचेतन प्रधानका कार्य हो सकता है और न अभावरूप शून्यका या किसी परिच्छिन्न ससारी जीवका। निरवयव परमाणुओ-का कार्य भी यह नही हो सकता क्योंकि निरवयव परमाणुओका सयोग किसी प्रकार सम्भव नही है और वे स्वय अनेक तथा जड़ हैं। विशेष शक्तिसम्पन्न किसी जीव (हिरण्यगर्भ)का भी यह कार्य नही हो सकता क्योंकि श्रुति उसकी भी उत्पत्ति बताती है : **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** (श्वेता० ६ १८)। यह जगत् स्वभाव-

से भी उत्पन्न नही हो सकता क्योकि प्रथम तो वह जड़ है और जीवोंके कर्मफलके लिए जिस देश, काल और निमित्तका ग्रहण आवश्यक है वह उसमे शक्य नही है।]

इसलिए वेदान्तियोका यह कहना है कि यह जगत् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति परमेश्वरका ही कार्य है। दो-एक हल्की बाते आपको सुनाता हूँ :

एक सज्जन थे नास्तिक। रोज घरमे उपदेश करते थे कि इस जगत्को किसी ईश्वर-वीश्वरने नही बनाया। अपने आप ही बन गया है। उसी वातावरणमे उनका बेटा बड़ा हुआ। एक दिन बेटाने एक तस्वीर बनायी और मेजपर रख दी और स्वयं कही चला गया। पिताने चित्र देखा। अत्यन्त सुन्दर था वह चित्र। जब पुत्र लौटा तो पिताने पूछा : 'बेटा, यह चित्र किसने बनाया ?'

पुत्र—'पिताजी, अपने आप ही बन गया होगा !'

पिता—'धुत, इतना सुन्दर, इतना व्यवस्थित, इतना कलापूर्ण चित्र अपने आप कैसे बन जायेगा ?'

पुत्र—'पिताजी, आप ही तो कहा करते है कि यह दुनिया जो इतनी सुन्दर, इतनी व्यवस्थित है वह बिना किसीके बनाये ही बन गयी है ! जब इतना छोटा-सा चित्र बिना किसीके बनाये नही बन सकता तो यह सम्पूर्ण कलामय जगत्, आश्चर्यमय जगत् बिना किसीके बनाये कैसे बन सकता है ? आप मुझे इसके बनानेवालेके बारेमे बतायें !'

तो दुनियाका वह कारीगर कौन है ? वेदान्त कहता है कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर है।

कहो कि नहो, वह सांख्योक्त प्रधान (प्रकृति) है जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। **प्रधीयते यस्मिन् इति प्रधानम्।**

जिसमे सब वस्तुएँ रखी जांय वह कहलाता है प्रधान। हमारे गाँवकी तरफ उसे कोठिला बोलते हैं—बड़ा पात्र होता है जिसमें और सब बर्तन रखे जा सकते हैं। उस कोठिलेको प्रधान बोलते हैं। कोठिलेमे रखा हुआ बीज—यह साख्योका प्रधान हुआ। प्रधानसे सृष्टि कैसे हुई ? अयोध्याके एक महात्मा थे। सरयूकी रेतीमे रहते थे। बडे चमत्कारी थे महाराज। अठारहो पुराण उन्हे कठस्थ थे। उन्होने बताया था कि जैसे एक बडे पतीला (कोठिला) मे छोटा पतीला और फिर उसमे एक छोटा पतीला और फिर उसमे एक छोटा पतीला और फिर उसमे एक छोटा पतीला रख दिया जाय—उसी प्रकार प्रधानमे महत्तत्त्व, महतत्त्वमे अहकार, अहकारमे महाभूत रखे हैं। अब यदि प्रधान (पतीला) को लेना हो तो पहिले सबसे छोटे पतीलाको फिर उससे बडे पतीलाको फिर उससे बडे पतीलाको क्रमसे बाहर निकालना पडेगा तब प्रधान मिलेगा। जब पहिले एकका दूसरेमे निधान किया जाता है तब उल्टे-क्रमसे उस प्रधानको प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु रखना या निकालना किसी दूसरे चेतनके द्वारा होगा। जड़ प्रधानमे स्वयं यह शक्ति नहीं है। अत. प्रधानसे सृष्टि शक्य नही है। हमारे जीवनमे जो ज्ञान, क्रिया और द्रव्य है उसके मूलके रूपमे साख्यने सत्-रज-तमवाली त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी स्थापना-की है, परन्तु वेदान्तमे इनकी सगति सच्चिदानन्दके विवर्तरूपमें लगायी जाती है जिससे अद्वैतकी कोई हानि नही होती।

इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरके अतिरिक्त इस सृष्टिको बनानेवाला कोई अन्य नही प्राप्त होता।

सर्वज्ञमे जो 'सर्व' है वह उपादानका सूचक है और 'ज्ञ'

निमित्तका। अतः जो सर्वज्ञ है वही इस जगत्की माटी भी है और वही कुम्हार भी है। सर्वज्ञ अर्थात् जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म।

'ज्ञ' = बनानेवाला सङ्कल्पी, ज्ञाता, और जो बना सो सर्व। दोनो एक हैं यह सर्वज्ञ शब्द सूचित करता है।

'ज्ञ' सर्वको जानता है। 'ज्ञ' अंश अपरिवर्ती है और सर्व अंशमे परिवर्तन है; और दोनो एक है। 'ज्ञ' का कार्य सर्व है या 'ज्ञ' का विवर्त्त सर्व है? माने 'ज्ञ'का परिणाम सर्व है (जैसे दूधसे दही) या 'ज्ञ' ज्यों-का-त्यो रहकर ही सर्व प्रतीत होता है? ज्ञानमे परिणाम सम्भव न होनेके कारण जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वरूप है और जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वका ज्ञाता भी है, वह वस्तुत· अद्वय ब्रह्म ही है। यही सर्वज्ञ पदका अर्थ है। अतः सर्वज्ञ=सर्वका विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म।

न्यायनिर्णयकारने बताया कि 'सर्वज्ञ' शब्दके दो अर्थ हैं— अद्वितीयत्व तथा सच्चिदात्मक। विवर्ती अधिष्ठान होनेसे सर्वज्ञका अर्थ अद्वितीयत्व होता है और सर्वका मूल सत् तथा 'ज्ञ' का मूल चित् होनेसे सर्वज्ञ सच्चिदात्मक है। अबाध सत्ता और स्वयं प्रकाश सर्वविभासकता, यही ज्ञानका अर्थ है। अपरिणामी अबाधित सत्ता होना, यह सत् है। अतः सर्वज्ञका अर्थ है · अबाधित्त अद्वितीय अपरिणामी चिदात्मक सत्ता।

आत्मसत्ता और सर्वज्ञ ईश्वर सत्तामे क्या भेद है? 'तत्' उस देशमे है, 'त्वम्' इस देशमे है। 'तत्' उस कालमे है और 'त्वम्' इस कालमे है। तत्-पदार्थ (ईश्वर सत्ता) और त्वम्-पदार्थ (आत्म सत्ता) की एकतामे व्यवधान जो देश, काल और द्रव्य है उसका निषेध करनेमे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योका उपयोग है। देश-काल-द्रव्यके अभावसे उपलक्षित जो चिन्मात्र वस्तु है

उसका ऐक्य वेदान्त-प्रतिपादित है। तत्के शोधनमे सर्वज्ञ, सर्वशक्ति आदि पदोका उपयोग है और त्वम्के शोधनमें अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता आदि शब्दोका उपयोग है, और तत्त्वमसि दोनोके ऐक्यके व्यवधानका निषेधक है।

विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमे ही परमात्मा सर्वज्ञ होता है। क्योकि जो परिणामी होगा वह 'ज्ञ' = ज्ञान ही नही होगा और जो ज्ञान स्वरूप होगा वह परिणामी नही होगा। फिर भी यदि सर्वरूपसे परिणाम प्रतीत होता है तो वह प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नही है। यह सर्वज्ञ शब्दका एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वर सर्वज्ञ है और त्वं-पदवाच्यार्थ जीव अल्पज्ञ है और उनकी उपाधिके निषेधावधिके रूपमे, उनके अभावसे उपलक्षित जो चिन्मात्र वस्तु है वह ब्रह्म है और वही सर्वज्ञ पदका अर्थ है।

अब थोडा 'सर्वशक्ति' शब्दपर विचार करते हैं। सर्वशक्तिका अर्थ है सर्व-भवन-योग्यता। सब हो सकनेकी योग्यता। जैसे, बिजली एक शक्ति है। उसमे चुम्बकीय शक्ति भी है, गरम करनेकी शक्ति है, ठडा करनेकी, रोशनी करनेकी, जलानेकी, इत्यादि बहुत-सी शक्तियाँ है। शक्ति कार्यानुमेय होती है अर्थात् कार्यके अनुसार शक्तिकी कल्पना कर ली जाती है। परमात्मामे सर्वशक्ति होनेका क्या अर्थ है? जडमे शक्ति और ज्ञानमे शक्ति इन दोनोमे अन्तर होता है। जड़मे शक्ति परतन्त्र होती है और ज्ञानमे शक्ति स्वतन्त्र होती है। स्वतन्त्रताका अर्थ है—'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'-का सामर्थ्य। करना, न करना, उल्टा करना, यह चेतनका सामर्थ्य है। और जड़मे जो शक्ति होती है वह एक बँधे नियमके अनुसार ही कार्य करती है। अतः जब हम ज्ञानस्वरूप परमात्मा-को सर्वशक्ति कहते हैं तो इसका मतलब है कि परमात्मा बिलकुल स्वतन्त्र है।

सर्वोपादान होनेसे ब्रह्म सर्वरूप है, ज्ञानरूप चेतन होनेसे वह अपरिणामी विवर्ती अधिष्ठान है और सर्वशक्ति होनेसे वह स्वतन्त्र, परमानन्द-स्वरूप है। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति कहनेका अभिप्राय ईश्वरको सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म बताना है।

कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृहदा० ४. ५. १३)

श्रुति कहती है कि यह सब प्रज्ञानघन ही है।

आह च तन्मात्रम् (ब्रह्मसूत्र ३ २.१६)

—यह सूत्र भी इसी बातको कहता है।

एक महात्मा थे। उनका नाम था ठसाठस। ठसाठस माने जिसमे किसीके घुसनेका अवकाश ही न हो। जो देश और कालमें भरा हो सो ठसाठस नहीं। जिसमे देश-कालके लिए भी अवकाश नही। ऐसा प्रज्ञानघन वाची नाम था उनका। आपने पहिचाना वे महात्मा कौन है? सबका अपना आपा ही—यह आत्मदेव ही, वह महात्मा हैं।

जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, चेतन परमेश्वर इस जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है, वह विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेसे आत्माभिन्न है और जगत् उससे भिन्न नही है। •

(२. ६)

अनुमान एवं श्रुति प्रमाण

एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादि-साधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादि सूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधिप्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। यथा हि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृहदा० २.४.५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६.१४.२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। (भाष्य १.१,२)

अर्थ : ईश्वरको जगत्का कारण माननेवाले (नैयायिक) इसी अनुमानको ससारी जीवसे अलग ईश्वरके अस्तित्व आदिकी सिद्धिमे साधन मानते हैं। तो क्या इस जन्मादि सूत्रमे इसी अनुमानका उपन्यास किया गया है ? नही, क्योकि सूत्र तो वेदान्तवाक्यरूपी पुष्पोको गूँथनेके लिए है। सूत्रो द्वारा वेदान्त-वाक्योका उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ-विचारके द्वारा निश्चित तात्पर्यसे ब्रह्मावगति होती है, अनुमान आदि अन्य प्रमाणोसे नही। जगत्के जन्मादिके कारणका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तवाक्योके विद्यमान होनेपर उनके अर्थकी दृढताके लिए वेदान्तवाक्योका अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण होता हो, तो उसका निवारण नही किया जाता। क्योकि श्रुतिने ही सहायकरूपसे तर्क-अनुमानको स्वीकार किया है। जैसे **आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्य.** यह श्रुति है (आत्माका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) तथा 'पण्डितो-मेधावी०' जैसे पण्डित और मेधावी गान्धारदेशको प्राप्त करता है वैसे ही आचार्यवान् पुरुष सत्को जानता है, यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष बुद्धिको सहायक दिखलाती है। •

जगत्का जितना विचार करोगे वहाँतक वुद्धि जिन्दा रहेगी। इसलिए यदि कोई दावा करे कि हमने विचारसे सृष्टिको जान लिया है, उसके सारे रहस्यको पा लिया है तो वह कल्पना केवल अभिमानमे ही होगी।

पिताको जन्म कूँ जाने पूत !

बुद्धिका जो आश्रय है, बुद्धिका जो प्रकाशक है, उसको वुद्धि कभी देख नही सकेगी ! इसलिए बुद्धिका जो विषय होगा वह जगत् ही होगा, जगत्का समूचा रहस्य नही होगा। और इसलिए यदि कोई भी व्यक्ति यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र या समाधि या विज्ञानका नाम

ले करके यह दावा करता है कि उसने जगत्‌के रहस्यको जान लिया है, तो वह झूठ ही बोलता है।

सबके अन्तरमे जो निरन्तर है उसको पहिचाननेके लिए महापुरुषकी शरण ही एकमात्र उपाय है। महापुरुषकी कसौटी क्या है? जो आत्मा और परमात्माकी एकताको नही बताता वह या तो जान-बूझकर छिपाता है या वह स्वय अज्ञानी है। यह श्रुतिसविधान ही महापुरुषकी कसौटी है।

मूर्खोकी महापुरुषके बारेमे कसौटी दूसरी है—वे तो बाल, चमडा, आयु, आश्रम, रुपयाको ही महापुरुषकी कसौटी मानते हैं। एक गुरु, चेलामे हुई लड़ाई। गुरु थे २५ बरसके और चेला जी थे २० बरसके। खूब द्वन्द्व हुआ दोनोमे। पञ्चायत हुई। अन्तमे मेरे पास पचायत आयी। मैंने चेलासे पूछा: क्यो भाई! इतने बडे-बड़े महात्मा हैं वृन्दावनमे, श्री हरिबाबाजी महाराज है, श्री श्रीआनन्द-मयी माँ हैं, उन सबको छोडकर तुमने इनको ही गुरु क्यो बनाया? उसने कहा. "स्वामीजो, हमने तो सोचा था कि ये सब बडे-बड़े महात्मा तो बुड्ढे हो चले, जल्दी मर जायेंगे। और ये जवान थे इसलिए अधिक समयतक हमारे आँख, नाक, कानकी तृप्ति होगी—इस ख्यालसे हमने इनको गुरु बनाया था।"

जो बताते हैं कि ईश्वर उधर ही है वे श्रुतिके विपरीत बताते है। ईश्वर इधर नही है तो क्या ईश्वर देशमे सीमित हो गया? यदि यहाँवाले ईश्वरको ही नही पहिचानते तो वहाँ पहुँचकर भी वहाँवाले ईश्वरको कैसे पहिचानेंगे? जो बताते है ईश्वर अब नही है, महाप्रलयमे है, अथवा जगत्‌की आदिमे है, वे भी श्रुतिके विपरीत बताते हैं। महाप्रलयमे क्या ईश्वर पैदा होगा जो अब नही है? या सृष्टिकी आदिमे जो ईश्वर था वह अब मर गया? श्रुति बताती है कि ईश्वर अभी है, यही है और प्रत्येक नामरूपमें

वह प्रकट है। वह चिन्मात्र ईश्वर तुम्हारी आत्मासे अभिन्न है और तुम ईश्वरसे अभिन्न हो। तुम और ईश्वर—एक ही वस्तुके दो नाम है। इसलिए जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका प्रत्यक्ष करा दे, सो महापुरुष है।

तो महापुरुष ऐसे ईश्वरका साक्षात्कार कराते हैं जो तुमसे एक है, जगत्से एक है और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका अधिष्ठान एवं साक्षी है। ऐसा ईश्वर किस प्रमाणका विषय है?

नैयायिक लोग जगत्को देख करके, माने कार्यको देख करके, कार्यकी विचित्रताको देख करके और प्रत्यक्ष वस्तुओंमें कार्य-कारणका व्यवहार देख करके इस जगत्के निमित्त कारण एक सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरका अनुमान करते है, जो चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, संसारी, परतन्त्र जीवसे नितान्त भिन्न है।

न्यायशास्त्रमें—सेश्वरन्यायमे और निरीश्वरन्यायमें भी—तर्क ही मुख्य मन्त्र है। परन्तु एक बात है कि मनुष्यका मन ईश्वरके बिना ठहर नही सकता : 'बिनु देखे रघुबीर पद जियकी जरनि न जाय!' मौत सिरपर सवार है। रोग शरीरमे घुसे हुए हैं। भविष्यका भय लगा है, भूतका शोक सन्तप्त कर रहा है और वर्तमानमे मोहसे बँधा है। ईश्वरको नहीं मानोगे तो सन्तुष्ट जीवन एक क्षणके लिए भी नहीं बिता सकते। इसलिए जो लोग मुँहसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नही करते, वे भी प्रकारान्तरसे किसी-न-किसी प्रकारसे ईश्वरको स्वीकार करते ही हैं।

डॉ० नगेन्द्र रूस गये। उन्होने देखा कि लेनिनके मौसोलियम (कब्र) पर एक लम्बी क्यू लगी हुई है लोगोकी, चुपचाप, गुम-सुम, अपने-अपने नम्बरकी प्रतीक्षामे जब वे लेनिनकी समाधिका दर्शन करेंगे और अपनी श्रद्धा प्रकट करेंगे। हमने जब यह वर्णन

पढा तो कहा कि एक मरे हुए व्यक्तिकी समाधिके दर्शनके लिए इतनी श्रद्धा और इतना इतिकृत्य (एटीकेट)—यह ईश्वर-पूजा भले ही न हो, भूत-पूजा तो है ही। असलमे अगर मनुष्यकी श्रद्धा श्रेष्ठपर नही गिरेगी तो कनिष्ठपर गिरेगी ही। मनुष्यका यह स्वभाव ही है।

जिनके जीवनमे विवेक नही है, वे सौ-सौबार नीचे गिरते चले जाते है। ईश्वरमे श्रद्धा नही करोगे तो भूतपर श्रद्धा करोगे, पर श्रद्धा करनी पडेगी। इसलिए उस जगत्स्रष्टा, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरपर श्रद्धा करो न !

जगत् है, इसलिए इसका रचयिता भी है। जगत्-रचना अचिन्त्य है, सृष्टिमे नियम है, व्यवस्था है इसलिए कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर होना चाहिए। यह अनुमान है। यह अनुमान भी यदि ईश्वरके निकट ले जाये, ऊपर उठाये, अन्तर्मुख बनाये, आपके जीवनमे सदाचार-सद्गुणका सन्निधान करे, आपकी बुद्धिको अनेकसे एकमे ले जाये, जड़से चेतनमे ले जाय, भेदसे अभेदमें ले जाय, तो वह अनुमान भी श्रुति-सविधानके अनुसारी होनेसे स्वीकार्य है।

लोग कहते हैं कि ब्रह्मका जो लक्षण किया गया, 'जन्माद्यस्य यत' वह भी एक अनुमान ही है। ऐसा नही हैं। हमलोग (वेदान्ती) ईश्वरको अनुमान-सिद्ध नही मानते। क्योकि अनुमानसे तो ईश्वर या तो परोक्ष होगा या कल्पित। वेदान्त ईश्वरको प्रत्यक्ष मानता है, परन्तु वह प्रत्यक्ष ऐसा नही है कि जैसे आँखसे हम घडीको देखते हैं। ऐसा ईश्वर होता तो अन्धेको ईश्वर कैसे दीखता ? फिर कैसा प्रत्यक्ष मानते है ईश्वरको ? जैसे मैंको मैंका प्रत्यक्ष विना आँखके है, ऐसे ही ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है—विना

इन्द्रियोके। वेदान्तमे ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ईश्वर ये सब प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु है।

एक आदमीने घड़ी शब्द सुना है, घडी वस्तु देखी भी है, लेकिन घडी शब्दका यही घडी वस्तु है—यह वाक्यार्थ ज्ञान नही है। घड़ीपद ज्ञात है किन्तु पदका अर्थके साथ सम्बन्धका ज्ञान नही है। अब किसीने बताया कि 'यह घडी है' माने घडीपदका यह अर्थ है और घडी अर्थका यह पद है तो बतानेके साथ ही उसे घडी पदार्थका ज्ञान हो जायेगा। वाक्य (यह घडी है)से जब घडी लखायेंगे तब घड़ीका प्रत्यक्ष होगा या अनुमान? प्रत्यक्ष ही होगा अनुमान नही।

यह जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधक वाक्य हैं (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि) वे ब्रह्मके बारेमे विश्वास दिलानेके लिए नही है। विश्वाससे तो असत्त्वापादक आवरणकी निवृत्ति भी नही होती। आप विश्वास करो कि ईश्वर है तो क्या उस विश्वाससे बुद्धिमें जो ईश्वरके प्रति यह आवरण है कि ईश्वर नही है, वह हट जायेगा? वेदान्त-सिद्धान्त है यह कि बिना परोक्षज्ञानके असत्त्वापादक आवरणका भङ्ग नही होता और बिना अपरोक्षज्ञानके अभानापादक आवरणका भङ्ग नही होता। वाक्यके द्वारा ही अभानापादक आवरण मिट जाता है और ईश्वर प्रत्यक्ष हो जाता है।

ईश्वरके बारेमे केवल अनुमानको या परोक्षता-बोधक वेदान्त वचनोको ही प्रमाण नही मानते। मात्र विश्वास और श्रद्धासे सशय केवल दबता है। केवल परोक्षज्ञानसे असत्त्वापादक आवरण भङ्ग होता है। अपरोक्षज्ञानसे अभानापादक आवरण भङ्ग होता है। वेदान्त जो चर्चा करता है वह ईश्वरका अनुमान करानेवाला नही होता। आत्मा तो पहिलेसे ही प्रत्यक्ष है। परन्तु यही आत्मा देश-

काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह ज्ञान वाक्यके प्रयोगसे होता है। वाक्य आत्माके प्रत्यक्षके लिए नही होता, आत्मा तो प्रत्यक्ष है ही; वाक्य आत्माकी अखण्डताकी प्रत्यक्षताके लिए होता है। श्रुति (वेदान्त) युक्ति नही है, श्रुति या अनुमान नही है, बल्कि एक अशमे जो प्रत्यक्ष आत्म-वस्तु है, उसे सर्वांशमे प्रत्यक्ष करानेके लिए श्रुति-वाक्योका सार्थक्य है।

ससारसे परे जो ईश्वर है उसे अनुमानसे सिद्ध करनेवाले न्याय वैशेषिक दूसरे हैं और श्रुति-वाक्योका ईश्वरको आत्मरूपमे लखानेवाले वाक्योका, विचार करनेवाले वेदान्ती दूसरे हैं।

प्रश्न : यदि 'जन्माद्यस्य यत' मे भी अनुमान हो तो ?

उत्तर : नही। यह तो श्रुति-प्रमाण 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्-विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'के अनुसार ब्रह्मका लक्षण है। वेदान्त-वाक्यरूपी पुष्पोको गूथनेके लिए ब्रह्मसूत्र हैं न कि स्वतन्त्र अनुमानके लिए। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। ब्रह्म-सूत्रमे श्रुति-वाक्योका उदाहरण देकर विचार किया जाता है। आत्माकी ब्रह्मताका जो बोध है वह अनुमान-आदि किसी अन्य प्रमाणका विषय नहीं है। वह तो केवल वाक्यार्थ-विचारके द्वारा ही होता है :

वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः नानु-मानादिप्रमाणान्तर निर्वृत्ता।

ब्रह्म कोई ऐन्द्रियक वस्तु नही है कि उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियादिसे हो सके। फिर लिंगके अभावमे और अन्तत. प्रत्यक्ष न होनेकी दशामे अनुमान तो प्रमाण न होकर अनुमानाभास ही रह जायेगा न ! प्रत्यक्ष अग्निके लिंग धूमको देखकर अग्निका अनुमान तो हो सकता है परन्तु यावत् अग्निका प्रत्यक्ष न हो जाय तावत् वह

प्रमाणकी कोटिमें नही आता। इस प्रकार ऐन्द्रियक प्रत्यक्षमें अनुमान हेतु हो सकता है परन्तु अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्मके बोधमें अनुमान हेतु नही है। इसलिए ईश्वरकी सिद्धिमे अनुमान हेतु नही है। यह जो अपना आत्मा है सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, प्रत्यगात्मा, इसी अपरोक्ष वस्तुको ब्रह्मरूप बोध करानेके लिए समस्त वेदान्त-वाक्योंकी योजना है।

प्रश्न : तो फिर युक्ति, तर्क, अनुमान सबको छोड़ ही दे ?

उत्तर : नही। वेदान्त युक्ति, तर्क, अनुमान आदिका निषेध भी नही करता। परन्तु उनको श्रुत्यर्थमे सहायक होना चाहिए, विरोधी नही होना चाहिए।

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मकारणवादिषु तदर्थग्रहण दार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते। श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्।

श्रुतिमे 'जगज्जन्मादि ब्रह्मसे होते हैं' ऐसे वाक्य विद्यमान हैं। उस विद्यमान अर्थको पुष्ट करनेमे जो भी अनुमान या तर्क सहायक होते हो और उससे विरोध उपस्थित न करते हो वे वाक्य-विचारमें उपयोगी है। उनका निवारण नही किया जाता। श्रुति स्वय तर्क और अनुमानको सहायकके रूपमे स्वीकार करती है। (इसके उदाहरण अभी आगे देंगे)।

युक्ति-तर्कके बारेमे भी किंचित् विचार अपेक्षित है।

एक महात्मा कहते है : 'पाषाणखण्डेऽपि रत्नबुद्धि'।' पत्थरके टुकडोको लोग रत्न समझते हैं। जो खून-मासका लोथड़ा है उसको कहते हैं स्त्री उसको कहते हैं पुरुष! कफ-बात-पित्तसे बने हुए इस मुर्देको लोग आत्मा समझते है। मोहकी यह कोई ऐसी लीला हो रही है कि जो सबपर छायी हुई है। असत्को सत् समझ

लेना, अज्ञानको ज्ञान समझ लेना, दु:खको सुख समझ लेना, जो स्वप्नरूपसे अनेक भासता है उसको आत्मा समझ लेना—यह मोहकी लीला है। किसीको पता नही रहता कि जिन्दगी भरकी कमाई कहाँ जायेगी, परन्तु संग्रहमे कितना प्रेम होता है। सबको पता रहता है कि भोगमे रोग रहता है परन्तु सब भोगमे जुटे हैं! और तारीफकी बात यह है कि ऐसे लोग ही अधिकतर स्वच्छन्द तर्कके पक्षपाती होते हैं! पहिले अपने जीवनको युक्तियुक्त बनाओ तब परमार्थ-प्रसंगमे युक्तिकी बात समझमे आयेगी।

युक्तियुक्त जीवन माने अन्वय व्यतिरेकी जीवन। अर्थात् इस ज्ञानसे युक्त जीवन कि क्या करनेसे क्या होगा और क्या न करनेसे क्या नही होगा। ससारमे जितने भी कर्म हैं उनको अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ, भोजन करनेसे शरीरमे शक्ति रहती है और न करनेसे नही रहती, इसलिए भोजन करना चाहिए। भोग-विलास न करनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और भोग-विलास करनेसे शरीरमे रोग आता है, इसलिए भोग-विलास नही करना चाहिए। इत्यादि।

वाचस्पति मिश्रने भामतीमे कहा कि मनुष्यको अपना व्यवहार अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे विचार करके करना चाहिए। विचार-पूर्वक सग्रह, विचारपूर्वक कर्म, विचारपूर्वक भोग! और ब्रह्म-ज्ञानीको भी अपना व्यवहार अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक ही करना चाहिए। युक्तिकी तो बड़ी महिमा है और वेदान्त भी युक्तिकी महिमाको नजरन्दाज नही करता।

सस्कृतमें एक श्लोक प्रचलित है:

> युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
> [1]अश्रद्धेयमयुक्तं तु अप्युक्तं पद्मजन्मना॥

---

१. अन्यत् तृणमिवत्याज्यमप्युक्त—(पाठान्तर)।

यदि एक बालकके मुँहसे भी युक्तियुक्त वचन निकले तो उसको भी ग्रहण करना चाहिए और युक्तिविरुद्ध स्वयं ब्रह्मा भी बोले तो भी उसे स्वीकार नही करना चाहिए, वह तृणके समान त्याग देने योग्य है।

आर्षधर्मोपदेशका निर्णय भी युक्तिपूर्वक ही करना च हिए।

तो क्या सृष्टिके कारणत्वमें अथवा तल्लक्षित ब्रह्मतत्त्वमें भी युक्ति ही प्रमाण है ? हमारा युक्तिसे कोई विरोध नही है :

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनु० १२ १०६)

हमारा तो तर्कशास्त्र ही है जिसमे प्रतिज्ञा (लक्ष्य, साध्य), हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमनके द्वारा निर्णय किया जाता है। परन्तु युक्तिकी एक मर्यादा भी होती है। यदि युक्तिकी मर्यादा नही समझोगे तो अमर्यादित युक्ति भी युक्तिविरुद्ध हो जायेगी।

शायद सन् १९३५-३६की बात है। बम्बईसे एक मारवाड़ी सज्जनकी बरात दिल्ली गयी। हम भी उस बरातमे गये थे। पहिले रतनगढसे बम्बई आये और फिर बम्बईसे बरातमे दिल्ली गये। लडके (वर)के हाथमे कोई ३००० रु० के मूल्यकी अगूठी थी। वह स्नान करने बाथरूममे गया तो अगूठी वही उतार-कर रख दी और चलते समय उसे उठाना भूल गया। किसीने वह अगूठी उठा ली। अब हल्ला मचा कि अंगूठी चोरी हो गयी। सब लोग काँपे कि न जाने किसको चोरी लगे ! हम लोगोमे एक बुद्धिमान् सज्जन भी ठहरे हुए थे। बोले : ठहरो, हमे एक युक्ति मालूम है जिससे चोरका पता लग जायेगा। हम लोग पाँच सात आदमी ही तो यहाँ ऊपर ठहरे हैं। अगूठी तो यही होनी चाहिए।

उन्होने जितने व्यक्ति थे उतनी ही सीक बराबर कैंचीसे काटे और सबको एक-एक सीक देकर ध्यान करने लगे। ध्यानके बाद कहने लगे कि जो चोर होगा उसकी सीक दो अगुल बढ जायेगी। कुछ समय बाद सबकी सीक इकट्ठी की गयी तो एक सज्जनकी सीक दो अगुल छोटी मिली। असलमे वही चोर थे। सीक बढने-के डरसे उन्होने अपनी सीक दो अंगुल काट दी थी। पकडे गये। बादमे उन्होने बताया कि दो सौ रुपये मे उन्होने उस अंगूठीको बेच दिया था। जाकर वह अगूठी छुड़ा ली गयी। यह अपराधी-मनोवृत्तिकी युक्तिका उदाहरण था। परन्तु युक्ति सदैव ऐन्द्रियक अनुभूतिके विषयमे ही काम देती है, अतीन्द्रिय वस्तुकी अनुभूतिके विषयमे नही।

ब्रह्मानुभूति असलमें क्या है कि अनात्माकारितासे वर्जित और शान्त अन्त करण जो है वह स्वयंको अपने अधिष्ठान और प्रकाशकसे जुदा नही दिखाता। यह 'त्वम्' पदार्थ है। यह ठीक है कि उस समय सारी वृत्तियाँ शान्त हैं और अपने अधिष्ठानसे अन्यता भी नही दिखा रहा है। परन्तु फिर भी यही जो शान्त स्वयंप्रकाश, अधिष्ठान-स्वरूप त्वम्-पदार्थ है वही अद्वितीय ब्रह्म है ('तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंका लक्ष्य) इस ज्ञानके लिए, इस यथार्थ अनुभूतिके लिए, एक प्रमाणजन्य प्रमावृत्तिके उदयकी आवश्यकता रहती है। वह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि नही हो सकते क्योकि प्रमाण तो वहाँ वह वाक्य होगा जो उस शान्त अन्त करणके स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको अद्वितीय ब्रह्म बतावे। अतएव महावाक्यजन्य प्रमाकी उत्पत्ति हो वहाँ एक मात्र उपाय है, दूसरी कोई युक्ति नही है, नही तो वह केवल आत्मस्थिति होगी, शान्ति होगी, ब्रह्मानुभूति नही। यह वेदान्तकी डौंडी है, डिण्डिमघोष है। 'इति वेदान्त-डिण्डिमः'।

वेदान्तमे युक्ति, तर्क, अनुमान आदिकी उपेक्षा नही है, परन्तु वे लक्ष्यानुसारी होने चाहिए। लक्ष्य है : आत्माके ब्रह्मत्वका बोध और वह यथार्थमे केवल महावाक्यजन्य प्रमाके द्वारा ही प्राप्त होता है। उस तत्त्वमस्यादि महावाक्यकी दृढ धारणामे जहाँ तक युक्ति, तर्क, अनुमान आदि सहायक है, वहाँतक वे स्वीकार्य हैं। उच्छृङ्खल तर्क-युक्ति दिशाहीन है और श्रुतिप्रतिपाद्य लक्ष्यकी दिशामे कार्यान्वित युक्ति-तर्क सहकारी होकर अन्तमे ब्रह्मावगति होकर रहती है। इसलिए श्रुति कहती है :

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।

(बृहदा० २.४५)

अरे ओ जीव! विधिपूर्वक माने शुद्धान्त:करणसे सद्‌गुरुके श्रीमुखसे आत्माका श्रवण करो। त्वम्-पदार्थका विवेक करो कि आत्मा क्या है! तत्-पदार्थका विवेक करो कि परमात्मा क्या है! तो जो देश, काल, द्रव्यका अधिष्ठान है, वह सर्वज्ञ परमात्मा है और जो देश, काल, वस्तुका ज्ञाता है, वह आत्मा है। ज्ञाता और सर्वज्ञमे कहाँ अन्तर है, यह मनन करो! यह अन्तर क्या मिलेगा कि 'अल्प' और 'सर्व' इन उपाधियोका ही मात्र अन्तर है; अथवा केवल अविद्या और मायाका अन्तर है अथवा केवल अन्त करण (कार्य) और माया (कारण) का अन्तर है; अथवा व्यष्टि और समष्टिका अन्तर है। परन्तु स्वयप्रकाश परमात्मामे किसी प्रकारका भेद नही हो सकता। 'त्व'-पदार्थगत 'ज्ञान' और 'तत्'पदार्थगत 'ज्ञान' एक ही है—यह प्रमा महावाक्य 'तत्त्वमसि'से तुरन्त उत्पन्न होकर अपने ब्रह्मत्वका साक्षात् अनुभव होता है। यदि कुछ विपर्यय होता हो तो इसी विविक्तबोधस्वरूप-मे अपनी वृत्तिकी एकतानतारूप समाधि अर्थात् निदिध्यासन करो। ब्रह्मावगति होगी और अवश्य होगी।

ब्रह्मावगति लक्ष्य है, आत्मावगति नही। क्योकि आत्मा तो आत्माशमे (मैं रूपमे) नित्य अवगत है ही, उसकी ब्रह्माशमे ही अनवगतता है। इसलिए '**ब्रह्मावगतिः हि पुरुषार्थः**'।

तो फिर युक्तिमे और प्रमाणजन्य प्रमामे क्या सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि महावाक्य सुननेके बाद भी यदि किसीके मनमें सशय हो तो उसे मनन करनेको जरूरत है। यदि विपर्यय (विपरीत बुद्धि) होता हो तो निदिध्यासन करनेको भी आवश्यकता है। परन्तु यदि सशय और विपर्यय न होते हो तो श्रवणमात्रसे ही महावाक्यजन्यप्रमा उत्पन्न होकर अविद्याका नाश हो जायेगी और ब्रह्मावगति हो जायेगी, ठीक वैसे ही जैसे 'दशमस्त्वमसि' (तुम दसवाँ मनुष्य हो) वाले दृष्टान्तमे होता है।

दश मनुष्य नदीको तैरकर पार पहुँचे। कही कोई वह न गया हो इसलिए गिनने लगे। परन्तु प्रत्येक अपने आपको छोड़कर गिने। गिनती तो नौ आनी ही थी। सबने गिना और सबने मान लिया कि दशवाँ वह गया। रोने लगे कि हाय दशवाँ बह गया। एक बुद्धिमान् मनुष्य उधरसे निकला। उनके रोनेके कारणको जाना और उसने सबको गिना। दश तो वहाँ थे ही। अब उनकी भूल उसकी समझमे आगयी। उसने बारी-बारीसे प्रत्येकको शेष नौसे अलग किया और उस दशवेंको चपत मारकर बताया कि 'दशवाँ तू है।' वास्तवमे प्रत्येक ही दशवाँ था। अत सबको समझमे आगया। दशवाँ अपरोक्ष होते हुए भी परोक्ष हो रहा था। यह भ्रम 'वह दशवाँ तू है' इस वाक्यज्ञानसे निवृत्त हो गया। इसी प्रकार आत्मा अपरोक्ष होते हुए भी उसकी ब्रह्मता (यहाँ दशमता) परोक्ष हो रही है जो समस्त अनर्थोका मूल है। यह भ्रम 'वह तू है—तत्त्वमसि' इस वाक्यज्ञानसे तुरन्त निवृत्त हो जाता है।

वेदान्त-विचारके लिए जगज्जन्मादि लक्षणको यदि अनुमान मानकर भी विचार किया जाय तो यह महावाक्यार्थ शोधनमें उपयोगी होनेके कारण उसको रोकनेकी जरूरत नही है। क्योकि वाक्यके मददगारके रूपमे वेदान्तने तर्कका उपयोग किया है। कैसे?

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक· क्षीयते
(छा० ८.१ ६)

यह श्रुति कहती है कि 'जैसे यहाँ लौकिक कर्मोंसे सम्पादित फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही वैदिक पुण्यकर्मोका स्वर्गादि फल भी क्षीण हो जाता है।' यह स्पष्टत· युक्तिका प्रयोग है।

दूसरा उदाहरण देते है कि **आचार्यवान् पुरुषो वेद** (छा०६.१४.२) आचार्यवान् पुरुष ही अर्थात् श्रुतज्ञानसे ही पुरुष ब्रह्मको जानता है। यह श्रुतिवाक्य है। इसको सिद्ध करनेके लिए श्रुति एक दृष्टान्तरूप युक्ति देती है। क्या?

पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्यते तैवमेवेह आचार्यवान् पुरुषो वेद। (छान्दोग्य, वही)।

एक आदमीको डाकू लोग आँख बन्द करके घोर जंगलमे ले गये। लूटलाट करके उसको वही छोड दिया। उसके हाथ पाँव बँधे हुए थे : न तो वह चल सकता था और न उसे अपने देश गन्धार प्रदेशका रास्ता ही मालूम था। उधरसे कोई दयालु पुरुष निकले। उन्होंने उसके हाथ पाँव खोले। गन्धार देशका रास्ता बताया और मार्गके चिह्न कुआँ, बगीचा इत्यादि भी बताये। अब उसके बताये हुए निर्देशके अनुसार वह पण्डित और मेधावी व्यक्ति चल पडा और अन्तमे गन्धार पहुँच गया। इसी प्रकार यह जो अज्ञान है, काम है, क्रोध है, लोभ है, राग है

द्वेष है, इन डाकुओने जीवात्माको लूटकर इस भवाटवीमें छोड़ दिया है। जब कोई दयालु आचार्य आकर श्रुति-सम्मत अपने देश, (ब्रह्मदेश) के मार्गका निर्देश करते हैं तो वह जीव भी निश्चित अपने लक्ष्यको जान जाता है, प्राप्त कर लेता है। यह भी युक्तिका प्रयोग करके ही श्रुति समझा रही है।

उपर्युक्त मन्त्रमे पण्डित और मेधावी दो शब्द आये हैं। 'सद-सत्विवेकिनी बुद्धि पण्डा'। 'धी धारणावती मेधा'। जिसकी बुद्धि सद् और असत्का विवेक कर सके वह पण्डित है और जिसकी बुद्धि सुने हुएको धारण कर सके वह मेधावी है। परमार्थके मार्गमे पण्डित ही गुरुके पास जाता है और मेधावी ही गुरुसे प्राप्त ज्ञानके अनुसार चलकर ब्रह्मावगति प्राप्त करता है।

गुरु जब समझा देता है कि 'तू अन्नमयकोश नही है, प्राणमय-कोश नही है, मनोमयकोश नही है, विज्ञानमयकोश नही है, आनन्दमयकोश नही है, तू तो इन सबका साक्षी है, माने तू तो देश-काल-वस्तुका और उनकी कल्पनाका साक्षी है, तो अब बता कि तेरा देखा जानेवाला काल क्या तुझे काट सकता है? तेरा देखा जानेवाला दृश्य क्या तुझे परिच्छिन्न बना सकता है? क्या आश्रित स्वय अपने आश्रयका प्रतियोगी हो सकता है? तुम स्वयं-प्रकाश आत्मा सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हो और यह जितना अनात्माकार द्वैताकार प्रपञ्च तुममे भास रहा है वह सब अध्यस्त है।'

इस प्रकार श्रुति स्वयं बताती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिकी सहायतासे महावाक्यार्थका ज्ञान स्वयं कर लेता है। वेदान्तमे बुद्धिका विरोध नही है। विरोध यह है कि बुद्धि तुम्हारी लक्ष्य-हीन न हो जाय। महावाक्यके द्वारा जो लक्ष्य है बुद्धि उसीको ढूढे, उसीको प्राप्त करें। तब बोध होगा। यदि उच्छृङ्खल होकर भटक गयी तो परमात्माका साक्षात्कार नही होगा। ●

(२. १०.)

ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासामें श्रुति-प्रमाणका अन्तर

न धर्म-जिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्। अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनमेव प्रामाण्य स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्त्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न

वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुष ऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्य वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्।

(भाष्य १.१.२)

अर्थ : धर्म-जिज्ञासाके समान ब्रह्मजिज्ञासामे केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नही हैं किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यथा-संभव उसमे प्रमाण हैं, क्योकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तु-विषयक है और साक्षात् अनुभव-पर्यन्त अवधिवाला है। कर्तव्य-विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नही है (क्योकि) उसमे तो केवल श्रुति आदि ही प्रमाण है। इसके अतिरिक्त धर्मकी (कर्त्तव्यकी) उत्पत्ति पुरुषके अधीन है। इसलिए लौकिक और वैदिक कर्मोको करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमे पुरुष स्वतन्त्र है। जैसे कि अश्वसे जाता है, पैदल जाता है अथवा अन्य साधनसे जाता है अथवा नही ही जाता।' वैसे ही 'अतिरात्रिमे षोडशीका ग्रहण करे', 'अतिरात्रिमे षोडशीका ग्रहण न करे', 'ऋग्वेदी सूर्य उदय होनेपर अग्निहोत्र करे', 'यजुर्वेदी सूर्योदयसे पहिले अग्निहोत्र करे'—इस प्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद यहाँ धर्ममे सार्थक होते हैं। परन्तु सिद्ध वस्तुके बारेमे वह ऐसी है अथवा ऐसी नही है अथवा नही ही है—ऐसे विकल्प नही किये जा सकते। विकल्प तो पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षासे होते हैं। सिद्ध वस्तुका यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा नही रखता, अपितु वह तो सिद्ध वस्तुके अधीन है। (जैसे) स्थाणुमे स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है—ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नही हो सकता। उसमे पुरुष है अथवा अन्य है, यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है, यह यथार्थ ज्ञान है,

क्योंकि वह वस्तुके अधीन है। उसी प्रकार सिद्ध वस्तु-विषयक ज्ञानोका प्रामाण्य वस्तुके अधीन है। ऐसा होनेपर ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है क्योंकि वह भी सिद्ध वस्तु-विषयक है।

अब भगवान् शंकराचार्य एक नया प्रश्न उठाते हैं। बड़ा विलक्षण है यह प्रश्न ! वे कहते है कि धर्मजिज्ञासामे भी वेद प्रमाण हैं और ब्रह्मजिज्ञासामे भी वेद प्रमाण हैं। दोनो स्थानोमे वेदकी प्रामाणिकतामे कुछ अन्तर है या एक रूप ही प्रामाणिकता है ?

प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि धर्म कोई साक्षात्कारका विषय नही है। धर्मका फल प्रयोजनीय है कि सुख मिले (यहाँ भी और मरनेके बाद भी)। दूसरे धर्म अनुष्ठेय हैं, करनेकी चीज है। करनेकी वस्तुमे और जाननेकी वस्तुमे फर्क होता है। करनेकी वस्तुमे कर्ता स्वतन्त्र होता है। उस कर्मको कर्ता करे, न करे अथवा उल्टा करे। इसको कहते हैं कि धर्म-जिज्ञासा पुरुष-बुद्धि-तन्त्र है। धर्मानुष्ठानमे पुरुषकी बुद्धिका स्वातन्त्र्य बना रहता है क्योकि वहाँ धर्मानुष्ठान कर्तृत्वपूर्वक होता है। यह बात कर्ताकी बुद्धिके अधीन है कि वह अनुष्ठानमे द्रव्यका विनियोग, कर्मका विनियोग, भोगका विनियोग कैसे करता है—विधिके अनुकूल करता है या प्रतिकूल करता है अथवा करता ही नही। इसीलिए धर्म और अधर्म कर्ताको (पुरुषको) लगता है। कर्ता कर्म करनेके उपरान्त पापी या पुण्यात्मा होता है। अधिकारीके लिए धर्म-कर्मको करने या न करनेसे पाप-पुण्य होते हैं।

इसके विपरीत वस्तुका ज्ञान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा नही रखता कि उसे जानें या न जानें या उल्टा जाने। इस मकानको जानें या न जानें या इसे गड्ढा जानें, इसमे स्वतन्त्रता नही है। सिद्ध वस्तुका ज्ञान पुरुषकी बुद्धिके अधीन नही होता; वह वस्तुके अधीन होता है माने वस्तु जो है, जैसी है, वैसी ही ज्ञात होती है। और

वैसी ही ज्ञात होना ज्ञान है और अन्यथा-रूप ज्ञात होना ज्ञान नही भ्रम है। इसी बातको पारिभाषिक शब्दावलीमे यों कहते हैं कि ज्ञान-पुरुष बुद्धि-तन्त्र नही है, वस्तु-तन्त्र है अथवा कि ज्ञान कर्तृतन्त्र नही है, वस्तुतन्त्र है।

धर्म करना, उपासना करना, योगाभ्यास करना—ये सब कर्ताकी नीवपर खडे हैं और आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान कर्ताके अधीन नही है। कर्ता धर्म करे, न करे, विपरीत करे; कर्ता उपासना करे, न करे, विपरीत करे; कर्ता योगाभ्यास करे, न करे, विपरीत करे। परन्तु कर्ता तत्त्वज्ञानमे हेर-फेर नही कर सकता। इसलिए तत्त्वज्ञान पाप-पुण्यके अन्तर्गत नही है। ऐसा भी नही है कि ज्ञाता ब्रह्मको निर्गुण मानले या सगुण मानले या उसे यह मानले या वह मानले। ब्रह्म वस्तु जैसी है वैसी हो उसे जान लेना तत्त्वज्ञान है। इसलिए तत्त्वज्ञान न धर्मके अन्तर्गत है, न उपासनाके और न योगके। वह न तर्कका विषय है न अनुमानका। उसके यथार्थ अपरिच्छिन्न प्रत्यक् चैतन्याभिन्न स्वरूपको श्रुति लखाती है।

श्रुति तत्त्वका प्रकाश करती है और धर्मका आदेश देती है। दूसरे शब्दोमे श्रुति तत्त्वका शंसन करती है और धर्मका शासन करती है।

ब्रह्मज्ञानमे आत्मवस्तु जैसी है वैसी ही लखाई जाती है; लखाना मात्र है वहाँ। और धर्ममे तो आदेश है, केवल शसन नही शासन है। अग्निको अग्नि जान लेना मात्र पर्याप्त है परन्तु उसमे होम करना—यह दूसरी बात है। असलमे धर्म विश्वास-प्रधान है और ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष अनुभव-प्रधान है। ब्रह्मज्ञान है—आत्मानुभूति और धर्म है—कर्तृत्व और विश्वाससे भविष्यमे उत्तम फल देनेवाली एक क्रिया। अतः यद्यपि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्म-

जिज्ञासा दोनों ही वैदिक हैं तथापि दोनोमें वेदकी प्रामाणिकता-में अन्तर है। धर्ममे केवल आदेश-वाक्य (शासन) ही प्रमाण है परन्तु ब्रह्मजिज्ञासा अनुभव पर्यवसायी होनेके कारण उसमें अनुभव उत्पन्न करनेवाले शंसन-वाक्योंका और स्वयं अनुभवका भी प्रामाण्य है।

अब थोड़ा धर्मके बारेमे विचार करते हैं :

थोड़ी देरके लिए धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानको छोड़ दो और मान लो कि मनुष्य केवल देह है और वह ऐसा ही समझकर काम करता है। जानते हो इसका नतीजा क्या होगा ? मरनेपर उसको क्या मिलेगा ? ब्रह्म, ईश्वर, बैकुण्ठ या स्वर्ग उसे कुछ नही मिलेगा; मुक्ति भी नही मिलेगी। यहाँ तक कि उसे पुनजन्म भी नही मिलेगा। देहकी जो गति होगी वही उसकी गति होगी। जिसने आजीवन अपनेको देहरूप माना है उसकी अन्तिम गति भी वही होगी जो देहकी गति होती है। देहकी गति यह है कि धरतीमे गाढ दो तो कीड़े पड़ जायेंगे, बाहर फेंक दो तो पशु-पक्षी खा जायेंगे और जला दो तो राख हो जायेगी। हर हालतमे यह शरीर पञ्चभूतोमें मिल जायेगा। क्योंकि सारे जीवन तुमने अपनेको शरीरसे मिलाये रखा है; इसलिए अब तुम्हारे लिए शरीरसे बाहर निकलनेकी कोई चर्चा ही नही है। तो अपने आपको जड़के साथ एक कर देना, यह देहको मै माननेका परिणाम है। जो लोग धर्म-कर्मको नही मानते हैं वे लोग यही गति स्वीकार भी करते हैं। चार्वाक यही मानता है कि एकबार घुणाक्षर-न्यायसे यह शरीर बन गया और मरनेके बाद खतम हो जायेगा; न पहिले कुछ था और न बादमें कुछ रहेगा। कहो कि 'मैं' कहाँ गया, तो कहेगे कि जहाँ शरीर गया वही मै चला गया। 'मै' तो कुछ था ही नही।

दूसरी प्रक्रिया इस विषयमें जैन-बौद्धो और पूर्वमीमासकोकी है। बौद्ध मुक्त होनेके बाद आत्माका अस्तित्व नहीं मानते। जबतक कर्मधारा, संस्कारधारा चल रही है तबतक आत्माका जन्मान्तर और लोकान्तर दोनो होते हैं, परन्तु मुक्तिके बाद आत्मोच्छेद ही मुक्ति है, यह दोनो शून्यवादी और विज्ञानवादी बौद्धोका मत है। उनके मतमे मुक्तिके बाद कुछ नही रहता—न जड़ न चेतन।

जैसे लोग वासनाके अनुसार मरनेके बाद आत्माका जन्मान्तर और लोकान्तर मानते हैं और कर्म-वासनासे छुटकारा पानेपर भी (मुक्त होनेपर भी) निर्मल, उज्ज्वल, निर्दोष, अदेश, अकाल, चिदगरूप आत्माका अस्तित्व रहता है, ऐसा मानते हैं।

जैन, बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई सब धर्माधर्मको मानते हैं और मरनेके बाद आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इस्लाम और ईसाई मुक्ति स्वीकार नही करते, परन्तु जैन-बौद्ध मुक्ति स्वीकार करते हैं। कर्मके अनुसार पुनर्जन्म बौद्ध और जैन दोनो मानते हैं। कर्मके अनुसार बहिश्त और दोज़ख (स्वर्ग और नरक) इस्लाम और ईसाई दोनो मानते हैं। कर्मके अनुसार गति होती है तथा मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है, इस सिद्धान्तको बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख, पारसी और पूर्वमीमांसक सब मानते हैं।

धर्मकी प्रक्रिया कहाँ है? जड़ शरीरमे जो हमारा 'मैं' लथपथ हो गया है, फँस गया है, उसे वहाँसे निकालें। यह जो देह-वासनासे अभिभूत जीव-चेतन्य है उसे कैसे निकालें? शरीरकी और मनकी क्रियापर नियन्त्रण करके यह अनुभव करलें कि हम शरीर नही हैं, शरीरसे अलग हैं। यह जो शरीर और मनकी क्रिया-प्रक्रियापर आत्मनियन्त्रणस्थापित करना है, अर्थात् आत्म-

नियन्त्रणकी स्थापनाकी जो प्रक्रिया है उसको धर्म कहते हैं। बौद्धोने भी और पूज्यपाद गौड़पादाचार्यजीने भी आत्माका एक नाम 'धर्म' बताया है। (द्र० माण्डूक्यकारिका ४ १) अवश्य ही दोनोंके अभिप्राय अलग-अलग है।

धरति इति धर्मः । जो पकड़ ले सो धर्म। **धरति नियन्त्रयति इन्द्रियादीनि इति धर्मः** । जो इन्द्रियोंको पकड़ कर नियन्त्रणमे लाये सो धर्म।

'धारणात् धर्म इत्याहुः' । जो धारण किया जाय सो धर्म।

'धर्मो धारयते प्रजाः' । धर्म प्रजाको धारण करता है। अतः जिसमे धारणकी शक्ति हो सो धर्म। अर्थात् कहाँ जाना और कहाँ न जाना—जो इस प्रकारका विधि-प्रतिषेधके अनुशासनसे पूर्ण है। धारणार्थक जो 'धृ' धातु है उससे ही धर्म शब्द बनता है।

महाभारतमे बताया कि :

धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा. ।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

(कर्णपर्व ६९ ५८)

धारण करनेसे धर्म है, ऐसा कहते है। धर्म प्रजाको धारण करता है। इसलिए जो धारण-सयुक्त होवे वह निश्चयपूर्वक धर्म है।

धृयते कर्तृभि· इति धर्मः । कर्ता जीवात्मा जिसको पुण्य-दानादिके रूपमे धारण करे सो धर्म।

यह स्त्री, यह धन, यह सम्पत्ति, यह शक्ति-सामर्थ्य ऐसे हैं कि मनुष्यकी बुद्धि इनसे मतवाली हो जाती है। ये काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि विकार बुद्धिके लिए तो विष ही है। धर्म इस विषसे रक्षा करता है।

जीवनमे कर्मकी आवश्यकता है। आप अपनी इन्द्रियोको और मनको कावूमे करके कर्ता बन जाओ। उचित करो, अनुचित मत करो। अपने जीवनमे नियन्त्रण आवश्यक है माने धर्म आवश्यक है।

किसीने कहा कि नही जी, हम तो सीधे वेदान्ती ही वन जायेंगे। तो वेदान्तको समझनेमें चार बातें बाधक हैं :—

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्यय-दुराग्रहः।
विषयासक्तिरित्यते ज्ञाने वै प्रतिबन्धकाः॥

(१) प्रज्ञामान्द्य—अर्थात् बुद्धिका मोटा होना। (२) कुतर्क—अर्थात् केवल काटना ही लक्ष्य हो। लक्ष्य विध्वंस हो रचना नही। (३) विपर्ययदुराग्रह—अर्थात् अपनेको इन्द्रियवाला, मनवाला, अज्ञानी, परिच्छिन्न माननेका दुराग्रह (४) विषयासक्ति—अर्थात् पृथक्भूत द्रव्यका सुख-बुद्धिसे सेवन।

इनमे क्रम इस प्रकार है कि विषयासक्ति स्थूलतम विघ्न है, फिर विपर्यय, कुतर्क और प्रज्ञामान्द्य यह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम विघ्न हैं।

विषयासक्ति हटानेके लिए हम आसक्तिवश विषय सेवन न करें। धर्मके औचित्यका विचार करके सेवन करें। नियन्त्रण बना रहना चाहिए। मोटर चलाइये पर जहाँ आवश्यकता हो, या खतरा हो वहाँ ब्रेक भी लगाइये। ब्रेक अर्थात् वारक—रोकनेवाला। इन्द्रियोके विषयसेवनमे धर्म ही वारक है।

मुश्किल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनेको छोड़कर सारी दुनियाको धर्मात्मा देखना चाहता है। जबकि सचाई यह है कि यदि प्रत्येक इकाई धर्मात्मा हो जाय तो सारी दुनिया अपने आप धर्मात्मा हो जायेगी।

तो धर्मने क्या किया ? आपको कर्ताके रूपमें शरीरसे अलग कर दिया, कर्मके करणोंसे अलग कर दिया। फिर आपको धर्म और अधर्मका विवेकी बनाया। मरनेके बाद धर्माधर्मके अनुसार फल मिलता है इस विज्ञानका बीज आपकी बुद्धिमें डाल दिया। आपको मिट्टीमे मिलनेसे बचा लिया धर्मने। आप स्वामी हो, विकारी पदार्थ नही हो। समाजका व्यवहार ठीक तब चलेगा जब तुम धर्मात्मा होवोगे। मरनेके बाद भी तुम रहोगे, यह धर्म बताता है।

धर्मका फल क्या है ? वृत्ति। इसका भी विज्ञान है कि कौन-सा कर्म करके आपका मन सुख अनुभव करता है और कौन-सा कर्म करनेके बाद ग्लानि। जिस कर्मको करनेके बाद आत्मतुष्टि अनुभव हो वह कर्म धर्म है और जिस कर्मको करनेके बाद ग्लानि अनुभव होती हो वह कर्म अधर्म है। वैसे धर्मके निर्णयमें चार प्रकारसे निर्णय होता है—श्रुतिसे, स्मृतिसे, सदाचारसे तथा आत्मप्रियतासे :

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनुस्मृति २.१२)

'श्रुति, श्रुतिसे अविरुद्ध स्मृति, श्रुति-स्मृतिसे अविरुद्ध सदाचार और श्रुति-स्मृति-सदाचारसे अविरुद्ध आत्मतुष्टि—ये चारों बात धर्ममें प्रमाण है।'

बहिरंग धर्म इन्द्रियोंके व्यापारमे, धनोपार्जनमें और कर्ममे नियन्त्रण करता है और यह अनर्थनिवृत्ति-प्रधान है। अन्तरंग धर्म हमारी मनोवृत्तिका नियन्त्रक है और यह इष्टप्राप्ति-प्रधान है। परम अन्तरंग धर्मयोग द्वारा हमारे अहंको आत्मोन्मुख करनेवाला है, ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं :

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम् ।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १.८)

ये सब धर्म कर्मसापेक्ष है। धर्म करनेसे पहिले और धर्म-समकालमे धर्मका अनुभव नही होता, माने धर्मका प्रत्यक्ष नही होता। परन्तु धर्मके उत्तरकालमे धर्मके फलके रूपमे सुखका अनुभव होगा, शान्तिका अनुभव होगा।

इसके विपरीत ब्रह्मका प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्मके निर्णयमे युक्ति-तर्क सहायक होते हैं। परन्तु धर्मके निर्णयमे युक्ति-तर्क अत्यन्त गौण है वहाँ तो शास्त्रादेश, सद्गुरु, सम्प्रदाय, इनकी प्रधानता रहती है। (तर्क और वासनाकी प्रधानता नही रहती)।

लोग कहते हैं कि ये वेदान्ती लोग तर्कको बाँधते क्यो हैं? स्वतन्त्र तर्कमे दोष यह है कि हम सदैव अपनी ऐन्द्रियक और मानसिक अनुभूतिके आधारपर ही तो तर्क करते हैं, परन्तु वेदान्तका लक्ष्य आत्मानुभूति-परक है और वह एक अतीन्द्रिय अनुभव है। अतीन्द्रियके अनुभवके लिए अतीन्द्रिय वस्तुके अनुभवके प्रमाणके जो अनुकूल तर्क होगा वही ग्राह्य होगा, अन्य नही।

तर्कणम् ऊहनम् अभ्यूहनम्। सम्भावनाओपर विचार करनेका नाम तर्क होता है। यह जो तर्क शब्द है, वह कर्तको उलट करके बनाया गया है। जैसे सिंहको उलट करके हिंस या हिंसा बनता है। इसलिए तर्कका वही अर्थ है जो कर्तका है। 'कृति कृन्तने'से कर्त बनता है' अतः कर्तका अर्थ है—काटना। कर्तरी कैंचीको कहते ही हैं। काटना कोई बहुत अच्छा गुण नही है।

एक महात्मा थे। वह एक दिन एक दर्जीके घर गये। देखा दर्जीने सुईको काम करके टोपीमे खोस लिया और कैंचीको काम करके जमीनपर रख दिया। महात्माने शिक्षा ली कि जो जोड़नेका

काम करती है सुई वह शोशपर रखी जाती है और जो काटनेका काम करती है कैंची वह अन्ततः जमीनपर ही रखी जाती है।

तर्कमें काटना ही काटना है, विध्वंस ही विध्वस है इसमें रचना पक्ष नहीं है। ब्रह्मज्ञान आत्माके रूपमे ब्रह्मावगति करानेवाला होता है। यह श्रुतिगम्य ही है। यदि श्रुत्यर्थमे संशय हो तो युक्ति-तर्कपूर्वक मनन करना चाहिए। यदि विपर्यय हो तो निदिध्यासन भी करना चाहिए। परन्तु आत्माको ब्रह्म अनुभव करनेमे जो साधक युक्ति-तर्क होते हो केवल वही ग्राह्य हैं अन्य नही।

जहाँ मनुष्य है वहाँ और लक्ष्य स्थानके बीचकी दूरीको मिटानेवाला तर्क मनन कहलाता है। परन्तु जहाँ उद्देश्य अज्ञात है, कहाँ पहुँचना है कोई पता नही, ऐसी तर्ककी स्थिति होती है।

स्टेशन है ब्रह्मात्मैक्य बोध। उसके अनुरूप टिकट है—मनन। उसकी ओर ले जानेवाली ट्रेनपर सवार होनेका नाम है—निदिध्यासन। इसलिए जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी वस्तु है वहाँ उस वस्तुका पता लगा लो कि वह क्या है। वह ब्रह्मात्मैक्य-बोध है।

जो लोग समझते हैं कि वेदान्तसे आत्माको ब्रह्म बनाया जाता है, वे ठीक नही समझते। वेदान्त-ज्ञानसे आत्माको ब्रह्म बनाया नही जाता, आत्मा सचमुचमें ब्रह्म है ही। परन्तु किसी अज्ञात कारणसे हमारी यह जानकारी गड़बड़ हो गयी है। इस भेद डालनेवाले कारणको मिटानेके लिए वेदान्त है, आत्माको ब्रह्म बनानेके लिए वेदान्त नही है। आत्मा तो सिद्ध रूपसे ब्रह्म है।

तो धर्मको जाननेके लिए श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मसन्तोष चाहिए। परन्तु ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मबोधक श्रुति चाहिए, साक्षी किसीसे कटता नही, यह तर्क चाहिए, जो देश-

काल-वस्तुको जान रहा है वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह ज्ञान चाहिए।

अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।

ब्रह्मज्ञान अनुभव-स्वरूप है और वह जो पहिलेसे है, उसके लिए है। ब्रह्म माने अनन्त। अनन्त पहिलेसे है कि उसको तुम बनाओगे? ब्रह्म माने अपरिच्छिन्न। अपरिच्छिन्न पहिलेसे है या उसको तुम बनाओगे? वह ब्रह्म कौन है? इस प्रश्नको बोलनेवालेके मनमें यह प्रश्न है कि 'मैं कौन हूँ।' इस प्रश्नकी वृत्तिको कौन देख रहा है? आत्मा, साक्षी, देख रहा है। यह जो साक्षी आत्मा है वह प्रश्नाकार-वृत्ति और उसके बीज तथा उनके आश्रय अन्तःकरणसे परिच्छिन्न नही है, क्योकि वह इनसे न्यारा है, इनका साक्षी है। देश-काल-द्रव्यके अभाव उपलक्षित आत्मा ही ब्रह्म है।

सत्तार्थक 'भू' धातुसे 'भव' शब्द बनता है। होना भव है। **भवन भवः।** और जिससे होवे वह कारण भी भव कहलाता है: **भवति अस्मात् इति भवः कारणं शिवं सर्वज्ञम्।** अतः कार्य और कारण दोनो भव हैं। 'भव' शब्दमे 'अनु' उपसर्ग लगानेसे अनुभव शब्द बनता है। **अनु भवति अनुभवः।** भव (कार्य और कारण) के जो 'अनु' अर्थात् पीछे रहे सो अनुभव है। माने कार्य-कारण-रूप सत्ताका जो प्रकाशक चैतन्य है, वह अनुभव है। अज्ञान-दशामे जो चीज सत्ताके रूपमे भासती है उसकी यथार्थताका ज्ञान होनेपर वह अनुभव स्वरूप ही है। अनुभवसे पृथक् न कार्य है न कारण है। अनुभवसे पृथक् यह कार्य-कारणात्मक प्रपञ्च नही है। **अनुभवो ब्रह्म** अर्थात् अनुभव ही ब्रह्म है।

अनु भवति अनुभवः। कस्मात् अनु? कार्यं कारणात् अनु भवति उपलभ्यते।

दुनियामें जितना कार्य कारण है उनके 'अनु' आप हैं। जो कुछ हुआ, हो रहा है तथा होगा और वह 'जो कुछ' जिससे है, वह सब आपको ही भासते हैं। जहाँ कार्य और कारण होते हैं वही उस-उस उपाधिसे उपहित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ भी होते हैं। परन्तु जहाँ कार्य-कारण-प्रपञ्च नही है वहाँ 'तत्' और 'त्वम्'-का औपाधिक भेद भो नही है।

'भेदाभावोपलक्षिततत्व' यह आत्माका लक्षण है। माने भेद और भेदाभाव दोनोका साक्षी आत्मा है। देश भेद, काल भेद, द्रव्य भेद, सजातीय भेद, विजातीय भेद, स्वगत भेद, और इन भेदोंका अभाव—सबका साक्षी आत्मा है। और भेदका साक्षी भेदक वस्तुसे असंस्पृष्ट होनेके कारण अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

इसका अर्थ है कि तुम जो अपनेको इन्द्रियवाला, मनवाला, बुद्धिवाला, शान्तिवाला, समाधिवाला, देशवाला, कालवाला, बीजवाला समझते हो वह सब गलत है। तुम कोई वाला नहीं हो। तुम तो ब्रह्म हो—अनन्त, अपरिच्छिन्न, अखण्ड चैतन्य!

तुम्हारे इस प्रकारके ब्रह्मत्वका अनुभव तुमको होगा, होता ही है। **अनुभवावसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य।**

ब्रह्मज्ञान न केवल अनुभवपर्यवसायी है बल्कि वह **भूतवस्तु-विषयत्वाद्** भी है अर्थात् वह सिद्धवस्तु-विषयक ज्ञान है।

कोई चीज बनानी होती है उसका ज्ञान दूसरे प्रकारका होता है। और जो वस्तु पहिलेसे ही मौजूद होती है उसका ज्ञान दूसरे ढंगका होता है। बनानेमें स्वातन्त्र्य होता है कि वस्तुको गोल बनावें या लम्बी या चौड़ी। डिजाइन और फैशन नित्य-प्रति बदलते रहते ही हैं। इस स्वातन्त्र्यका स्वरूप है: कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम् (करें, न करें अथवा अन्यथा करें)। धर्म-कर्म ऐसी ही चीज है। परन्तु जो वस्तु जैसी हो वैसी ही उसे

जानना ज्ञान है। धर्म कर्ताके अधीन होता है और ज्ञान वस्तुतन्त्र है· 'भूतवस्तुविषयत्वात्'।

आप मोटरसे जाँय, पैदल जाँय या न जाँय, यह तो हो सकता है, परन्तु क्या आप इस खम्भेको हाथी समझ सकते हैं? स्पष्ट है कि नही। कर्म-सम्बन्धी समझ भीतरसे निकलती है, वासनाके अनुसार। और वस्तुसम्बन्धी समझमे वस्तुके स्वरूपके अनुसार समझना पडता है। उसमे यह विकल्प तो है ही नही कि वह है या नही है।

ब्रह्म सिद्ध वस्तु है। वह स्वर्गमे है या सगुण है या निर्गुण है, इत्यादि इत्यादि—ये सब समझ हैं। जबतक बुद्धि लगी रहेगी तबतक वह सगुण ही रहेगा। परन्तु जब तुम अपनेको ब्रह्म अनुभव कर लोगे तब बुद्धि बाधित हो जायेगी और तब तुम वास्तवमे निर्गुण होगे, बुद्धि रहते निर्गुण नही होगे। बुद्धि बांधती है।

विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद धर्ममे सार्थक होते हैं।[1] धर्ममे विकल्प कर्ताके अधीन है कि ऐसे करे या वैसे करें। परन्तु वस्तुके ज्ञानमे वस्तु है या नही, ऐसी है या वैसी है, यह विकल्प नही होता। वस्तु तो जैसी है वैसी ही उसे

---

१ 'यजेत' (यज्ञ करे) यह विधिवाक्य है। 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पीवे) यह प्रतिषेध वाक्य है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रिमे षोडशीका ग्रहण करे अतिरात्रिमे षोडशीका ग्रहण न करे) यह विकल्पवाक्य है। 'मा हिंस्यात्' (हिंसा न करे) सामान्य वाक्य होनेसे उत्सर्ग है। विशेष वाक्य जिससे सामान्य वाक्य बाधित हो जाते हैं, अपवाद कहलाते हैं जैसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (बलिके लिए अग्निषोमीय पशुका आलभन करे)। यह 'मा हिंस्यात्'का अपवाद कर देता है।

जानना ज्ञान कहलाता है। द्रष्टामे विकल्प नही होता। विकल्प सदैव दृश्यमें होता है। देश है या नही है, इतना लम्बा है या इतना छोटा है? काल है या नही है, इतना है या उतना है? द्रव्य यह है या वह है? ये सब विकल्प दृश्यमे हैं। ऐसा वैसा दृश्यमे होता है, द्रष्टामे नही।

तदीदृक् च ईदृक् न तादृक्।

ब्रह्म न ऐसा है न वैसा है। ऐसा-वैसा तो भास्य है, ज्ञान नही है। ऐसा-वैसा प्रकारका विकल्प है। सत्यवस्तुके सम्बन्धमे वह है या नही—यह भी विकल्प नही हो सकता। सत्य अस्ति-नास्ति बुद्धिवृत्तिका विषय नही होता।

न तु वस्तु एवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते।

विकल्प कहाँ होता है? पुरुषकी बुद्धिमे। विकल्प अपूर्ण ज्ञानका फल होता है। पुरुषकी बुद्धि जितना-जितना दृश्यका अनुभव करती जाती है उतना-उतना ही विकल्पका उदय-लय होता जाता है। घटः अस्ति, घट. नास्ति (घट है, घट नही है)—यह विकल्प घटके सम्बन्धमे ही है। परन्तु जो अस्ति-नास्ति दोनों प्रत्ययोका साक्षी है वह अस्ति-नास्ति दोनो वृत्तियोका विषय नही है।

तो विकल्प पुरुषबुद्धिकी अपेक्षासे होते है: **विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः**। परन्तु वस्तुका यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धिकी अपेक्षा नही करता:

न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

आत्मा बुद्धिकी अपेक्षासे नही है। जितना तुम्हारी बुद्धिमें आता जाय उतना-उतना उसमे बैठते जाओ, ऐसा बुद्धि-तन्त्र नही है। फिर वह क्या है? **किं तर्हि?** तो कहा—वह वस्तुतन्त्र है:

वस्तुतन्त्रमेव तत्।

बात दो टूक है। सामने खम्भा (स्थाणु) तुमको दीख रहा है। यह खम्भा है, यह पुरुष है, यह चोर है, यह सिपाही है—ये ज्ञान इस खम्भेके बारेमे हो सकते हैं। परन्तु इन सब ज्ञानोंमे केवल 'यह खम्भा है' यह ज्ञान ही ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान हैं, मिथ्या ज्ञान हं, क्योंकि खम्भेका ज्ञान खम्भानिष्ठ ही है, उस खम्भेके देखनेवालेकी बुद्धि निष्ठ नही है।

नहि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानम्, वस्तुतन्त्रत्वात्।

'एक स्थाणुमे स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान तत्त्वज्ञान नही होता। उसमे पुरुष है अथवा अन्य है यह मिथ्या ज्ञान है और 'स्थाणु ही है' यह तत्त्वज्ञान है, क्योकि वह वस्तु (स्थाणु) के ही अधीन है।'

धर्म कर्तामें-से निकलता है। कर्ता रहता है—एक विशेष देशमें, विशेषकालमे। इसलिए देश, काल, अवस्था, जाति, सम्प्रदायके बदलनेसे धर्म भी बदल जाता है। यूरोपमे पानीसे स्नान न करना और मात्र कपडे बदल लेना धर्म हो सकता है, परन्तु गर्म-देश भारतमे स्नान धर्म है। गृहस्थके लिए स्त्री-सहवास धर्म है परन्तु संन्यासीके लिए वह धर्म नही है।

परन्तु वस्तु-ज्ञानमें देश-कालादिका भेद नही होता। सत्य जैसा होता है, उसे वैसा ही जाना जाता है। धर्म हमारी योग्यताके अनुसार जाना जाता है। धर्ममे योग्यताकी उपाधिसे भेद होता है और निरुपाधिकताके कारण वस्तुज्ञानमे भेद नही होता।

एवंभूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्।

'इस प्रकार सिद्ध वस्तु-विषयक ज्ञानोंका प्रामाण्य वस्तुके ही अधीन है। और क्योंकि ब्रह्म भी सिद्ध वस्तु है अतः ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है।'

जैसे घटकी उपाधिसे आकाश छोटा और मठकी उपाधिसे आकाश बड़ा मालूम पड़ता है परन्तु आकाश जो वस्तु है वह न तो घटाकाशके बराबर है और न मठाकाशके बराबर है। आकाश तो अनन्त-अखण्ड है। उसी प्रकार यह जो आत्म चैतन्य है वह न तो विकारी है, न यह पैदा हुआ है और न तो यह मरेगा ही। क्योंकि पैदा होना और मरना दोनों चैतन्यके अस्तित्वसे ही सिद्ध होते हैं। चेतन पैदा नही हो सकता। चेतन मर नही सकता: अन्यथा पैदा होने और मरनेका साक्षी कौन होगा? जन्मके पूर्व जो चित् है और मृत्युके उत्तर जो सिद्ध है और बहिरंग अन्तरंगके भेदको जो जानता है, उसका नाम है चेतन। वह वस्तुतन्त्र है।

अनन्तका जब किसीको ज्ञान होगा तो उसमे एक बात तो यह है कि आत्मासे अभिन्न हुए बिना कोई अनन्त नही हो सकता अन्यथा वस्तुएँ दो हो जायेंगी—एक आत्मा और एक अनन्त; और उनमे-से कोई भी अनन्त नही हो सकेगा। ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है उससे अभिन्न जो सत्ता है; और जो अनन्तसत्ता है उससे अभिन्न जो आत्मा है, उसीको ब्रह्म कहते हैं। अनन्तसत्तासे अभिन्न ज्ञान और ज्ञानसे अभिन्न अनन्तसत्ता ब्रह्म है। जहाँ सत्य ज्ञानसे अलग हो जायेगी, वह जड़ हो जायेगी। यदि ब्रह्म तुमसे अलग है तो जड़ है और यदि तुम ब्रह्मसे अलग हो तो तुम परिच्छिन्न हो। ऐसा यह वस्तुतन्त्र है ब्रह्मज्ञान कि मनुष्यकी बुद्धि उसे अदल-बदल नही सकती; क्योंकि सिद्धवस्तु (ब्रह्म) के सम्बन्धमें है। ●

(२. ११)

जन्माद्यधिकरण भाष्यका उपसंहार

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्य-विचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणासम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्। किं तर्हि? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

किं पुनस्तद् वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम्? 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व' (तैत्ति० ३.१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३ ६) अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि।

(इति जन्माद्यधिकरण भाष्यम्)

अर्थ : यदि शंका हो कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म प्रमाणान्तर-का विषय ही है और इससे वेदान्तवाक्योंके विचारकी निरर्थकता

प्राप्त होती है तो यह ठीक नही है क्योकि ब्रह्म इन्द्रियोका अविषय है। अतः अन्य प्रमाणसे उसका जगत्‌रूप कार्यके साथ कारणताका सम्बन्ध ग्रहण नही हो सकता। इन्द्रियाँ स्वभावसे ही विषय-विषयक हैं, ब्रह्म विषयक नही हैं! यदि ब्रह्म इन्द्रियोका विषय होता तो यह अपने कार्य जगत्‌के साथ सम्बन्ध होकर गृहीत होता। परन्तु इन्द्रियोसे तो कार्यमात्र (जगत् ही) गृहीत होता है। अतः यह निश्चय नही किया जा सकता कि वह ब्रह्मके साथ अथवा किसी अन्यके साथ (कारण रूपसे) सम्बद्ध है। इसलिए जन्मादि सूत्र अनुमानके उपन्यासके लिए नही है। फिर किसके लिए है ? वेदान्तवाक्यके प्रदर्शनके लिए है।

वे कौनसे वेदान्तवाक्य हैं जिनका सूत्र द्वारा ब्रह्मके लक्षण-रूपसे यहाँ विचार करना इष्ट है ? 'भृगुर्वै वारुणि.'० से उपक्रम करके कहते हैं—'यतो वा इमानि'० इस सामान्य कारणपरक श्रुतिवाक्यका निर्णयवाक्य यह है—'आनन्दाद्ध्येव'०। नित्य शुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव, सर्वज्ञस्वरूप कारण-ब्रह्मविषयक इस प्रकारके अन्य उपनिषद्‌वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिए। •

पञ्चदशीमे एक प्रश्न उठाया कि जब ब्रह्म सिद्धवस्तु है तो क्या ब्रह्मका घटवत् प्रत्यक्ष नही होता ?

घटवत् किं न भासते ?

और उत्तर दिया कि बिलकुल ऐसे ही होता है। स्थिति कुछ ऐसी ही है जैसे किसी बच्चेके सामने घट तो प्रत्यक्ष हो और उसने घट शब्द भी सुना हो, परन्तु उसे घट शब्द और घट पदार्थका सम्बन्ध ज्ञात न हो। अब बच्चेको किसीने कहा कि 'घट ले आओ।' बच्चा घट लायेगा ? नही। घट तो सामने है अपरोक्ष परन्तु उसकी पहिचान न होनेसे, पद और पदार्थका सम्बन्ध ज्ञात न होनेसे, वह घट नही ला सकता। अब यदि कोई

उसे बता दे-कि- 'यह अपरोक्ष पदार्थ घट है' तो घटकी अज्ञातता दूर हो जायेगी और वह घट ले आयेगा। जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है परन्तु वह अज्ञात होती है तो वहाँ केवल वाक्यके द्वारा ही उस वस्तुका ज्ञान होता है, किसी अन्य प्रमाण जैसे प्रत्यक्ष, अनुमानादिके द्वारा नही।

ठीक -ऐसे ही, आत्मा सबको नित्य अपरोक्ष है और ब्रह्म 'सत्य ज्ञानमनन्तम्' है यह परोक्ष ज्ञान भी है। परन्तु यही अपरोक्ष आत्मा देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान ब्रह्म है, यह अज्ञात है। अतएव इस अज्ञातताके कारण सम्पूर्ण अनर्थोंके भाजन हम बने हुए हैं। जब श्रुति महावाक्य द्वारा इस आत्माको ब्रह्मरूपताका बोधन करती है तब अविद्याका नाश होकर सम्पूर्ण अनर्थ कट जाते है।

दूसरी शका ब्रह्मको सिद्ध पदार्थ माननेमे यह है कि सिद्ध-वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोका विषय होती हैं। अत. ब्रह्म भी इन प्रमाणोका विषय होगा। और इसलिए प्रमाणान्तरका विषय होनेके कारण ब्रह्म केवल श्रुतिगम्य नही रह पायेगा, माने श्रुति ब्रह्मके विषयमे प्रमाण नही रह पायेगी, वह केवल अन्य प्रमाणोका अनुवादमात्र रह जायेगी। इस प्रकार श्रुतिका अवमूल्यन हो जायेगा और ब्रह्मज्ञानके लिए श्रुतिवाक्योका विचार निरर्थक सिद्ध होगा।

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मण' प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्त-वाक्यविचारणानार्थक्यैव प्राप्ता।

इस शकाको उठाकर श्री शंकराचार्य भगवान् उसका समाधान करते हैं कि ·

न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्

'ऐसा नही है, क्योकि ब्रह्म इन्द्रियोका अविषय है, अतः उसका

जगत्के साथ कारणताका जो सम्बन्ध है वह (श्रुतिके अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाणका विषय नही हो सकता।'

प्रमाण क्या ? प्रमाण माने तद्-विषयक वृत्तिजनकत्व। अर्थात् जिस वस्तुको जानना चाहते हैं, उसकी अन्त.करणमें तदाकार-वृत्तिका जो जनक है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमाण माने पोथी, मन्त्र, श्लोक नही होता। पोथी प्रमाण तो दूसरी पोथी-प्रमाणसे कट जायेगा। इसी प्रकार मन्त्र और श्लोक दूसरे मन्त्रो और श्लोकसे कट जाते हैं।

एक सज्जन हैं। उन्होने कोई १५-२० किताबे लिखी है। उनमे उन्होने लिखा है कि सब किताबें झूठी हैं। एक सभा जुड़ी। पूछा गया उनके भक्तोसे कि किताबे सब झूठी हैं न ? हाँ कहनेपर उनकी वे १५–२० किताबें वही फाड़ दी गयी। उनके भक्तोंने टोका : 'इनकी किताब क्यो फाड़ते हो ? वह तो वेदशास्त्रकी किताबोकी बात थी !' तो कहा : 'पहिले इनकी किताबें फाड़ दो फिर वेदशास्त्र भी फाड़ देंगे।'

विचित्र खोपड़ियाँ हैं दुनियामें ! कहते हैं वेदान्त-विचारकी क्या आवश्यकता, हम अन्य प्रमाणसे ही ब्रह्मको जान लेंगे ! अरे भाई ! हमारे अन्तःकरणमे 'आत्मा और ब्रह्म एक हैं' यह बोधवृत्ति उदय होनी चाहिए, तब आत्माका ब्रह्मत्व प्रमाणित होगा ! अब अन्तःकरण है भीतर और रूप है बाहर। आँख रूपका भेद करती है कि यह लाल है अथवा काला है और सम्वेदन अन्तः-करणमे होता है। परन्तु अनन्तताका सम्वेदन कौन-सी इन्द्रिय करेगी; जबकि इन्द्रियाँ तो स्वभावसे ही परिच्छिन्न-विषयक होती हैं ? इसलिए ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण, इन्द्रिय या मन-बुद्धि नही होगी बल्कि ब्रह्मात्मैक्य-विषयक वृत्तिजनकत्व जिसमे हो वही होगा। और यह सामर्थ्य वाक्यमे ही हो सकता है।

यदि कहो कि हमे संस्कृत भाषा पसन्द नही है तो ठीक है वाक्य हिन्दीमे बोलो या फारसीमें या अंग्रेजीमे। भाषासे हमें कोई परहेज नही है। परन्तु उस वाक्यको सुनकर हमारे अन्त'-करणमे इस प्रकारकी वृत्ति उदय होनी चाहिए कि 'जो निराकार, निर्विकार, एकरस, निर्विशेष, निर्धर्मक, अकाल, अदेश, अद्रव्य, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेदसे रहित ब्रह्मतत्त्व है वह हमारा आत्मा है।' यही वृत्ति ब्रह्मज्ञानमे प्रमाण है और इसलिए इस वृत्तिका जनक जो वेदान्तवाक्य है वह भी प्रमाण कहलाता है।

ब्रह्म वह वस्तु है जो किसी भी इन्द्रियका विषय नही है। अत' प्रत्यक्ष प्रमाणकी वहाँ गम नही है। बोले : कोई बात नही, हम कार्य (जगत्) को देखकर कारण (ब्रह्म) का अनुमान कर लेंगे। तो कहा कि बेवकूफी होगी यह! कार्य जगत्को देखकर यह तो मालूम पडेगा कि इसका कोई कारण है, परन्तु वह कारण ब्रह्म है या शून्य, परमाणु है या प्रकृति, यह नही मालूम पड़ सकता। आत्म-चैतन्य ही इस जगत्का कारण है, यह अनुमान भी कैसे होगा? कार्य और कारणका सम्बन्ध इन्द्रिय-गृहीत नही है। अग्नि, धुँआ तथा अग्नि और धुँआका सम्बन्ध सब इन्द्रियोके द्वारा पूर्व ज्ञात रहता है, इसलिए धुँएको देखकर अग्निका अनुमान होता है। परन्तु यहाँ तो केवल कार्य-जगत् ही इन्द्रिय-गृहीत है। ब्रह्म और उसका जगत्के साथ कार्य कारण सम्बन्ध इन्द्रिय-गृहीत नही है। अत जगत्को देखकर कारण ब्रह्मका अनुमान भी नही होगा, केवल कल्पना होगी। इन्द्रियोमे मन-बुद्धिका भी समावेश है।

जहाँ प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार होता है वहाँ या तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है या मानसिक प्रत्यक्ष, या बौद्धिक प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सुषुप्ति दशामे न तो वृत्ति रहती है और न कोई इन्द्रिय,

न विषय। इसलिए वहाँ सुषुप्तिदशा साक्षी-प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष ही है, और जिस साक्षीको सुषुप्ति प्रत्यक्ष है उसीको जाग्रदादि अन्य अवस्थाएँ भी प्रत्यक्ष है। चित्तकी चाहे कोई स्वाभाविक दशा जैसे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और चाहे कोई अभ्यासजन्य अवस्था हो जैसे समाधि आदि और वह दशा ब्रह्मा, विष्णुकी भी क्यो न हो, वह सब साक्षी-प्रत्यक्ष है। क्योंकि जब सुषुप्ति ही साक्षी-प्रत्यक्ष है तब जो स्पन्दनात्मक, कार्यात्मक या वृत्त्यात्मक दशाएँ हैं, वे क्यो न होंगी। चित्तकी अवस्था चाहे एककी हो या अनेककी, चाहे चोरकी हो अथवा साधुकी; चाहे देवोकी हो या देवताकी, उसका जो साक्षी है वह उससे न्यारा होगा, और चित्तके द्वारा उसका सम्बन्ध ग्रहण नही होगा। **सम्बन्धाग्रहणात्**। क्योकि अनन्त चित्तका विषय नही है, चेतन चित्तका विषय नही है, ज्ञान चित्तका विषय नही है।

आप कहते हैं 'चित्त मेरा,' परन्तु यह 'मै' कौन है? इस चामकी पुड़ियामें बन्द इस चित्तको जो मेरा मानता है; वह शरीरको भी मै मानता है। वह देहाभिमानी है। चित्त न आत्माका है, न ईश्वरका और न ब्रह्मका। वह तो कर्ता-भोक्ता-ससारी जीवका है। इसलिए जहाँ सत्यकी जिज्ञासा होती है वहाँ चित्तको मैं-मेरा मानकर नही होती। यह चित्त जीवका भी नही है, क्योकि यदि तुम्हारा (जीवका) है तो बताओ कि यह कहाँसे आया, इस समय क्यों है और एक क्षण बाद इसमे स्फुरण होनेवाला है? यह चित्त तुम्हारा बिलकुल नही है और न यह तुम हो। कोरा अविवेकजन्य सम्बन्ध है यह! इसलिए चित्तकी अवस्थाओ, स्थितियोके प्रति जो आस्था है, वह भी अविवेकजन्य ही सिद्ध होती है। इनको लेकर तत्त्वजिज्ञासा नही होती।

एतेन योगः प्रत्युक्तः (ब्रह्मसूत्र २.१.३)

इससे योगके साधन और साध्य दोनो खण्डित हो गये। योग-साधन तो अन्तःकरणका शोधक होनेसे (वेदान्तमे) ग्राह्य है, परन्तु साध्य तो बिलकुल मिथ्या है। न तो कोई निर्विकल्प निर्बीज अवस्था होती है और न तो कोई द्रष्टाका निरोधमूलक स्वरूपमे अवस्थान होता है।

इसी प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा और उपासना-दर्शन, सब-के-सब (साध्यत्वेन) मिथ्या हैं, कर्मकाण्ड-वादी वेद भी मिथ्या है और वृत्ति उत्पन्न करनेके बाद प्रतिपादक अंशमे उपनिषद् भी मिथ्या है (प्रतिपाद्य अशमे उपनिषद् सत्य हैं)।

उपनिषद्-सिद्धान्त सच्चा, परन्तु उसका कथन करनेवाले उपनिषद् मिथ्या! अपने वाक्यको भी मिथ्या करनेवाला यह कौन-सा सिद्धान्त सृष्टिमे विद्यमान है! यह ब्रह्मविद्या है। किसी भी पुराण, कुरान, बाइबिल, अवेस्तामे इस प्रकारके मिथ्यात्वका सिद्धान्त प्रतिपादित नही किया गया है। केवल आत्मा ब्रह्म है, यह सच्चा है, शेष सब मिथ्या है।

कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणासम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्।

केवल कार्यमात्र ही इन्द्रियोसे गृहीत होता है, कारण गृहीत नही होता और इसलिए कार्य-कारण सम्बन्ध भी गृहीत नही होता। अतः यह निश्चय नही किया जा सकता कि कार्य-जगत्का कारण ब्रह्म है अथवा कोई अन्य। इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र जो है वह जगत्रूपी कार्यसे किसी कारणरूप ब्रह्मका अनुमान करनेके लिए नही है।

किं तर्हि? फिर वह किसलिए है? तो कहा कि वेदान्तवाक्य

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' तथा अन्य ऐसे वाक्योंमें जो ब्रह्मकी कारणता श्रुति (अध्यारोपके लिए) बताती है उसके प्रदर्शनके लिए यह 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र है। **वेदान्तवाक्य-प्रदर्शनार्थम्।**

प्रश्न : यदि जगत् और ब्रह्मका कार्य-कारण सम्बन्ध इन्द्रिय-ग्राह्य नही है श्रुति उसका वर्णन करती है तो वह कारणता है कहाँ ?

उत्तर : वह कारणता द्रष्टाकी दृष्टिसे भिन्न नही है। जो कार्य-कारणात्मक दृष्टिसे उपलक्षित ब्रह्म है वही उसके अभावसे उपक्षित ब्रह्म है। वह ब्रह्म देश-काल-द्रव्यकी आख्यासे रहित है, देश-काल-द्रव्यकी प्रतीतिका निमित्त और उपादान होते हुए भी इनके सत्यत्वकी भ्रान्तिसे मुक्त है। वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है। यही वेदान्तका प्रतिपाद्य है जिसको लखाकर गुरु और उपनिषद् मिथ्या हो जाते हैं, और जिसको जानकर शिष्य भी मिथ्या हो जाते हैं। उस ब्रह्मतत्त्वको जानकर जितनी सृष्टि है वह और उसके जितने कारण हैं, प्रेरक हैं, वे सब मिथ्या हो जाते हैं। फिर अन्तःकरणको या उसको किसी अवस्था-स्थितिको बनाये रखकर या बनाये रखनेका आग्रह लेकर तत्त्व-जिज्ञासा नही की जाती।

मोकलपुरके बाबा कहते थे : जो मैं सो मच्छर; जो मच्छर सो मैं। ब्रह्मज्ञानमें शरीर और अन्तःकरणका कोई मूल्य नही होता।

यह साधन-बाधनकी चर्चा वेदान्तका विषय नही है। परन्तु श्रोताओमें सब तरहके लोग बैठे रहते हैं, और किसीको भ्रान्त करना या साधनसे च्युत करना सत्संग या वेदान्त या हमारा कोई उद्देश्य नही है। वेदान्त तो साधनकी पूर्णता जहाँ होती है उस ज्ञानस्वरूप आत्म-ब्रह्मकी चर्चा करता है।

देखो, ब्रह्मत्वेन सब एक हैं और मिथ्यात्वेन भी सब एक हैं। इसलिए सब साधन ठीक हैं, अपनी-अपनी कक्षामे।

स्वामी स्वरूपानन्दजीने एक फक्कड़से पूछा: महाराज, साधन क्या है?

फक्कड: साधन गधा है।

मोकलपुरके बाबा कहते थे: गुरु बिना किये तो यह सब इतना हो गया। अब कुछ करोगे तो यह बढ़ेगा ही, घटेगा नही।

साधन करो, अवश्य करो और अपने-अपने सम्प्रदाय, गुरु शास्त्रके अनुसार करो। परन्तु वेदान्तको साधनसे सीमित मत करो। साधन-साध्य वेदान्त नही है। उस अद्वितीय आत्मतत्त्वको घेरेमे मत बाँधो।

हमसे एक साधुने कहा: 'हमको देवताने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि वेदान्त मिथ्या है।' मैने कहा: तुम्हारा देवता और तुम और उसका कथन सब मिथ्या है। दृश्यमात्र मिथ्या है।

पञ्चदशीमे नाटकदीप प्रकरणमे बताया कि अन्त:करणके दीयेमे वासनाके तेल और प्रारब्धकी बत्तीसे यह ज्ञानात्मक प्रकाशरूप जीवन प्रज्वलित हो रहा है। यह जीवन उन्नत हो इसके लिए साधन करो परन्तु वेदान्तको संकुचित मत करो।

उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। बुद्धिका नाम विद्या नही होता। बुद्धि तो मनुष्यके भीतर रहती है। उस बुद्धिके संस्कारकी जो प्रक्रिया है उसको विद्या बोलते हैं। बुद्धिमे स्वाभाविक ही जड़ता रहती है जिसके स्वरूप हैं—मोहादि विकार। इस जड़ताको मिटानेके लिए (दोषापनयन) और उसे सत्योन्मुख करनेके लिए (गुणाधान) कुछ विद्याएँ होती हैं, जिनकी गिनती अपर विद्याओमे होती है। परन्तु यह जो ब्रह्मविद्या है, वह अन्त:करण,

अन्त:करणका विषय (देश-काल-वस्तु) और अन्तःकरणका अभिमानी (विश्व-तैजस-प्राज्ञ या विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर) रूप जो व्यष्टि और समष्टिरूप त्रिपुटियाँ हैं उनको उनके अधिष्ठान और प्रकाशककी एकताके ज्ञानसे भस्म करने (मिथ्या अनुभव कराने) का काम करती है।

ऐसी ब्रह्मविद्याको व्यक्तित्वके घेरेमे मत लाओ। व्यक्तित्व छोड़ना नही है क्योंकि छोड़नेवाला और छोड़ना दोनो व्यक्तित्व ही हैं। छोड़ना साख्यसिद्धान्त है और छोड़कर स्थिर होना—यह योग-सिद्धान्त है। और छोडकर जो स्थिर है उसको ईश्वरमें मिला देना यह भक्ति-सिद्धान्त है। परन्तु त्याग, त्यक्त, त्यक्त-स्थिर, त्यक्त-स्थिरकी ईश्वरके साथ तन्मयता, ईश्वर और तन्मयताकी प्रक्रिया—ये सब जिस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न वस्तुके ज्ञानसे मिथ्या हो जाते हैं, उस ज्ञानका नाम ब्रह्म-विचार है। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' द्वारा सत्यका यथार्थ ज्ञान करानेके लिए प्रतिज्ञा है, न कि अन्तःकरणको किसी स्थितिको बनानेके लिए। इसलिए वेदान्तका किसी भी दर्शनमें समावेश या समन्वय नही होता (अन्य सब दर्शनोका समन्वय वेदान्तमे होता है)। समन्वय तो एक सामाजिक प्रक्रिया है जो उपस्थित विरोधके तनावको दूर करती है। परन्तु वेदान्त सत्य-वस्तुका यथार्थ ज्ञान है, यह कोई सामाजिक सम्मेलन नही है। वेदान्त कोई सम्प्रदाय भी नही है। वेदान्तके ज्ञानसे यह बात समझमे आती है कि अज्ञानकी किसी-न-किसी कक्षामें सब सम्प्रदाय, सब सिद्धान्त, सब साधन-साध्य, सब धर्म और व्यवहार यथास्थान स्थित है और ज्ञानकी दृष्टिसे सब या तो मिथ्या हैं या आत्मरूपसे सत्य है। इसलिए जिज्ञासुको छोटे-बडेके रागद्वेषके चक्करमें नही पड़ना चाहिए। उसे तो सत्यकी ओर ही उन्मुख होना चाहिए। •

(३. ०)

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३)

"शास्त्रका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है।

अथवा

ब्रह्म केवल शास्त्रयोनि है अर्थात् ब्रह्मके विषयमे केवल शास्त्र ही प्रमाण है।"

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह–शास्त्रयोनित्वात्। महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्ध लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिश्वासवद्यस्मान् महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृहदा० २.४.१०) इत्यादि श्रुतेः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। (इति प्रथम वर्णकम्)

अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैव जातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्।

उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमान मुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

अर्थ :—जगत्कारणत्प्रदर्शन करनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह अर्थतः प्राप्त हुआ। उसीको दृढ करते हुए कहते हैं—'शास्त्रयोनित्वात्'।

अनेक विद्यास्थानोसे उपकृतदीपकके समान सब अर्थोका प्रकाशन करनेमें समर्थ और सर्वज्ञके समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्रका योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञको छोड़कर किसी अन्यसे नही है। जो-जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुष-विशेषमें विरचित है—

जैसे पाणिनि आदिके ज्ञेयका एक अंशरूप अर्थसे युक्त व्याकरण आदि शास्त्र है, वह पुरुषविशेष उस स्वविरचित शास्त्रसे अधिक ज्ञानवान् होता है, यह लोकमे प्रसिद्ध है। तो अनेक शाखाभेदसे भिन्न-भिन्न देव, मनुष्य, पशु, वर्ण, आश्रम आदि विभागोका जो हेतु हैं और सर्वज्ञानके भण्डार हैं, ऐसे ऋग्वेदादि नामक वेदोकी अनायास ही लीलान्यायसे पुरुष-निःश्वासकी तरह जिस महान् सद्‌रूप कारणसे उत्पत्ति होती है, क्योकि 'अस्य महतो०' इत्यादि श्रुति हैं, उस महान् सद्‌रूप ब्रह्मके निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्वके विषयमे तो कहना ही क्या है। यह 'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्रका पहिला अर्थ है।

अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र इस ब्रह्मके यथार्थस्वरूपके ज्ञानमे योनि अर्थात् प्रमाण हैं (यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रका दूसरा अर्थ है)। शास्त्र-प्रमाणसे ही यह ज्ञात होता है कि जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है, यह अभिप्राय है। पूर्वसूत्रमे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि शास्त्र उद्‌धृत हैं। (शका—) जब पूर्वसूत्रमे ही इस प्रकार शास्त्रका उदाहरण देते हुए सूत्रकारने 'ब्रह्म शास्त्र-योनि हैं' ऐसा दिखला दिया है तो फिर इस सूत्रका क्या प्रयोजन है? उत्तर यह कि पूर्वसूत्रके अक्षरोसे शास्त्रका स्पष्ट ग्रहण नही किया गया। इसलिए जगत्के जन्मादिका केवल अनुमानरूपसे उपन्यास किया है, कोई ऐसी शका करे तो उस शकाकी निवृत्तिके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

●

(३. १)

पूर्वसूत्रोंके साथ सम्बन्ध

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्, तत्तु समन्वयात्—यह वेदान्तदर्शनकी चतुःसूत्री कहलाती है। वेदान्तके विषयमे चार-चारका प्रसग बहुत है। ब्रह्म चतुष्पाद है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। ब्रह्मसूत्रके चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमे चार-चार पाद हैं। सारे ब्रह्मसूत्रका सार-अर्थ इन्ही चार सूत्रोमे आ गया है। यह महर्षि बादरायणका रचना-कौशल ही है।

प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'मे बताया गया कि जीवनमें विवेक होना आवश्यक है। अच्छे-बुरेका विवेक दूसरी चीज है। क्या कर्म (करणीय) है क्या अकर्म (अकरणीय) है, इसमे जैसे-जैसे उम्र और अनुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे यह विवेक-बुद्धि भी बढती जाती है। धर्मके सम्बन्धमे भी ऐसा ही है। जो जितना समझता है उसके लिए उतना ही ठीक है। परन्तु वस्तु-विषयक ज्ञान वस्तु-निष्ठ होता है। इसलिए जबतक वस्तु जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान न हो जाय तबतक चाहे कोई कुछ भी करे, कहे, समझे, सब अज्ञान ही रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान और (धर्माधर्मका ज्ञान) भी भौगोलिक दृष्टिसे अथवा साम्प्रदायिक दृष्टिसे अथवा जातीय या व्यक्तिगत दृष्टिसे अलग-अलग हो जाता है, परन्तु वस्तुका ज्ञान एक ही रहता है। बल्कि उस ज्ञानमें अलगाव ही अज्ञान है। इसलिए प्रथम सच्ची वस्तु क्या है और झूठी वस्तु क्या है—इसका विवेक किया जाना चाहिए। कालकी दृष्टिसे नित्य क्या है, अनित्य क्या है; देशकी दृष्टिसे पूर्ण क्या है,

अपूर्ण क्या है, वस्तुकी दृष्टिसे 'अहम्' क्या है, इदं क्या है?—इन तीनो प्रकारके विवेकका उदय होना चाहिए।

विवेकके उदयका लक्षण है—वैराग्य। अनित्य, अपूर्ण और 'इदम्'मे अरुचि—यही वैराग्य है। यह विवेकके परिणामस्वरूप जीवनमे प्रवेश करता है। जो लोग वेदान्त पढकर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि व्यापारमे चाहे जितना पाप कर लो, पाप नही लगेगा, वे लोग तो वेदान्तके अधिकारी ही नही हैं। वेदान्त उस अधिकारीके लिए है जो अनित्य, अपूर्ण और 'इदम्'को छोड़कर नित्य, पूर्ण और 'अहम्'मे रुचि रखनेवाला है। बिना विवेकके ऐसा हो नही सकता। इसलिए प्रथम कक्षा विवेककी है और दूसरी वैराग्यकी।

जब वैराग्य आता है तो छह बातें अपने आप जीवनमे आती हैं, इनको 'षट्सम्पत्ति' बोलते है। ये परमार्थ-पथिककी पूँजी हैं। ये हैं शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। परन्तु ये हमेशा रहती नही। इसलिए तब यह इच्छा होती है कि इस चित्तसे ही हमको मुक्ति मिल जाय—यह मुमुक्षा है। (इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षासे सम्पन्न अधिकारी—यह अथ-पदका अर्थ है)।

तब क्या करनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी—यह एक पक्ष है। किस देवताकी उपासना करनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी? यह दूसरा पक्ष है। कहाँ बैठनेसे चित्तसे मुक्ति मिलेगी? यह तीसरा पक्ष है। करना कर्म है, देवताकी आराधना उपासना है, बैठना योग है। इसमे कुछ करनेसे या उपासनासे या योगसे किसीसे भी चित्त नही छूटेगा क्योंकि ये सब चित्तके ही आकार-प्रकार हैं।

हाथसे अनात्मपदार्थको पकडे रखना भी चाहते हो और मुक्ति भी चाहते हो! इसमे हाथसे और कर्तृत्वसे मुक्ति कहाँ मिलेगी?

चित्तको देवताकार भी रखना चाहते हो और चित्तसे मुक्ति भी चाहते हो। इसमे देवता कहाँसे छूटेगा ? शान्तिसे बैठे रहना भी चाहते हो और चित्तसे मुक्ति भी चाहते हो। इसमे अज्ञान कहाँसे छूटेगा ?

यह समझमे आ जाना कि बिना तत्त्वज्ञानके मुक्ति नही हो सकती, यही अत ' पदका अर्थ है ।

इसके पश्चात् ही अनन्तकी जिज्ञासा चित्तमे उदय होती है । इसीको ब्रह्मजिज्ञासा बोलते हैं । ब्रह्म शब्दका अर्थ होता है :

परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षितत्वम् ब्रह्मत्वम् ।

देश-काल-द्रव्य, जीव-अजीव, प्रत्यक्ष-परोक्ष-अपरोक्ष वस्तुओंके जितने भी छोटे-छोटे टुकड़े है, सब परिच्छेद-सामान्य हैं। इन परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्त-अभावसे उपलक्षित (उस अभावका प्रकाशक एवं अधिष्ठान) जो चेतनतत्त्व है उसको ब्रह्म कहते हैं । यही जिज्ञास्य है ।

यह जिज्ञास्य ब्रह्म यदि प्रत्यक्-चैतन्यसे अभिन्न है तब तो पूर्ण है और यदि भिन्न है तो दोनो ही अधूरे हैं, कोई पूर्ण नही है । मान लो कि दोनो ही पूर्ण हैं तो किसको रखोगे ? आत्माको (अपने आपेको) या ब्रह्मको (अन्यको)। अन्यको रखोगे तो वह आत्माके बिना मालूम ही नही पड़ेगा और अपना अभाव तुम सोच नही सकते, क्योकि अभाव सोचनेवाला ही अपना आपा है। इसलिए अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होनेपर अपना आपा ही अद्वितीय सिद्ध होता है । जबतक अपना आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म नही होगा तबतक अद्वितीयता ही सिद्ध नही हो सकती। इस प्रकार सक्षेपमे यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'का भावार्थ हुआ ।

अब कहा कि ठीक है अपना आत्मा ब्रह्म है । परन्तु यह जगत्

क्या है ? यह तो कुछ सिद्ध नही हुआ न ! इसपर कहा कि 'जन्माद्यस्य यतः' ।

जहाँ आत्माको ब्रह्मसे अभिन्न समझनेकी जरूरत है वहाँ जगत् भी ब्रह्मसे अलग नही है—यह भी समझनेकी जरूरत है। अगर दुनिया ब्रह्मसे अलग है तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे ? और यदि जीव ब्रह्मसे अलग है तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे ? इसमे गणित यह है कि आत्मासे ब्रह्म जुदा नही है और ब्रह्मसे प्रपञ्च जुदा नही है, अतः आत्मासे प्रपञ्च जुदा नही है। आत्मा ही प्रपञ्च, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वरके रूपमे प्रतीत हो रहा है। ज्ञानस्वरूपकी ही प्रतीति हो रही है—सर्वके रूपमे !

यह अखण्ड आत्मबोध है। न यह आधिभौतिक शयन बनाम निद्रा है, न आधिदैविक शयन बनाम तल्लीनता है और न आध्यात्मिक शयन बनाम समाधि है ! इसमे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकका भेद नही है। यह तो ज्ञानका एक समुद्र है जिसमे प्रतीतिकी लहरें हिलोरें मारती रहती हैं परन्तु अधिष्ठान जल-रूप ज्ञानसे कभी अलग नही होती।

'जन्माद्यस्य यत'। यह दुनिया परमात्मासे बिलकुल जुदा नही है। परन्तु समझानेकी प्रक्रिया यह है कि पहिले ब्रह्मको दुनियासे अलग बताया जाता है और फिर दुनिया ब्रह्मसे अलग नही है—यह समझाया जाता है। जैसे सोनेको पहिचाननेके लिए पहिले उसे नाम-रूपसे अलग बताया जाता है कि जेवरसे सोना अलग है। तदुपरान्त यह बात समझमे आजाती है कि सब जेवरोके नाम-रूप सोनामे ही कल्पित है। जेवरसे न्यारा सोना है परन्तु सोनासे न्यारा जेवर नही है।

जो कार्यसे पृथक् करके परब्रह्म परमात्माको पहिचान लेता है

वही फिर पहिचान पाता है कि परब्रह्म परमात्मासे पृथक् जगत् नही है।

तो 'यह' के रूपमे (इदं रूपसे तथा इद सम्बन्धित अहं रूपसे) जो प्रतीत होता है अथवा अनुभव होता है अथवा स्फुरित होता है वह है जगत्। इस जगत्का (अस्य) जन्म, इस जगत्की स्थिति, इस जगत्का लय (जन्मादि) जिससे होता है (यत.) वह है ब्रह्म। 'जन्माद्यस्य यतः'।

यह सृष्टि आत्मासे हुई या ईश्वरसे? प्रकाशकी दृष्टिसे आत्मासे और उत्पत्तिकी दृष्टिसे ईश्वरसे। तो जगत्के दो कारण हुए—उपादान कारण ईश्वर और प्रकाशक (निमित्त) कारण आत्मा? कौषीतकी उपनिषद्में बताया कि जैसे सुषुप्तिकालमे सृष्टि आत्मामे लीन हो जाती है, वैसे ही प्रलयकालमे सृष्टि ईश्वरमे लीन हो जाती है। परन्तु जिस समय इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो सहित सो जाती हैं उस समय सुषुप्ति और प्रलयका भेद किसने देखा है? इसलिए जो सुषुप्ति-उपाधिक आत्मा है वही प्रलयोपाधिक आत्मा है। अतः इन्द्रियोंके सो जानेपर जो ईश्वर चैतन्य समष्टिमे शेष रहता है वही आत्म-चैतन्यके रूपमे व्यष्टिमे शेष रहता है। अतएव आत्मचैतन्य और ईश्वरचैतन्य दोनो अलग-अलग वस्तुएँ नही हैं, दोनों एक हैं।

सृष्टि 'इदं'रूप है, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयवाली है। जो सृष्टिका कारण है ('यतः') वह 'अनिदम्' है। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयवाला नही है। यह 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रसे बात निकलती है। अच्छा, वह कारण 'स.' है या 'अहम्' है? तो बोले कि 'सः' भी 'इदम्' रूपसे ही वृत्तिमे प्रतीत होता है; वह भी जात-अजात होता है। परन्तु आत्मदेव तो ज्यो-के-त्यों असग ही रहते हैं। इसलिए ईश्वर भी आत्मदेवसे भिन्न नही हो सकते। इसलिए जब 'जन्माद्यस्य

यतः' बोलते हैं तो सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें ही परमात्माका वर्णन करते है। माने सृष्टि बनानेवाला भी वही और बननेवाला भी वही। इसका यह अर्थ नही है कि वह दो रूपवाला है। 'बनानेवाला है'का अर्थ है कि वह सर्वज्ञ है और 'बननेवाला है'का अर्थ है कि उसमे सर्वभुवनसामर्थ्य है अर्थात् वह सर्वशक्ति है।

इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः'मे जो 'यत्' है वह सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् है। कहो कि इसमे तो विरोध होगा, क्योकि शक्ति बदलनेवाली चीज होती है और ज्ञान न बदलनेवाला होता है। तो इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान' तो ब्रह्मका स्वरूप है और शक्ति विवर्त है। इसलिए ब्रह्म विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है सृष्टिका। ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है और प्रपञ्च उसमे प्रतीतिमात्र है।

इस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मको जगत्‌के कारणके रूपमे निरूपण किया गया और उस निरूपणसे ब्रह्म सर्वज्ञ है यह अर्थत. प्राप्त भी हो गया, तथापि ब्रह्मकी सर्वज्ञताका स्पष्ट निरूपण नही हुआ। अत. अपने मुखसे ही ब्रह्मकी सर्वज्ञताका निरूपण करनेके लिए अगला सूत्र प्रारम्भ होता है·

शास्त्रयोनित्वात् (१.१.३)

सस्कृत भाषामे सूत्रप्रणाली होनेसे थोड़े-से-थोडे शब्दोमे अधिक-से-अधिक बात कह दी जाती है। ऐसा दूसरी किसी भाषामे नही है। हम तो खैर सब भाषाएँ नही जानते। परन्तु स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज जो द्वारकाके शंकराचार्य भी थे, वे कोई १५-२० भाषाएँ जानते थे और सुनते हैं उन्होने उन भाषाओमे परीक्षा भी दी थी। बाइबिल तो उनकी जुबानपर रहती थी। वे बताते थे कि सूत्रप्रणाली सस्कृत भाषाकी ही विशेषता है।

सब भाषाएँ शब्दको 'अर्थ-सकेतयुक्त मानती है। अर्थ पहिले रहता है फिर शब्द होता है, यह चार्वाकोंकी मान्यता है। पहिले (हृदयमे संकल्पपूर्वक) शब्द रहता है बादमे उसका अर्थ होता है—यह वैयाकरणोका मत है। शब्द और अर्थकी उत्पत्ति एक साथ होती है—ऐसा मीमांसक लोग कहते हैं। शब्द और अर्थं दोनों व्यावहारिक ही हैं—ऐसा बौद्ध लोग कहते है। दोनों सविद् हैं—यह शैव-सम्प्रदाय है। शब्द और अर्थ दोनों ब्रह्मके विवर्तं हैं—यह वेदान्त-सिद्धान्त है।

शब्दोकी भी अपनी एक विधा है और उसका ज्ञान होना बहुत आवश्यक है, खासकर सूत्रोंका अर्थ करनेमे। **अर्थ अमित अति आखर थोरे।** भगवान् शङ्कराचार्यजीने इस सूत्रके दो अर्थ किये हैं. (१) ब्रह्म शास्त्रोकी योनि अर्थात् कारण है, अतः ब्रह्मसर्वज्ञ है। दूसरा (२) शास्त्र ब्रह्मके विषयमें योनि अर्थात् प्रमाण है।

इन अर्थोंकी व्याख्या तो आपको आगे सुनायेंगे ही। परन्तु हम आपको यह बताना चाहते हैं कि आजकल जो वेदान्त कहानी-किस्से, छन्द, गजलके रूपमें सुना या सुनाया जाता है उससे वेदान्त कुछ पल्ले नही पड़ता। इन वेदान्तवादियके अन्तः-करणके एक कोनेमे द्वैत पड़ा रहता है, आसक्ति पड़ी रहती है, और दूसरे कोनेमे अद्वैत भी पड़ा रहता है। जो अन्त.करणसे खेलते हैं, वे वेदान्तकी छाया भी नही छूते। वेदान्त वह चीज है जिससे समस्त व्यक्तित्वका बाध होता है। इसके विपरीत धर्म, उपासना और योग सब व्यक्तित्वकी फुरना हैं। ये सब अव्यक्तमें लीन रहते हैं और अव्यक्त स्वयं परब्रह्म परमात्मामें एक फुरना-मात्र है, प्रतोतिमात्र है। अव्यक्त नामकी कोई वस्तु ब्रह्ममें नही है।

यह जो परमात्मा हैं वह आनन्द होनेसे प्रत्यगात्मा है, और ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रत्यगात्मा है। सबके मिट जानेपर भी अपना आपा नही मिटता। अपने अभावकी प्रतीति कभी किसीको नही हो सकती। सारे जगत्की प्रतीति अपने आपमे ही होती है। जगत्के उपादानकी और उसके निमित्तकी दोनोकी प्रतीति अपनेमें ही होती है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी प्रतीति अपने आपमे होती है और उनके कारण ईश्वरकी भी प्रतीति अपने आपमे होती है। यहाँतक कि यदि ब्रह्म भी अन्य हो तो उसकी प्रतीति भी अपने आपमे ही होगी। इसलिए देश-काल-वस्तुका परिच्छेद हुए विना ही अपना जो स्वरूप है वह अखण्ड, अविनाशी और अद्वय है। अखण्ड अर्थात् देश-परिच्छेदसे रहित, अविनाशी अर्थात् काल-परिच्छेदसे रहित और अद्वय अर्थात् वस्तु-परिच्छेदसे रहित।

जो ज्ञान व्यक्तिके अधीन होता है वह स्वरूप नही है। अनुवादक ज्ञान भी स्वरूप नही है। अनुवादक ज्ञान क्या? आँखसे जैसा घड़ा दीखा वैसा वुद्धिमे स्वीकृत हो गया। उसका वैसा ही वर्णन कर दिया। यह अनुवादक ज्ञान इन्द्रिय-परतन्त्र है। परन्तु आत्माकी ब्रह्मताका जो ज्ञान है (स्वरूप ज्ञान) वह पहिलेसे जाने हुएका ज्ञान नही है। जो सबको जानकर स्वयं अनजान रह जाता है यह तो वह ज्ञान है। इसमे इन्द्रिय, मन या वुद्धि कोई काम नही देती। यह तो जिन्होने अपने जीवन इस विपयके अनुसन्धानमे समर्पित कर दिये उन महापुरुषोके द्वारा ही जाना जा सकता है। कोई खालाजीका घर नही है ब्रह्मज्ञान!

यह वात पहिले कह चुके हैं कि 'जन्माद्यस्य यतः'मे कार्यसे कारणका अनुमान नहीं है। यह दृश्यमान जगत् किसीसे वना,

यह किञ्चित् अनुमान तो जगत्को देखकर हो सकता है परन्तु ब्रह्म ही कारण है यह अनुमान नही हो सकता। क्योंकि अनुमानके लिए व्याप्तिग्रह भी होना चाहिए। आपको क्या बतावें कार्य-कारणकी दुर्दशा! जिसने कभी माटीसे घड़ा बनते देखा ही नही है या जिसको ऐसा समझाया नही गया है, वह माटीको देखकर कभी सोच ही नही सकता कि इससे घड़ा बन सकता है और घडेको देखकर यह नही सोच सकता कि वह मिट्टीसे बना है। यह कार्य-कारणका सम्बन्ध जब पहिलेसे देखा होता है तभी अनुभव होता है।

तो यदि यथाकथञ्चित् 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से यह मान भी लें कि जगत् कार्य है और किसीसे पैदा हुआ है तो ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है यह बात कैसे मालूम पडेगी? उन लोगोको छोड़ दो जो ब्रह्मसूत्र और गीता फाड़ देनेकी बात करते हैं और अपनी लिखी हुई किताबोंको रखना चाहते हैं। (और मजा यह है कि उनकी किताबोमे भी ऐसी कोई मौलिक बात नही है जो पहिलेसे हमारे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र या गीतामें न कही गयी हो। वह तो चेला बनानेका एक स्टन्ट है उनका)।

ब्रह्मके साथ जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है यह बात इन्द्रिय-गम्य नही है और अनुमान भी नही है। यह बात केवल शास्त्रसे ही जानी जाती है। उसी शास्त्रसे ब्रह्मका ज्ञान होना शक्य है और उस शास्त्रका कारण स्वय ब्रह्म है। इससे ब्रह्म सर्वज्ञ है। शास्त्रयोनित्वात्। ●

(३. २)

ज्ञान-बीज ईश्वर

जीव बन्धनसे जकडा हुआ है। कर्ममे बन्धन है पाप-पुण्यका। भोगमे बन्धन है सुख-दुःखका। प्रेममे बन्धन है सयोग-वियोगका। सृष्टि मे चारो ओर भय, बन्धन और परतन्त्रता ही नजर आते हैं। तब भयसे, बन्धनसे, पराधीनतासे मुक्ति कैसे हो, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। **श्रुति पुरान बहु कहे उपाई,** परन्तु कोई काम नही बना पाता। यदि कदाचित् अपना आपा ही ब्रह्म निकल आवे तो सब समस्याएँ हल हो सकती हैं। ब्रह्मज्ञानका यही प्रयोजन है।

अपनेको ब्रह्म समझना बहुत आवश्यक है। जबतक आप अपनेको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि या अहकार समझते रहोगे अर्थात् जबतक आप अपनेको परिच्छिन्न समझते रहोगे, तबतक इनके बन्धनोसे मुक्ति नही मिल सकती। आपकी समूची पराधीनता मिटानेके लिए ब्रह्मज्ञान है।

सत्यको जाने बिना जो लोग जी रहे है वे तो पशुका जीवन जी रहे है! मुसलमानोके घरोंमें जैसे बकरे बँधे रहते है और खा-खाकर मोटे होते रहते हैं परन्तु उन्हे यह पता नही रहता कि वही उसका खिलानेवाला प्रिय कसाई उसको एकदिन मारनेवाला है। उसीप्रकार मनुष्य काल-चक्रमे सुखसे जी रहा है। न उसे यह मालूम है कि कहाँसे आया है। और न यह मालूम है कि कहाँ जायेगा। वह स्वय क्या है, यह जाननेकी कभी कोशिश नही की उसने। अन्धकारकी गुफामे बन्द, प्राप्त सुखके भोगमे मस्त! कभी भैरवजीके पास जाकर कहता है कि भैरवजी, हमे दु खसे छुड़ा दो, कभी यक्षिणीसे भविष्य मालूम करवाता है, कभी प्लेन्चेटके प्रेतकी शरण लेता है। वे जो अज्ञानान्धकारमे जीवन व्यतीत कर रहे है वे अत्यन्त दयाके पात्र है।

जन्म-मरण अपनी सत्ताके विपरीत हैं, अज्ञान अपने ज्ञान-स्वरूपके विपरीत है और दु खी होना अपनी आनन्दस्वरूपताके विपरीत है। हम जो हैं (सच्चिदानन्द अद्वय) अनेक विपरीत जीवन व्यतीत कर रहे है। जैसे डाकू लोग करोडपति सेठको पकडकर जंगलमे किसी अँधेरी कोठरीमे बन्द करदें वैसीही स्थिति मनुष्यकी है। अत आओ, अपने ब्रह्मस्वरूपको जाने और सम्पूर्ण बन्धनोंसे—जन्म-मरणसे, अज्ञानसे, दु खसे, आवागमनसे और परिच्छिन्नत्वसे—मुक्त हो जायें। यह जीवनका परम पुरुषार्थ

है। नही तो अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बने बैठे रहो कि हम बड़े सुखी है, चाहे वैसे कोई चार गाली देदे तो दुखके समुद्रमे डूब जायेंगे।

ब्रह्म अर्थात् ऐसा पदार्थ जिसमे कोई खण्ड न हो, जिसपर अविनाशी कालकी भी दाल न गले, जो परिपूर्ण हो (अर्थात् जिसमें हिन्दू-मुसलमान, मैसूरी-मराठी, पशु-पक्षी-मनुष्य इत्यादि का भेद न हो), जो सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र हो और जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न हो। ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासा हमे इष्ट है। यह कोई बच्चोका खिलौना नही है। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**।

जिज्ञासा माने इच्छा नही होता। क्योकि इच्छा कर्तृतन्त्र नही है। इच्छा कर्ताके अधीन नही होती। वह जब उदय हो जाती है तब तो ज्ञात होती है। इसीलिए पाप करनेसे या समर्थन करने से पाप लगता है, पाप इच्छासे पाप नही लगता क्योकि इच्छाका उदय मनुष्यके हाथमे नही है। विचार क्योकि कर्ताके अधीन है (कर्तृतन्त्र है) अत ब्रह्मकी जिज्ञासाका अर्थ है ब्रह्मका विचार। आइये ब्रह्मका विचार करे।

ब्रह्मका क्या लक्षण है? पहिचान बताओ? अपने-अपने ढंगसे सब बोलते है। नास्तिकोमे जैन और आस्तिकोमे योगी लोग 'त्वप्रधान'-लक्षण 'असगता' करते है और बौद्ध लोग 'त्वं'-पदार्थका भी निषेध करते है और शून्यताप्रधान लक्षण करते हैं। योगीयोमे आस्तिक वर्ग ईश्वरप्रणिधानपूर्वक आत्माकी असंगताको लक्षण बनाते है। जैनी लोग साधनसे असगताका और साख्यवादी विवेकसे असगताका प्रतिपादन करते है। परन्तु ब्रह्मका यह वेदान्तोक्त लक्षण नही है। आजकल तो सभी लोग अपनेको वेदान्ती कहते हैं—शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य। परन्तु सब अद्वैत वेदान्तका विरोध करते है। 'ब्रह्म है', 'ब्रह्म साक्षी है',

'ब्रह्म आनन्द है' ये सब अधूरे लक्षण है। असली लक्षण ब्रह्मका यह है कि ब्रह्म प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न है, देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है और अद्वय है।

अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए यह जो नानात्मक प्रपञ्च दिखाई पड़ रहा है उससे उसका सम्बन्ध जोडना पडता है। ब्रह्म अद्वितीय है तो यह प्रपञ्च क्या है? असलमे कहना यह है कि प्रतीत प्रपञ्च ब्रह्मसे अलग नही है या कि आत्मासे अलग नही है, परन्तु तब जब कि आत्मा और ब्रह्मकी एकताका समझ लो। इस एकत्वकी सिद्धिके लिए दो विभाग करते है विचारका प्रपञ्चका कारण कौन? प्रपञ्चका प्रकाशक कौन? असलमे जादूगरके जादू की तरह प्रपञ्चकी प्रतीति होती है।

१९३६–३७की बात होगी। पॉल ब्रटन नामका एक पत्रकार श्री उडिया बाबाजी महाराजके पास आया था। वह चमत्कार-प्रेमी था, चमत्कार देखता फिरता था। बाबासे उसने कहा कि कोई चमत्कार दिखाइये। अब महात्मा लोग तो चमत्कारोंको नीचा ही समझते है। अतएव वे बोले. 'पानीकी एक बूँदसे इतना बडा शरीर निकला और वह हँसता-खेलता-बोलता है, नाचता-गाता है, बच्चे पैदाकरके मर जाता है और फिर पानीकी बूँदमे ही मिल जाता है। यदि यह जादू नही मालूम पड़ता तो किसी और जादूको क्या जादू समझेगा?

प्रपञ्च अर्थात् पाँच जादूके हथकडे जो हमारे पास है—ये ज्ञानेन्द्रियाँ, उनसे अनुभूत जो सत्ता है वही प्रपञ्च है। एक ही सत्ताको ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्रकारसे दिखाती है। कान शब्दरूपमे त्वचा स्पर्शरूपमे, नेत्र रूपके रूपमे, जिह्वा रसरूपमे, नाक गध रूपमे,। वह जादूगर कौन है जिसने एकको पाँच बताया? तो कहा कि जादूगर है तो परन्तु जादूके खेलसे न्यारा है। 'जन्मा-

द्यस्य यत '। जगत्के जन्मादिका खेल जिस जादूगरके द्वारा हो रहा है वह ब्रह्म है। अधिष्ठानके पर्देपर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, कोटि-कोटि ब्रह्माडोंके कोटि-कोटि जीव और अधिपति, उनके अलग-अलग देश, काल और वस्तु जो दिखाई पड रहे हैं वह अधिष्ठान कौन है ? और उस दृश्यका प्रकाशक कौन है ? वह कौन है जो जादू दिखाता है परन्तु जादूके खेलकी तरह आता-जाता नही है, जो ज्ञानी-अज्ञानी बनकर बैठता नही, जो सुखी-दु खी बनकर बैठता नही ? जो दीखता है वह सब तो ढोंग है। सुखी-दु खी होना ढोंग है, ज्ञानी-अज्ञानी बनना ढोंग है, मरना भी ढोंग है और अजर-अमर होना भी ढोंग है। इन ढोंगोंको दिखाता हुआ जो इनके भीतर है, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा, असलमे उसको पहिचानना है। जो जन्म-मृत्यु, दृश्यता, सुख-दु ख, राग-द्वेष, सयोग-वियोगवाला है वह प्रपञ्च है और जो इन वाला नही है वह अद्वय पदार्थ ब्रह्म है। 'जन्माद्यस्य यत ' मे वही यत् है।

एति इति यत्। ऐति सर्वरूपेण अवभासते इति यत्। **स जन्मवन्नभवति स्थितिमन्नभवति भङ्गवन्नभवति। तर्हि किं भवति ? अनिदं भवति इदंताक्रान्तं न भवति। वाङ्मनसागोचरं भवति।**

यदि वह जन्म-स्थित-भंगवत् नही होता, इदन्ताक्रान्त नही होता और मन-वाणीका विषय नही बनता तो फिर वह जगत्का कारण है और जगत् उसका कार्य है यह कैसे मालूम हुआ ? जबतक सृष्टि सच्ची मालूम पडती है तबतक ब्रह्मका ऐसा ही (कार्य-कारण) सम्बन्ध जोडते हैं कि जगत् ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है। परन्तु यह पैदा होना कैसा है ? सपनेमे एक पैंतीस वर्षका आदमी आया उसका नाम था लोकूराम। उसके साथ उसका पाँच वर्षका बेटा भी आया—प्रपचूराम नाम था उसका। लोगोने कहा कि बाप-बेटा आये। बापने भी और बेटेने भी उसकी स्वीकृति दी। परस्पर

बाप-बेटा पक्के होगये ! परन्तु जरा सोचो। वे दोनो एक ही क्षणमे पैदा हुए, एक ही गर्भाशय (अन्त करण) मे पैदा हुए एक ही बीज वासनासे एक ही उपादानसे दोनों पैदा हुए। फिर उनका बाप-बेटा-का सम्बन्ध कैसा ? (कुछ ऐसा ही है ब्रह्म और जगत्‌मे कारण-कार्यका सम्बन्ध)।

इसलिए ब्रह्मकी पहिचान क्या ? कूटस्थ वह मूल पर्दा है और उसपर यह सब दृश्य जगत् आता-जाता रहता है। ब्रह्म यदि जड़ पदार्थ होता तो वह बीजात्मक हो सकता था, परन्तु चेतन होनेसे उसमे बीजात्मकता नही हो सकती। तो बीज उसकी उपाधिमे होगा ? हाँ बीज उपाधिमे ही होना चाहिए। उपाधि माने यही होता है कि जो किसीके पास रह करके अपने गुणको उसमे प्रदर्शित करे वह उपाधि कहलाती है। उपाधिका कार्य है कि दूसरेमे कोई चीज है और दूसरेमे मालूम पडती है। असलमे सत्‌मे भी बीज नही हो सकता, चेतनमे भी नही हो सकता और आनन्दमे भी बीज नही हो सकता। ज्ञानमे वृत्त्यात्मक भेद, सत्‌मे आकृत्यात्मक भेद और आनन्दमे विषयगत भेद है, वह सब अन्त करणकी और इन्द्रियोकी उपाधिके कारण है। सत्ता अद्वैत है, चित् अद्वैत है और आनन्द भी अद्वैत है। और अद्वैत + अद्वैत + अद्वैत = अद्वैत ही रहता है। अद्वैतमे जोड-घटाना, गुणा-भाग नही होते।

'जन्माद्यस्य यत' कहकर जगत्कारण ब्रह्मके चेतन होनेकी सूचना दी गयी है और साथ ही यह भी कि वह चेतन सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ माने क्या होता है कि जब हम सच्चिदानन्दके साथ कर्मकी उपाधि जोडते है तो सत्ता है वह महाकर्ता के रूपमे और जो चित्ता है वह सर्वज्ञके रूपमे और जो आनन्द है वह महाभोक्ताके रूपमे प्रतीत होता है। उपाधि जोडते है हम, चन्दन-टीका लगाते हैं हम

और वह उतर आता है फोटोमे। यही महान् कर्ता, (सर्वशक्तिमान्), सर्वज्ञ और महाभोक्ता ईश्वरके रूपमे विख्यात है।

यह जीव भी इस शरीरमे औपाधिक ही है। जैसे बीजको अकुरित होनेके लिए अनुकूल स्थान, अनुकूल मिट्टी, अनुकूल समय और अनुकूल पोषण चाहिए, उसी प्रकार जीवके लिए भी स्त्री-आश्रित अनुकूल-स्थान (गर्भाशय), अनुकूल मिट्टी (गर्भाशयकी अनुकूल धातु), अनुकूल समय (स्त्रीका ऋतु-काल), और पुरुषाश्रित अनुकूल क्रिया और सस्कार चाहिए। तभी जीव बोया जा सकता है।

अधिष्ठानता, प्रेरकता, सर्वज्ञता—ये चेतनके औपाधिक उपद्रव है। और अध्यस्तता, नियम्यता, अल्पज्ञता—ये भी चेतनके औपाधिक उपद्रव है। ईश्वर और जीवमे इन्ही औपाधिक उपद्रवोका ही भेद है, तत्त्वत नही है।

यह ईश्वर अपने शरीरमे रहता है या नही? रहता तो है। कार्यमे कारण अनुगत होता है। जहाँ कार्योपाधि है वहाँ कारणोपाधि तो है ही। वल्कि कारणमे कार्य कल्पित ही है इसलिए कारणोपाधिक ईश्वरमे कार्योपाधिक जीव कल्पित ही है। हम जीवको जानते है परन्तु अज्ञानवश उसके ईश्वरत्वको नही जानते। इनीसे अभी, यही, इसी शरीरमे ईश्वर रहता हुआ हमसे अज्ञात है।

दुनियामे इतना ज्ञान-विज्ञान निकलता है, इतना अनुशासन निकलता है, इतनी बुद्धियाँ निकलती हैं—वे सब कहाँसे निकलती हैं? उनका उद्गम कहाँ है? जैसे ईश्वर सर्वबीजात्मक कारण है वैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, और न केवल प्रतीयमान जगत्का ही कारण है बल्कि जो अलग-अलग बुद्धियाँ है उनको भी उसीने बनाया है। इन बुद्धियोमे-से जो अलग-अलग शास्त्र निकलते

है वे कहाँसे पैदा हुए ? वे भी उसीके ज्ञानकी परछाईं है। उसीके ज्ञानके आभास अन्त करणमे पडकर सब जीव अल्पज्ञ हो रहे हैं और ईश्वर सर्वज्ञ हो रहा है।

जब कारणरूपसे ब्रह्मको समझाते है (जन्माद्यस्य यत) तो यह बात समझाते है कि प्रपञ्चकी मूल सत्ता उसीमे (ब्रह्ममे) निहित है। और जब सम्पूर्णवृत्तियोके कारणके रूपमे ब्रह्मको समझाते हैं (शास्त्रयोनित्वात्) तो सम्पूर्ण ज्ञानोका जो मूल ज्ञान है वह भी ब्रह्ममे ही निहित है, यह बात समझाते है। यद्यपि प्रपञ्चका कारण सर्वज्ञ होना ही चाहिए यह बात अर्थत 'जन्माद्यस्य यत.' से निकल आती है, तथापि 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र उसी बातको स्पष्ट करता है। इस प्रकार दूसरे और तीसरे सूत्रको मिलाकर यह बात कही गयी कि जगत्की खण्ड-खण्ड सत्ता ओर उसके समस्त खण्ड-खण्ड ज्ञान, अल्प-महान् ज्ञान, सबका कारण एक अखण्ड सत्ता ब्रह्म है जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है।

ईश्वरने सृष्टि बनायी (जन्माद्यस्य यत) तो उसने अपने बच्चोको (जीवोको) कुर्सी भी दी (शरीर दिया) और साथमें उनके सस्कारके लिए, उनकी शिक्षा-दीक्षाके लिए शास्त्र भी बनाया, उनको एक शाश्वत सविधान भी प्रदान किया (वेदका)। यह जगत्, यह शरीर, यह बुद्धि, यह बुद्धिगत ज्ञान और सम्पूर्ण शास्त्र सब एक ही ईश्वरने बनाये, एक ही ईश्वरसे बने। 'शास्त्र-योनित्वात्' और जन्माद्यस्य यत '।

यहाँ विचारकी एक गलती यह होती है कि हम मानने लगते है कि ईश्वरने सृष्टिके प्रारम्भमें ही ज्ञान दिया। माने ईश्वर अमुक कालमे ही ज्ञान देता है। ऐसा नही है। ज्ञान कहाँ दिया ? अन्तर्देशमे या बैकुण्ठमे ? ईश्वर इसी समय यही और इसी शरीरमे बैठकर ज्ञान दे रहा है और ईश्वर शरीरके बाहर रहकर भी ज्ञान

देता है। यदि ईश्वर कालमे ज्ञान फूंकता है। यदि ईश्वर देशमें ज्ञान बिखेरता है तो वह वस्तुओमें ज्ञान बिखेरता है या नही ? अवश्य बिखेरता है। ईश्वर भीतर बैठकर तो ज्ञान देता ही है बाहर बैठकर भी ज्ञान दे रहा है। 'अग्निमे हाथ मत डालो' यह अनुशासन ईश्वर स्वयं अग्निमें बैठकर सिखाता है। सस्कारमें बैठकर माताका दूध पिलाना ईश्वर नन्हे-नन्हे बच्चोको सिखाता है। हमने कुतियाके नवजात पिल्लोको, जिनकी अभी आँखें भी नही खुली, देखा है कि वह मुँहसे माताके स्तन टटोल-टटोलकर कैसे दूध पीते हैं ? कौन उन्हे यह सिखा रहा है ?

शास्त्रका अभिप्राय समझो। वह कहता है :

अन्त प्रविष्टः शास्ता जनानाम्

प्राणियोके अन्त मे बैठकर वही शासन करता है। सृष्टिकी आदिमे रहकर शासन करता है या वैकुण्ठमे रहकर या ध्रुवधाम या कुल्लेमालिकमे बैठकर अनुशासन करता है—यह दूसरी बात है। असलियत यह है कि वह ईश्वर ऐसा है कि यहाँ रहकर भी शासन करता है और वहाँ रहकर भी शासन करता है, बाहरसे भी करता है और भीतरसे भी करता है।

इस अनुशासनकी योनि अर्थात् कारण क्या है ? अपना ज्ञान-स्वरूप। अपनी अज्ञात ज्ञानस्वरूपता ही ईश्वर है, वेदान्तमे यह बात बिलकुल साफ है। सब ज्ञानोका खजाना ईश्वर है, यह बात तब कहते हैं जब अपनी ज्ञानस्वरूपता अज्ञात है। और जब अपनी ज्ञानस्वरूपता ज्ञात हो जाती है तब कहते है कि देश, काल, वस्तु, क्रिया, संस्कारकी उपाधिके स्पर्शके बिना जो अविनाशी, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप है, वह अद्वितीय है। इसलिए वही ईश्वर और वही इस जगत्के रूपमे विराजमान है। 'शास्त्रयोनित्वात्'। ●

शास्त्रयोनि भी ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यत। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होना माने दु ख, भय, जन्म-मरण, आना-जाना इत्यादि जिस ब्रह्मके अज्ञानसे हो रहे है उस अज्ञानकी निवृत्तिके उपायका अनुसन्धान। यह मनुष्य इतना हठी है, जैसे कि यह हठ उसकी छठीमे ही डाल दिया हो, कि वह अपने अज्ञान-को ही ज्ञान समझता है। **'अज्ञाने ज्ञानमानिन'**। (विष्णु पु० १ ५ ९) जिस समय क्रोध आता है उस समय मनुष्यकी बुद्धि क्रोधको ही ठीक समझती है परन्तु बादमे पछतावा होता है। इसी प्रकार जब कामका, लोभका, मत्सरका नशा (आवेश) चढता है तब-तब समझ (बुद्धि) विश्वसनीय नही रह जाती। इस नासमझीके काबूमे होकर जो काम आप करते है, वह बहुत तकलीफ देता है। वेदान्तका कहना यह है कि आप अपनी नासमझीको दूर कर दीजिए तो जितने दु.ख है, वे सब दूर हो जायेगे।

आपको एक बाण लगा हुआ है। वह जब-जब चुभता है तब-तब आप बेहोश हो जाते है, मरता हुआ-सा अनुभव करते है, दु खी अनुभव करते है। उस बाणको निकाल देनेके लिए और आपका निर्वाण करनेके लिए यह ब्रह्म-ज्ञान प्रारम्भ होता है। यदि यह समझमे आजाय तो यह भी सुख और वह भी सुख, जन्म-मृत्यु भी सुख और इनसे मुक्त होना भी सुख। यह ऐसा अखण्ड जोवन, अखण्ड ज्ञान, अखण्ड आनन्द है जो केवल जन्ममे ही नही मृत्युमे भी रहता है, होशमे भी रहता है और बेहोशमे

भी रहता है, जिसको पानेके लिए भी और मिल जानेके वाद सुरक्षित रखनेके लिए भी आवृत्तिकी जरूरत नही है। वह मिलता है एक चोटमे, तत्त्वमस्यादि महावाक्योंके द्वारा और पहिचान लेनेके वाद आवृत्तिकी कोई जरूरत नही। यह ज्ञान विलक्षण है, यह कोई मजदूरी नही है। न यह कर्मसे निर्मित स्वर्गादि-फल है और न यह उपासनासे निर्मित इष्टदेवकी आकृतिरूप है। यह कोई अभ्याससे सिद्ध स्थिति या चित्तकी अवस्था भी नही है। इसमे न आँख वन्द करनी है न खोलनी है, न टेढी करनी है। असलमे जो चीज ज्यो-की-त्यो है उसको पहिचाननेकी वात है। वादमे देखोगे कि जीवनमे जितने दु ख थे वे सब इसी तत्त्वको न पहिचाननेके कारण थे।

वह तत्त्व क्या है ? तो व्यवहारके लिए उसका नाम रखा 'ब्रह्म'। ब्रह्म एक नाम है। कुछ और नाम रख लो उसका—राम, कृष्ण, शिव। कच्चे वेदान्ती डरते है इस नाम-बदलसे। और उपासक लोग अपने-अपने इष्टदेवके लिए लडते हैं, जैसे छोटे-छोटे राजा अपने छोटे-छोटे राज्योके लिए लडते हैं। परन्तु सच्चे वेदान्ती तो चक्रवर्ती सम्राट्के मानिन्द है। उनके 'अद्वितीय' राज्य मे सघर्ष कहाँ ?

तत्त्व माने 'आकार-आरोप किये विना वस्तुका जो स्वरूप है वह'

अनारोपिताकार तत्त्वम्।

तत्त्वज्ञकी दृष्टि आकृति-विशेषपर नही रहती, वह वस्तुके सार-स्वरूपपर रहती है। ब्रह्मज्ञान विशिष्ट आकृतिकी प्रतीतिका विरोधी नही है, प्रतीति होवे तो होवे, परन्तु उस प्रतीतिकी सत्यताका विरोधी है। विशिष्ट अवयव-सस्थानका नाम आकृति है। आकृतिमे जो वर्ण है वह रूप है और उस सरूप आकृतिका एक

नाम होता है *। इस प्रकार आकृति मुख्य है और नाम-रूप उसीसे सम्बन्धित है। आकृतिमे जो नाम-रूपका आरोप है, उसको एक बार हम अपनी बुद्धिसे हटादे, बुद्धिसे उसका अपवाद करे। बादमे जो आकृतिके आरोपसे विनिर्मुक्त धातु है उसको ब्रह्म पहिचानना तत्त्वज्ञान है।

जो हर घड़ेमे है, सबमे परिपूर्ण है और घडाका भेद होनेपर भी (उपाधिका भेद होनेपर भी) अभिन्न है, वह घटतत्त्व है।

नाम-रूपका निषेध कर देनेपर अर्थात् प्रतीतिके विषयका निषेध कर देनेपर क्या बचता है ? जिसको प्रतीति हो रही है वही बचता है, अन्य कुछ नही बचता। बुद्धिमे न परमाणु बचता है, न विषय, न इन्द्रियाँ, न अन्त करण, न प्रकृति, न शून्य, न ईश्वर। जिसके द्वारा सब प्रकाशित होता है बस, वही बचता है।

देश-काल-वस्तु कुछ नही है, प्रतीति है। सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद कुछ नही है, प्रतीति है और प्रतीति वास्तविक नही है, प्रतीतिमात्र है और प्रतीति स्वरूपमे अन्यवस्तु नही है, वस्तुत. स्वरूप ही है। यह प्रतीतिके विषयको निषेधका स्वरूप है। निषेध कर देनेपर निषेधावधिके रूपमे अपना आपा ही बचता है। वही तत्त्व है और वही ब्रह्म है।

ब्रह्म माने होता है—'परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षितत्वम् ब्रह्मत्वम्'। जितने प्रकारके खण्ड-खण्ड टुकड़े है—कोई परिणामसे अनेक होता है, कोई उपाधिसे अनेक होता है, कोई विकारसे अनेक होता है, कोई अवस्थासे अनेक होता है—माने

---

* 'मोहन काले रगका मनुष्य है।' इस उदाहरणमें मनुष्य एक आकृति है। काला रग उस आकृतिका रूप बताता है और मोहन उस आकृतिका नाम है।

जितने प्रकारके परिच्छेदकी किस्म है, जातियाँ हैं, उनके अत्यन्त अभावने उपलक्षित ब्रह्मतत्त्व है। एक बार इन परिच्छेदोको निकाल दो। जैसे क्षण-क्षणमे काल है, तो क्षण-क्षणका ख्याल मत करो। क्षणभेदसे मुक्त काल अधिष्ठानसे भिन्न नही होता। इसी प्रकार ऊपर, नीचे, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिमका ख्याल मत करो, इन पूर्व, पश्चिमादिके भेदसे मुक्त जो देश है वह अधिष्ठानसे भिन्न नही होता। मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गधके भेदसे रहित जो सत्ता है वह भी अधिष्ठानसे भिन्न नही होती। इसलिए भेदरहित जो सन्मात्र, चिन्मात्र, कालमात्र वस्तु है वह सविन्मात्र आत्मासे अभिन्न वस्तु है। आत्मासे काल अभिन्न होनेके कारण आत्मा अविनाशी है, देशके अभिन्न होनेके कारण आत्मा परिपूर्ण है और वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण आत्मा अद्वय है, और स्वय आत्मा चिन्मात्र है। आत्माके नाशके लिए कोई काल नही है, इसके सकोचके लिए कोई देश नही है और इसको दूसरा बनानेके लिए कोई वस्तु या द्रव्य नही है।

ऐसा जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, जो अखण्ड तत्त्व है उसको ब्रह्म बोलते है। ब्रह्म ऐसा है ही, इसको साधनसे ऐसा बनाना नही है, अभ्याससे इसको ऐसा बनाना नही है, उपासनाका तदाकार वृत्ति-रूप फल यह नही है, यह धर्मका फल स्वर्ग-रूप भी नही है। यह तो जैसा है यथार्थ परामार्थमे, उसको वैसा ही जानना मात्र है इसलिए केवल अज्ञानकी निवृत्तिके सिवाय इसमे कोई दूसरा कर्तव्य उपस्थित नही होता। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**। केवल आत्म-दर्शन ही अपेक्षित है।

किसीने कहा . आओ दोहरावें। महात्माने कहा · यदि एक चोटमे नही देखा तो दोहराओ। बोले : अच्छा अब देख लिया। अब भी दोहरावे तो ? महात्माने कहा : अभी नही देखा तुमने !

क्योंकि तुम अपनेको (अभ्यासका) कर्ता तथा (उसके फलका) भोक्ता समझते हो।

यह जो वेदान्तकी प्रक्रिया है वह साधनरूप नही है, प्रमाण-रूप है। साधन प्रक्रिया धर्म है, उपासना है, योग है, समाधि है, विश्राम है, असगता है, द्रष्टा-दृश्यका विचार है। वेदान्त-प्रक्रिया तो उस पर्देको फाड देनेकी है जो वस्तुकी अद्वयताके प्रकाशनमे बाधक हो रहा था। केवल प्रतिबन्धकी निवृत्ति होती है वेदान्तमे, वस्तुकी उत्पत्ति नही होती।

ये दुनियादार लोग जो है वे काम करते-करते जब थक जाते है तो उनको थकान मिटानेके लिए विश्राम चाहिए। विक्षेपीको समाधि चाहिए, जिनका प्यारा खोगया है उनको उपासना चाहिए, जिनको अप्सरा चाहिए उन्हे धर्म चाहिए (क्योकि स्वर्गमे वह सब मिल जायेगा)। वेदान्तमे ज्ञानकी पिपासा चाहिए क्योंकि इसमे तो जो है उसीको पहिचानना मात्र है। इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

ब्रह्मको समझनेके लिए दो और दृष्टियाँ। एक तटस्थ लक्षण और दूसरा स्वरूप लक्षण। लोकप्रसिद्ध अनुभवका अनुवाद करते हुए श्रुति ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बनाती है : **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०'**। इसीको सूत्रारूढ किया **'जन्माद्यस्य यत**। और स्वरूप लक्षणके रूपमे श्रुतिने कहा : **'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म'**।

ब्रह्मज्ञानके लिए यह जरूरी है कि सम्पूर्ण भेदका निषेध हो, तभी अभेद ब्रह्मकी सिद्धि होगी और तभी अपनेको अभेद ब्रह्मके रूपमे जानेगे। परन्तु यह (निषेध) तभी हो सकता है जबकि भेद मिथ्या हो क्योकि यदि भेद सत्य होगा तो अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नही हो सकेगी। इसलिए ब्रह्मकी अद्वितीयताको सिद्ध करनेके लिए प्रपञ्चके मिथ्यात्वका साधन किया जाता है।

मिथ्यात्वके साधनसे मतलव कोई सीधे वैठना नही है या रीढकी हड्डीको सीधा करके किसी चक्रके चक्करमे पडना नही है। क्या वतावे आपको साधनकी वात। एक कीनाराम सम्प्रदाय है। हमारे गाँवके पास काशीके रामगढ गाँवमे कीनाराम जीका जन्म हुआ था। हमारे सामनेकी वात नही है यह। कोई १५० साल पहलेकी वात है। उनकी वडी-वडी सिद्धि मशहूर है। उनके सम्प्रदायको 'अघोरी सम्प्रदाय' कहते है, वे लोग सव कुछ खाते है और सव कुछ करते है। उनका कहना है कि शरीरमे साँस चलनेसे जो नाभि हिलती है उसको तुम देखो। लो तुम होगये शरीरसे जुदा। इसका नाम वेदान्त नही है।

कोई मूलाधारमे लीन करते है तो कोई स्वाधिष्ठानमे जाग्रत् करते हैं, कोई मणिपूरकको हिलते हुए देखते है तो कोई अनाहतमे वृत्तिके लय-उदयको देखते हैं। कोई कण्ठकूप (विशुद्धचक्र)मे डुवकी लगाते है तो कोई आज्ञाचक्रमे शिवका दर्शन करते है। कोई सहस्रारमे गुरुसे तल्लीन होते हैं तो कोई इष्टदेवताका हृदयमे ध्यान करते हैं। कोई ब्रह्मरन्ध्रमे समाधि लगाते है तो कोई भावसे तदाकार होते है। यह साधनकी प्रक्रिया दूसरी चीज है और प्रपञ्चके मिथ्यात्वका साधन दूसरी चीज है। वेदान्तमे तो जैसे आँखसे रूप देख लिया जाता है वैसे अपनेको (महावाक्य जन्य प्रमाके द्वारा) ब्रह्म जान लेनेकी प्रक्रिया है। इसमे दोहराना या अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नही है। अपनेको ब्रह्म जान लेने मात्रसे (अर्थात् प्रपञ्चके प्रकाशकको प्रपञ्चका अधिष्ठान अनुभव कर लेने मात्रसे) प्रपच मिथ्या हो जाता है।

दूसरे साधनोकी चर्चा मै वीच-वीचमे करता हूँ। वह उन साधनोके दोप वतानेके लिए नही करता, वल्कि आपको ब्रह्मज्ञानमे प्रवृत्त करनेके लिए करता हूँ। दिनके लिए रातका ज्ञान आवश्यक है। अद्वैतके लिए द्वैत-दर्शनके दोप वताने भी आवश्यक है।

दोप-दर्शनपर एक बात याद आगयी। अभी १२ मार्च (१९७०) को ही काशीसे वृन्दावनके लिए आये तो रास्तेमे एक प्रसिद्ध उद्योगपतिके यहाँ ठहरा। आप लोग जानते है उन्हे। हम नाम भी वताये देते है उनका—सेठ पद्मपति सिंघानिया। सेठजी और उनकी धर्मपत्नी वैठी थी। वात निकल पडी आजके साधु-सन्यासियोपर। मेरे मुँहसे निकल गया कि सव 'खरिया पल्टन' है। सेठजी बोले "स्वामीजी आप ऐसा क्यो वोलते है। सव तरहके लोगोकी आवश्यकता होती है। ये जो दुनियामे गजेडी-भगेडी प्रकृतिके लोग है, वे क्या आपके पास सत्सग करने आयेगे? वे उन्ही साधुओके पास जायेगे जो शराव, गाँजा-भाँग पीते हो। वहाँ वे गाँजा भी पीयेंगे और बादमे थोडी देर भगवान्के नामका कीर्तन भी करेंगे। कुछ तो वुद्धिपर असर पडेगा ही।" इसके वाद सेठानीजी वोली "स्वामीजी, हम किसी साधु-सन्यासीके पैर नही छूते। परन्तु जब हम मोटरपर चलते हैं और सामनेसे गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासी वेशमे कोई साधु निकलते हैं तो हम मोटरमे-से उन्हे हाथ जोड ही लेते है। यह उनके वेशका प्रभाव तो है ही कि वह हमारे अहकारको झुकानेके लिए एक अवसर प्रदान करते है। फिर 'खरिया पल्टन'से क्या नुकसान है।" मै उन दम्पतीके श्रद्धा-विश्वास और दोप-दर्शन न करनेके गुणसे वडा प्रभावित हुआ। मैने अपनी गलती मान ली कि मुझे 'खरिया-पल्टन' जैसा शब्द प्रयोग नही करना चाहिए था। अस्तु।

बात हम यह वताना चाहते है कि जबतक धर्मानुष्ठानका निषेध नही करेगे तबतक आत्माके कर्तृत्वका भी ठीक निपेध नही होगा। हम अधर्मानुष्ठानके वारेमे नही वोलते क्योकि हमारा विश्वास है कि हमारे श्रोता यह तो समझते ही है कि अधर्म नही करना चाहिए। परन्तु एक अवस्था ऐसी भी है कि धर्मको भी छोड़ना पडता है। हम आपसे कहाँ कहते है कि आप काम-क्रोध-

लोभ आदिको छोडो। यह तो आप समझते ही है कि ये नरकके द्वार हैं। परन्तु हम तो आपसे यह कहते है कि उपासनासे भी ऊँचे उठो, वर्ना भोक्तृत्व बना रहेगा। विक्षेप छोडो, हम यह नही कहते क्योकि सभी लोग विक्षेप तो चाहते ही नही। हम तो कहते है—आप शान्ति, समाधिसे ऊपर उठो वर्ना अज्ञान नहीं मिटेगा। हम सगीपना और तादात्म्यका निषेध नही करते क्योकि आप सब लोगोको यह बात मालूम है कि आत्मा सगी नही है और आत्मा देह नही है। हम तो असग साक्षीसे भी ऊपर उठनेको कहते है क्योकि कही ऐसा न हो कि यह गुफाका कैदी बनकर ही रह जाय। उस असग साक्षीको ब्रह्मके रूपमे जानो।

और इसके लिए साधन प्रक्रिया नही है, प्रमाण प्रक्रिया है। साधनमे कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अज्ञान और परिच्छिन्नत्वके निषेधका सामर्थ्य नही है। इसीलिए धर्म, उपासना, योग और साख्य आत्माकी ब्रह्मताका अपरोक्ष ज्ञान नही करा सकता। इसमे तो औपनिषद महावाक्यजन्य अखण्डार्थ धी ही वास्तवमे प्रमाण है।

पहिले जिसमे भेद भास रहा हे वह भेदके अत्यन्ताभावका भी अधिष्ठान है। फिर जिसको भेद भास रहा है वही भेदके अत्यन्ताभावका भी प्रकाशक है। इसलिए भेद और भेदके अत्यन्ताभावका प्रकाशक और अधिष्ठान एक ही है। ऐसी स्थितिमे भेद कोई वस्तु ही नही हे। केवल स्वयप्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अधिष्ठान ब्रह्म ही है।

उक्त ब्रह्मको लखानेके लिए जो युक्तियाँ है एक तटस्थ लक्षण और एक स्वरूप लक्षण। 'जन्माद्यस्य यत' मे तटस्थ लक्षण है। भेद किसने जन्मा? किसमे स्थिति है भेदकी? और किसमे भेद-लय होता है? तो निरूपण तो करेगे भेदका और सिद्ध होगा ब्रह्म। तटस्थ लक्षण इसीको कहते हैं कि 'तदभिन्ने सति वोधकम्

तटस्थलक्षणम् ।' लक्ष्यसे अलग रहकर जो लक्ष्यको दिखाये उसका नाम तटस्थ लक्षण है। तटस्थ = किनारे पर रहनेवाला।

एक आदमी वृन्दावनमे भटक रहा था। आकुल-व्याकुल। कृष्ण कहाँ है ? यही रट थी उसकी। एक व्यक्ति मिला। उसने बताया कि कृष्ण तो यमुनापर स्नान कर रहे है, उन्होने मुकुट, पीताम्वर उतार रखा है। भक्तने पूछा : 'यमुना तो बहुत लम्बी है, मै कहाॅ जाऊँ कि कृष्ण मिल जाॅय ?' वह व्यक्ति बोला . 'देखो वह ऊँचा अर्जुनका वृक्ष है, वही कृष्ण स्नान कर रहे हैं।'

अब देखो, न तो अर्जुनका वृक्ष कृष्ण है, न जमुना है और न जमुनाका तट है। वह तो यमुनाके तटका एक पेड़ है। परन्तु वहाॅ पहुँचनेपर तट भी दीख जायेगा, यमुना भी दीख जायेगी और स्नान करते हुए मुकुट-पीताम्बर उतारे हुए कृष्ण भी दीख जायेगे। इसीको कहते है तटस्थ लक्षण।

यह जो दृश्य दिखायी पड रहा है, अनेक रूपवाला, भेदरूप—कही गधवती पृथ्वी तो कही रसवान् जल, कही रूपवान् तेज तो कही स्पर्शवान् वायु और कही शब्दवान् आकाश, कही कही शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गधकी ग्राहक पञ्च ज्ञानेन्द्रियाॅ, कही ये 'पचनदी,' 'पचसरस्वती' विराजमान है, पाॅच धारा जा रही है भीतर और भीतरवाली धारा पाॅच धाराओमे बाहर निकल रही है—इस भेदात्मक प्रपञ्चके बारेमे ऋषि प्रश्न पूछता है कि—

किंस्विद् वनम् क उ स वृक्ष आस (ऋग्वेद १० ८१ ४)

'वह वृक्ष कौन-सा है जिससे विश्वकर्माने इस प्रपञ्चका लक्षण किया है ? (माने वह उपादान क्या है जिससे यह प्रपञ्च गढा गया है ?) इसके उत्तरमे ऋग्वेद कहता :

ब्रह्म वनम् ब्रह्म स वृक्ष आस (तै० ब्रा०)

ब्रह्म ही वन है। ब्रह्म ही वृक्ष है। ब्रह्म ही विश्वकर्मा है। ब्रह्मने ही इसका लक्षण किया है। इसप्रकार ब्रह्म इस भेदात्मक जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। यह जो कारणता ब्रह्मकी है वह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

स्वरूप लक्षण उसको कहते है कि—**तदभिन्ने सति बोधकम् स्वरूपलक्षणम्।** जो लक्ष्यसे अभिन्न रहकर लक्ष्यका बोध कराये। जैसे किसीने पूछा 'चन्द्रमाका बोध कराओ।' तो बताया कि 'वह सामनेवाले पेडकी ऊपरकी शाखासे दो हाथ ऊपर दूजका चन्द्रमा है।' तो पेड, शाखा, दोहाथ ऊपर—ये सब चन्द्रमाके तटस्थ लक्षण है क्योंकि ये लक्षण चन्द्रमासे अलग रहकर चन्द्रमाका बोध कराते है। परन्तु कोई कहे कि 'वह चाँदीके हँसियाकी तरह आकाशमें चन्द्रमा है, तो चाँदीके हँसियाका चन्द्रमाके स्वरूप (चमक और आकृति) मे प्रवेश होनेके कारण यह चन्द्रमाका स्वरूप लक्षण है।

ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है—'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' सत्य है, ज्ञान-स्वरूप है और अनन्त है।

अब सूत्रकार कहते है कि 'शास्त्रयोनित्वात्।' ब्रह्म शास्त्रकी योनि होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। 'शास्त्रयोनि' लक्षण जो ब्रह्मका यहाँ किया, उसका भी ब्रह्मके स्वरूपमे प्रवेश नही है। वह (शास्त्र) भी ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मको समझाते है और ब्रह्मज्ञान होने-पर मिथ्या हो जाते है। इसलिए शास्त्रयोनि भी ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

प्रपञ्च और शास्त्र दोनो ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मका बोधन कराते है और ब्रह्मज्ञान होनेपर दोनो मिथ्या हो जाते है अर्थात् ब्रह्मसे अलग नही रहते।

०

(३. ४.)

अद्वितीयताके साधक--'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्'

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

मनमे जबतक परिच्छन्नके प्रति आसक्ति और तदात्म्यका अभिनिवेश रहता है तबतक उसके मनमें ब्रह्मजिज्ञासा नही होती। दूसरे शव्दोमे जबतक परिच्छिन्नमें 'अहंता' (तादात्म्य) ममता (आसक्ति) रहती है तबतक ब्रह्मजिज्ञासाका उदय नही होता।

आसक्तिमे अभिनिवेश (ममता) अन्त.करणकी शुद्धिसे हट जाता है। परन्तु तादात्म्यका अभिनिवेश (अहंता) बिना श्रवण-मनन-निदिध्यासनके नही जाता। अहंभावको भावनासे जितना हटायेंगे वह उतना ही दृढ होगा।

कल भी मैंने इस विषयमे बताया था। उसको दोहराना मैं ठीक समझता हूँ। धर्मका अधिकारी संकल्पपूर्वक (फलके प्रति आस्थावान् होकर) फलके लिए विधिके अनुसार कर्म करता है। इसलिए धर्म अधर्मको तो छुडाता है परन्तु कर्तृत्वकी निवृत्ति नही करत्ता। इसीलिए भगवान्ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'मे धर्म-त्यागकी बात कही है, अधर्म-त्यागकी नही। धर्मके त्यागसे ही कर्तृत्वकी निवृत्ति हो सकती है, ऐसा एक आचायका विचार है।

उपासना आन्तर धर्म है। जैसे कामवासनाके वश स्त्रीकी उपासना होती है और उससे वासना निवृत्त भी होती है, उसी प्रकार भगवद्-उपासनासे सब वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और सुखका सान्निध्य प्राप्त होता है। परन्तु उपासनामे भोक्तृत्व निवृत्त करनेका सामर्थ्य नही है।

शान्ति—समाधिमे विक्षेपकी निवृत्ति तो होती है परन्तु परिच्छिन्नता नही कटती। समाधि आध्यात्मिक निद्रा है (यहाँ वृत्ति और उसके धर्मोंका विषयीमे, त्वं-पदार्थमे लय होता है)। तन्मयता आधिदैविक निद्रा है (क्योकि यहाँ वृत्तिका लय विषयमे, तत्पदार्थमें होता है)। सुषुप्ति, आधिभौतिक निद्रा है। (यहाँ वृत्तिका लयअपने उपादानमे प्रकृतिमे या अविद्यामे होता है। समाधि और तन्मयता अभ्यासज हैं और सुषुप्ति सहज है, प्राकृतिक है, नैसर्गिक है।

समाधि और तन्मयता—दोनोमे सुषुप्तिकी भाँति ही देश, काल, बुद्धि, प्राण, कर्म सब सोते रहते हैं और जिन-जिन वस्तुओ, व्यक्तियो, परिस्थितियोंके प्रति जो-जो भाव पूर्वमे रहते हैं वे-वे भाव सब इन अवस्थाओके उत्तर-कालमे जाग्रत हो जाते हैं। तो क्या समाधिका या तन्मयतासे कोई लाभ नही होता? होता है, अनात्म सम्बन्धोमे शिथिलता होती है यदि ये वैराग्यपूर्वक धारण की जायें तो। अन्यथा तो (अर्थात् वैराग्यके अभावमे) शिथिलता भी नही होगी।

सांख्यमे आत्माके असङ्ग साक्षी स्वरूपका विचार तो है परन्तु आत्माकी अनेकता (परिच्छिन्नता) की भ्रान्ति वहाँ भी शेष रह जाती है। यदि आप विश्राम-अवस्थामे ही साक्षी रहते हैं और विक्षेप अवस्थामे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं तब तो सत्त्वान्यता-ख्याति हुई ही नहीं, विवेक हुआ ही नही। वह साक्षीपना तो फिर वृत्ति है, स्वरूप नही है। वृत्ति और स्वरूपका विवेक करके 'सत्त्व' अर्थात् अन्तःकरणसे 'अन्यतः' अर्थात् भिन्न मै हूँ—इस बोधका नाम सत्त्वान्यताख्याति है। इसका सीधा मतलब यह है कि अन्तःकरण न मै हूँ न मेरा है। साक्षीका अन्तःकरणके विक्षेप और शान्तिसे कोई मतलब नही। इसको पुरुषख्याति या विवेकख्याति भी कहते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृण्यम् (योग १.१६)

निद्रा तमोगुणी है, विस्मृति रजोगुणी है और समाधि सत्त्व-गुणी है। उनसे असङ्ग तथा इनका साक्षी आत्मा है। यही वेदान्तका त्वं-पदार्थ है, योग और साख्यका सिद्धान्त है और जैनोकी तपस्याका फल है।

एक सज्जन हैं। उन्हें विस्मृतिकी शिकायत है। वह यहाँ (प्रवचन-हालमे) बैठे हुए है। उनको शिकायत है कि उनको निरन्तर व्यवहारमे साक्षी बने रहनेकी स्मृति नही रहती। हम उनसे पूछते हैं कि आपको निद्रा बुरी लगती है या विस्मृति ? जाग्रत्-अवस्थामे रहकर आप अपने असंग साक्षी स्वरूपको भूल जाते है, कभी-कभी भूलकी याद भी आ जाती है कि मै अपने साक्षी-स्वरूपको भूल गया था। स्पष्ट है कि जाग्रत्का आपका यह साक्षी भूलनेवाली वृत्तिसे युक्त है। इसके दूसरी ओर निद्राकी स्थिति है जो आपपर चढ़ बैठती है और आपकी कोई वृत्ति भी नही रह पाती—भूलकी भी नही। सुषुप्ति तमोगुणी है, विस्मृति रजोगुणी है और समाधि सत्त्वगुणी है। आप यह क्यो शिकायत नही करते कि जब सुषुप्ति आती है तो हमारा असंग-साक्षीपना बीच-बीचमे भी याद क्यों नही आता ? यदि आप अपनेको सच-मुच असंग और साक्षी जान जाते तो भूलने और याद रहनेका कोई फर्क नही रहता जैसे कि सुषुप्ति आनेसे कुछ फर्क नही पड़ता। भले आपको योग, साख्य या जैनमतके अनुसार यह बोध होता। इसका अर्थ यही है कि अभी असंग-साक्षीकी-ख्याति (आपके जीवनमे) नही हुई। यह तो त्वं-पदार्थके विवेककी पराकाष्ठा है। यह आपको विषयोकी आसक्तिसे बचाती है, आपको देहमे अहङ्कार होनेसे बचाती है। यह आपको सुख-दुःखसे असंग रखती है। यह तो बड़ी मुफ़ीद (लाभकारी) चीज है।

इसको हम लाख-लाख प्रशंसा करते हैं। लेकिन इससे ऊपर भी उठो न।

जैसे धर्ममे कर्तृत्व-निवृत्तिका सामर्थ्य नही है, जैसे उपासनामें भोक्तृत्व-निवृत्तिका सामर्थ्य नही है जैसे समाधिमे बीजभावकी निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही असगसाक्षीमे द्वैत-निवृत्तिका सामर्थ्य नही है।

वेदान्त इसी अद्वैतका प्रतिपादक है। असगता, साक्षिता केवल उसकी एक प्रक्रिया है। यह अद्वैत कैसे सिद्ध हो? तो 'जन्माद्यस्य यत' और 'शास्त्रयोनित्वात्'के द्वारा वेदान्त ब्रह्मको अद्वैत सिद्ध करता है। कैसे सिद्ध करता है? तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण द्वारा।

आपको बताया कि प्रलय, सुषुप्ति और समाधि तीनो बीज-भावसे युक्त हैं। प्रलय आधिदैविक है, सुषुप्ति आधिभौतिक है और समाधि आध्यात्मिक है। बीजभावसे उपहित जो चैतन्य है वही ईश्वर है। जो सुषुप्तिसे उपहित चैतन्य है वही प्रलय और समाधिसे उपहित चैतन्य है। उसीका नाम प्राज्ञ है और उसीका ईश्वर। प्राज्ञ और ईश्वरमे जो चिन्मात्र वस्तु है उसको ब्रह्म कहते हैं। चैतन्य एक है परन्तु उसीको ऐश्वर्य (जगत्-कर्तृत्व) की उपाधिसे ईश्वर कहते है और सुषुप्तिकी उपाधिसे जीव कहते है। प्रकाशकत्व दोनोमे है, लेकिन प्रकाशकी दृष्टिसे दोनोमे एक चिन्मात्र है वह ब्रह्म है। उस ब्रह्मकी अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए प्रपञ्चकी सगति बैठानी पडती है।

प्रपञ्च यदि ब्रह्ममे ब्रह्मसे भिन्न हो तो ब्रह्म अद्वैत नही होगा। प्रपञ्च यदि आत्मामें आत्मासे अलग हो तो आत्मा अद्वैत नही होगा। अर्थात् यदि साक्ष्य साक्षीसे अलग हो तो साक्षी अद्वैत नही होगा। विवेकमें साक्ष्यसे साक्षी अलग है और प्रपञ्चसे ईश्वर

अलग है यह ठीक है। लेकिन ईश्वरसे भिन्न प्रपञ्च और साक्षीसे भिन्न दृश्य यदि निकल आया तो अद्वैतकी सिद्धि नही होगी। जो भी देश, काल, द्रव्यात्मक प्रपञ्च है वह सब ईश्वरसे उत्पन्न हुआ है और जितने भी बौद्धिक और मानसिक पदार्थ हैं वे सब भी प्रकाशात्मक परमेश्वरसे (आत्मा) से उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् सारी वस्तुएँ और सारी बुद्धियाँ परमेश्वरसे ही पैदा हुई है। इन्हीको समझानेके लिए ये दोनों अलग-अलग सूत्र हैं—'जन्माद्यस्य यतः' (सब जगत् ब्रह्मसे है) और 'शास्त्रयोनित्वात्' (सारी बुद्धियाँ भी ब्रह्मसे हैं)।

यह बात आपको पचास टीकाएँ पढनेसे भी प्राप्त नही होगी। यह तो हम आपको सब टीकाओंका और स्वयं अपने चिन्तनका मक्खन (सार) दे रहे हैं। अस्तु।

शास्त्र माने जो जीवनको वासनानुसारी न रहने दे और शासनानुसारी बना दे। शासन तो सभी मानते हैं चाहे माओवाद हो या मार्क्सवाद या चार्वाक। सब लोग दूसरोंको शासनानुसारी ही रखना चाहते हैं, इसीलिए अनेक शासन-संविधान बनाये जाते रहे है। जीवनको उच्छृङ्खल नही छोडा जा सकता। माँ-बाप क्या बच्चोको उच्छृङ्खल आचरण करनेके लिए छोड़ सकते है? जहाँ छोड़ देते है वहाँ क्या कुछ नही हो जाता है। जिन घरोंमे बड़े बूढे लोग बच्चोको 'नाइटक्लब' मे किसीके भी साथ खेलनेकी स्वतन्त्रता दे देते है, उनके घरोंमे फिर जो समस्याएँ उठती है वे भी सबको ज्ञात ही हैं। सब लोग सचमुच ही 'फ्री' (स्वतन्त्र) हो जाते हैं। फिर क्या? सिर पीटो बस! इसी प्रकार जीवनके हर क्षेत्रमे एक शासन और एक अनुशासन चाहिए। भले वह शासन कोई एक व्यक्ति बनावे या कई लोग मिलकर बनावें।

शास्त्रं नाम शासनम्। शास्त्र माने वासनाका नियन्त्रण

करनेवाला संविधान। अब वह कौन-सा संविधान अच्छा होगा? माओका या लेनिनका या मार्क्सका या बहुत-सारे भारतीय संविधान-विशेषज्ञोंका, यह बात दूसरी है। परन्तु इन सब संविधानोंमें एक बात जो सर्वनिष्ठ है—वह यह है कि सबने वर्तमान परिस्थितियोंका ठीक-ठीक अनुसन्धान करके ये संविधान बनाये। इनमें शाश्वतता-जैसी कोई चीज नहीं है। परिस्थितियाँ बदलनेसे संविधान बदलना पड़ जाता है। अपने भारतीय संविधानको ही देखो कि इन बीस बरसोंमें कोई बीससे अधिक संशोधन हो चुके हैं।

जब हिन्दूकोड बिल बन रहा था तो एक सज्जन नेहरूजीसे बोले कि सगोत्र विवाह धर्मके विपरीत है। नेहरूजीने कहा कि 'भाई, क्या देशमें केवल ब्राह्मण ही रहते हैं? क्या भारतमें ऐसे लोग नहीं रहते जिनमें सगोत्र विवाह होता है? कश्यप गोत्रियोंमें सगोत्र विवाह होता है।' अन्तमें नेहरूजीने कहा: 'अच्छी बात है, तुम मथुराके चौबोंसे हस्ताक्षर करालो कि सगोत्र विवाह नहीं करना चाहिए। हम माननेको तैयार हो जायेंगे।'

क्षत्रियोंमें—कश्यपगोत्रियोंमें, वैश्योंमें और सारे शूद्रोंमें सगोत्र विवाह होते हैं। जो लोग एक वर्गके बारेमें सोचते हैं वे पूरे देशके बारेमें नहीं सोचते हैं।

शास्त्रयोनित्वात्। ईश्वरका संविधान वह होता है जो केवल भारतके लिए नहीं, समग्र प्रकृति-प्राकृतके लिए होता है; सिर्फ धरतीके लिए नहीं, सब कालोंके लिए होता है; जो शाश्वत होता है, सर्वदेश, सर्वकाल, सर्व जातियोंके लिए होता है। ऐसा संविधान [illegible] वही बना सकता है जो सर्वज्ञ हो। अतएव 'शास्त्रयोनित्वात्'में जगत्कारण ब्रह्मकी सर्वज्ञता स्पष्टतः सिद्ध की जाती है।

जन्माद्यस्य यतः में जो बात (सर्वज्ञता) अर्थतः सूचित की

गयी थी वही बात 'शास्त्रयोनित्वात्' से स्पष्टरूपमें कही जा रही है, ऐसा भामतीकारका कहना है। 'जन्माद्यस्य यत.' मे बताया कि ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। जगत्का जन्म-स्थिति-भग होता है और जिससे यह उत्पन्न होता है (यत्) उसका जन्म-स्थिति-भंग नही होता, वह सबमे व्यापक है (इण् गतौ धातुसे एति इति 'यत्') और सबसे न्यारा है। जगत् इदंता-से आक्रान्त है परन्तु 'यत्' 'इदम्' नही है, क्योकि 'इदम्' के अत्यन्ताभावके अधिष्ठानसे इदकी उत्पत्ति होती है अतः इदका कारण कभी इद नही हो सकता। वह अनिदम् है।

इस प्रकार जो जगत्का कारण है वह विवर्ती अभिन्ननिमित्तो-पादानकारण है, परिणामी अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नही हैं। जैसे रज्जु ही रज्जुके अज्ञानके कारण सर्पवत् भासती है, सर्प हो नही जाती उसी प्रकार ब्रह्म ही अज्ञानके कारण जगत्वत् भासता है, जगत् हो नही जाता। रज्जुमे सर्पकी प्रतीति रज्जुका विवर्तरूप है, जबकि जलकी बर्फ-रूप प्रतीति जलका परिणाम है।

जो जगत्का और जगज्जन्मादिका अधिष्ठान है उस अधिष्ठान ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति हुई। अनिदम्मे इदम् है। इदम् परिणामी है और जो अनिदम् है वह परिणामी नही है। अपने अत्यन्ताभाव-के अधिकरणमे प्रतीत होनेके कारण इदम् मिथ्या है, माने कार्य-कारणभाव मिथ्या है, परन्तु वह अनिदम् ब्रह्म है, अद्वय है और प्रत्यक् चैतन्याभिन्न है।

ब्रह्मके कल्पित सदंशसे जडांशकी उत्पत्ति हुई है और कल्पित चिदंशसे (अर्थात् बीजोपाधिक ब्रह्मसे अथवा मायोपाधिक ब्रह्मसे) जो बुद्धि आदि शासन है, उसकी उत्पत्ति हुई है। वह जनका जनक है और बुद्धि आदिका शास्ता है। इसलिए 'शास्त्रयोनि-

त्वात्' से चेतनाको स्पष्ट करना चाहते हैं। जब ब्रह्मकी चेतनता स्पष्ट हो जायेगी तो जगत्‌की विवर्तता भी स्पष्ट हो जायेगी। और जब सत्ता और चेतनता सिद्ध हो जायेगी तो निर्विकारिता भी सिद्ध हो जायेगी। और जब 'प्रपञ्च उससे भिन्न नहीं है' यह सिद्ध हो जायेगा तो उसकी (ब्रह्मकी) अद्वयता भी सिद्ध हो जायेगी।

सांख्य, योग, जैनकी भूमिका अलग है और वेदान्तकी भूमिका अलग है। ब्रह्मसूत्र यों तो सभी सिद्धान्तोंकी जन्मभूमि है— शिवाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, इत्यादि, क्योंकि सभी सिद्धान्तोंके आचार्योंने ब्रह्मसूत्रपर टीकाएँ लिख-लिखकर अपने सिद्धान्तका मण्डन एवं अन्य सिद्धान्तोंका खण्डन किया है, तथापि उपनिषदोंसे आदर करके केवल भगवान् शङ्कराचार्यने ही भाष्य लिखा है।

एक महात्मा हैं, श्री रामलाल गिरिजी महाराज। कनखलमें रहते हैं। एक बार कोई वेदान्तसम्मेलन हो रहा था। उनको भी उसमें बुलाया गया और वे भी वहाँ बोले। अब समझो कि वे ठहरे पुराने ढंगके महात्मा, खुल्लमखुल्ला कहनेवाले। हमारी बात और है। हम तो चतुराईसे अद्वैतकी बात कहते हैं कि किसीको बुरा भी न लगे और अपनी बात भी कह जायँ। तो वह बोले— 'मैं एक प्रश्न करता हूँ। भगवान् शङ्कराचार्यके सिवाय और दूसरे आचार्योंने उपनिषदोंपर भाष्य क्यों नहीं किया जबकि उन्होंने गीतापर भाष्य किया और ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया ?" फिर स्वयं ही प्रश्नका उत्तर देते हुए बोले : "इसलिए कि उन्होंने सूत्र और स्मृतिका अर्थ तो अपने भाष्योंमें बदल दिया, परन्तु जब उपनिषदोंका अर्थ बदलने लगे तो उनका दिल थर-थर काँपने लगा कि जान-बूझकर यदि श्रुतिका अर्थ बदलोगे तो पाप लगेगा

और घोर नरकमें जाना पडेगा। इसलिए सिवाय श्री शङ्कराचार्यके किसीने उपनिषदोपर भाष्य नही किया।"[1]

अब भाई हमने तो श्री रामलालजीकी बात सुनायी। हम इसी बातको कहते तो ऐसे नही कहते। परन्तु फिर भी किसीको बात बुरी लगती हो तो हम सुनायी हुई बातको वापस ले लेते है।

'जन्माद्यस्य यतः' से यह बात निकल आयी कि प्रपञ्च सच्चिदानन्दसे भिन्न नही है। सच्चिद्से सृष्टि हुई है इसलिए उससे अभिन्न है। अतः अद्वैत है। असलमे सृष्टि और सृष्टिका भेद तो तब होता जब सचमुचकी सृष्टि हुई होती। जब सृष्टि कल्पित है तो सृष्टि और स्रष्टाका भेद भी कल्पित है। अतः ब्रह्म अद्वय है।

आत्मा ब्रह्म है, यह बात तो महावाक्य कहते हैं। परन्तु प्रपञ्च जो है वह—

तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदन्त्वात्

उसीसे उत्पन्न होनेके कारण, उसीमे लीन होनेके कारण, उसीसे जीवित रहनेके कारण, उसीमे अध्यस्त होनेके कारण, उसीसे प्रकाशित होनेके कारण और अपनी प्रतीयमान अनन्तताके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान वही (ब्रह्म) होनेके कारण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममे प्रपञ्च नामकी कोई वस्तु ही नही है। इसी बातको समझानेके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्' दो सूत्र प्रवृत्त हुए है। ●

---

१ यह मत सर्वथा सत्य नही हैं। द्वैतवादी मध्वने ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ईशावास्य, काठक, माण्डूक्य, प्रश्न(=षट्प्रश्न) तलवकार इन उपनिषदोंपर भाष्य-रचना की है। ईशावास्य मुण्डक-प्रश्न-श्वेताश्वतर—इन उपनिषदोका भाष्य रामानुजने किया था, यह कहा जाता है, पर यह सर्वथा अप्रामाणिक है। [सम्पादक]

(३.५)

शब्दमूल ईश्वर

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

'अथ' अर्थात् अधिकार सम्पादनके अनन्तर। समझनेकी इच्छा हो परन्तु योग्यता न हो अथवा योग्यता हो परन्तु इच्छा न हो—दोनो दशाओमे वेदान्तका अधिकार सम्पन्न नही होता। योग्यता और इच्छा मिलकर अधिकार पूरा होता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये योग्यताके अंग हैं। इच्छाके लिए इच्छामे एकता चाहिए। ऐसा नही कि इच्छाके अनेक विषय हो और थोड़ी देर इधरकी इच्छा और थोड़ी देर उधरकी इच्छा। यहाँ तो इच्छाको ब्रह्मके साथ विवाह करके एक साथ बैठ जाना है। ब्रह्मज्ञानकी इच्छाके अतिरिक्त अन्य सब इच्छाएँ छूट जांय, इसीका नाम वैराग्य है। कई बात तो वैराग्य-की कमीके कारण ही समझमे नही आती।

आजकल सफेद कपडेवालोका बहुमत है। लाल कपडेवालोको चाहे जब निकाल बाहर कर दें। इसलिए साधुओने भी अपनेको लचकीला बना लिया है। सब ठीक ही है।

श्री उडिया बाबाजी महाराज एक गाँवमे गये। गाँव वह आर्यसमाजियोका था। उन लोगोका कहना था कि ये गेरुआ कपडेवाले धरतीपर बोझ है (बिना काम किये हुए ही खाते हैं)। वे लोग गोल बाँधकर आये और बाबासे सीधा प्रश्न किया। बताओ सन्यासी श्रेष्ठ हैं या गृहस्थ ?

बाबा : श्रेष्ठ तो गृहस्थ हैं ही भाई ! हमारे माँ-बाप भी गृहस्थ हैं।

इस उत्तरसे गाँवके लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बहुत दिनतक बाबाको गाँवमे रखा और उनकी खूब आवभगत की। धीरे-धीरे बाबाने उनमे वेदान्तका सस्कार डाला।

गृहस्थोंको जबतक माई-बाप न कहो तबतक हमारी बात सुनेंगे नही। जबतक एक ओरसे वृत्तियाँ हटती नही है और परमेश्वरमे लगती नही तबतक ज्ञान कैसे होगा ?

ब्रह्म अद्वैत पदार्थ है। सारा व्यवहार होते हुए भी ब्रह्म अद्वैत है। जो ज्ञान नही है उसको हम लोग अज्ञान ही कहते हैं, चाहे वह धर्माधर्मका भेद हो, चाहे उपासनाका भेद हो, चाहे वह जीव-ईश्वरका भेद हो और चाहे वह समाधि और विक्षेपका भेद हो। ज्ञानके सिवाय सब अज्ञान है। शुद्ध ज्ञानके साथ जो भी जुड़ा है, वह ज्ञानका कलक है। यदि धर्मके बिना, उपासनाके बिना, समाधिके बिना, ज्ञान नही रह सकता तो वह शुद्ध ज्ञान नही है। पूर्ण ज्ञानकी कोई स्थिति नही होती, ज्ञान ही पूर्ण रहता है। हँसना-रोना, मरना-जीना, आना-जाना सब ज्ञान है।

तो 'अथ' अर्थात् अधिकार सम्पादनके अनन्तर और 'अतः' अर्थात् दूसरे (साधन-साध्यो) से विरक्त होकर 'ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् ब्रह्मविचार करना चाहिए।

यहाँ ब्रह्मकी बात की जा रही है। यह न सृष्टिकी बात है न द्रष्टाकी। स्रष्टा ईश्वर है तत्-पदार्थ और द्रष्टा त्वं-पदार्थ है। स्रष्टा भक्तिमे होता है और द्रष्टा योगमे। वेदान्तमें जो स्रष्टृ-अवच्छिन्न चैतन्य है और जो द्रष्टृ-अवच्छिन्न चैतन्य है, उसमें स्रष्टा और द्रष्टा दोनों औपाधिक हैं। सृष्टिकी उपाधिसे स्रष्टा है और दृश्यकी उपाधिसे द्रष्टा है। दृश्य और सृष्टि दोनो उपाधि

छोडकर जो सच्चिदानन्द अद्वय सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदोंसे रहित परमार्थ पदार्थ है उसको लखना है और उसे लखनेके बाद सब कुछ वही हो जाता है। इसका पीठ सीधी करके बैठनेसे कोई सम्बन्ध नही है; वृत्ति तदाकार या निराकार, इससे भी सम्बन्ध नही है; आँख खुली या बन्द, इससे भी कोई सम्बन्ध नही है। ऐसी निरकुश तृप्ति, ऐसा निरंकुश स्वातन्त्र्य, ज्ञान प्रदान कर देता है।

जैसे ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं वैसे ही अज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। असलमे अचेतन भावनाकी हो सात भूमिकाएँ हैं ये :

(१) उद्भिज शरीर (जैसे वृक्ष आदि)को 'मैं' मानना।

(२) स्वेदज शरीर (जैसे खटमल, जूँ आदि)को 'मैं' मानना।

(३) अण्डज शरीर (जैसे चिडिया आदि)को 'मैं' मानना।

(४) पिण्डज शरीर (जैसे पशु, मनुष्य आदि)को 'मैं' मानना।

(५) इन्द्रियोको 'मैं' मानना।

(६) मनको 'मै' मानना।

(७) देहातिरिक्त जड़ शक्तिको जगत्का कारण मानना।[1]

इन अचेतन भावनाओकी निवृत्तिके लिए 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र प्रारम्भ होता है।

---

[1] विकल्प (I) किसी भी स्थूल शरीरको मैं मानना, (१) से (४) तक। (II) सूक्ष्म शरीरको मैं मानना, (५) से (६) तक। (III) देहातिरिक्त जड शक्तिको जगत्कारण मानना, (७)। अथवा (I) जडको चेतन मानना, (१) से (६) तक तथा (II) चेतनको जड मानना, (७)।

अब परमेश्वरका विचार करते समय तीन भावोंका उदय होता है : निमित्त भाव, उपादान भाव और प्रिय भाव।

मिट्टीसे गेहूँ पैदा होता है या किसानसे ? गेहूँ तो न मिट्टीसे पैदा होता है, न किसानसे। वह तो बीजसे पैदा होता है। मनुष्य स्त्रीसे पैदा होता है या पुरुषसे ? न स्त्रीसे, न पुरुषसे, वह तो बीजमे-से पैदा होता है। बीजके बिना कोई सृष्टि देखनेमें नही आती। कहो कि स्वप्नमें देखनेमे आती है तो वहाँ भी बीज रहता है; दिनके जो कर्म होते है अथवा पूर्व जन्मोके जा बीजात्मक संस्कार हैं, वे ही स्वप्न-सृष्टिके बीज बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टिके लिए एक विशेष प्रकारका बीज चाहिए, (देहका) उपादान चाहिए, निमित्त (चेतन) चाहिए और बीज बोनेमें प्रियता चाहिए।

वह माट्टी क्या है जिससे सष्टि होती है ? जैसे मिट्टीके कण-कण होते है वैसे ही परमाणु है। परमाणु अलग-अलग हैं, यह नैयायिकोंने बताया। प्रत्येक परमाणुमें एक विशेष है, यह वैशेषिकोने बताया। सब परिमाणुओंमें एक शक्ति है, यह सांख्यो-ने बताया।

निमित्त कारण सृष्टिका क्या है ? बीज बोनेवाला जो कर्ता जीव है, उसको न्याय-वैशेषिकने बताया। समष्टिका कर्ता ईश्वर है, यह न्यायने बताया।

निमित्त और उपादानका पुरुप-प्रकृति विभाग सांख्य और योगने किया।

हमे केवल देहके बीजको ही नही ढूंढना है, बुद्धिके बीजको भी ढूँढना है। 'जन्माद्यस्य यतः'से ब्रह्मको देहका बीज बताया और 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मको बुद्धिका बीज बताया। पिण्डदेह, ब्रह्माण्डदेह और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोका समष्टिदेह, इनका बीज

क्या है ? ऐन्द्रिक ज्ञान मानसिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान, आनुमानिक ज्ञान और इनमे भी पिण्डगत ज्ञान, ब्रह्माण्डगत ज्ञान और समष्टिगत ज्ञान—इन सब ज्ञानोका बीज क्या है ? देह और बुद्धिका बीज क्या है ?

देहका बीज वासना है और बुद्धिका बीज प्राज्ञ है, यह विवेक है। ब्रह्म दोनोका अधिष्ठान है।

जिस समय सो जाते हैं, वासना और बुद्धिका लय हो जाता है परन्तु क्या इनका अन्त हो जाता है ? नही। नीदसे उठकर फिर वही बुद्धि और फिर वही वासना चालू हो जाती है। सोनेके पहिले यदि किसी की मोटर खो गयी तो सोकर उठनेके बाद 'मोटर खो गयी' यह बुद्धि और 'मोटर मिल जाय' यह वासना पूर्ववत् बनी रहती है। इसका अर्थ है कि सुषुप्तिमे वासना और बुद्धि मिटी नही। फिर वह कहाँ रही ? ये बीजरूपसे प्रलीन हो गयी थी सुषुप्ति-अवस्थामे। इसी प्रकार यदि ब्रह्माण्ड सो जाय तो क्या वासना और बुद्धिका नाश हो जायेगा ? नही। इसी प्रकार समष्टिके सो जानेपर भी वासना और बुद्धिका नाश नही होगा। ये जो भिन्न-भिन्न आकृतियाँ है, सबका साँचा अलग है। साधारण सामान्यसे जाति मानते हैं परन्तु एक ही जातिके सदस्योमे भी एक-एक विशेषता सबके भीतर रहती है। साँचेकी जो यह विशेषता है—आयु, जाति और भोग, इनके बीजका नाश नही होता।

इसलिए समष्टि प्रलयावस्थाकी उपाधिसे भी चैतन्य शेष रहता है और व्यष्टि प्रलयावस्थाकी उपाधिसे भी चैतन्य शेष रहता है। वह जो चैतन्य है वह तो जैसे धरती हो। सब बीजोमे उपादान पञ्चभूत है, परन्तु प्रत्येक उपाधिका जो अपना वैशिष्ट्य है वह कर्म संस्कारगत है।

बुद्धि है, किसीकी सोई है तो किसीकी जाग रही है—जैसे जड़ सृष्टिमें उत्पत्ति और लय अवस्थाएँ दो होती हैं, जैसे व्यष्टि जीवनमे जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाएँ दो होती हैं। एक जगह जो बुद्धि जाग्रत् रहती है और एक जगह जो बुद्धि सोती है, इस बुद्धिका उपादान ज्ञाता है—व्यष्टि बुद्धिका भी उपादान ज्ञाता है और समष्टि बुद्धिका भी उपादान ज्ञाता है। उसीको प्राज्ञ और ईश्वर बोलते है।

विवेक करते समय दो प्रणाली अपनायी जाती है: वासना और वासनायुक्त बुद्धि तथा उसके लयका स्थान। बीज न सत् है, न चित् है, न आनन्द है। अज्ञानके कारण अपने अस्तित्वमे, अपने बोधमे और अपनी प्रियतामे जो अहंगत परिच्छिन्नता है, उसके आश्रयसे ही व्यष्टि बुद्धि, व्यष्टि वासना और व्यष्टि आकृति टिकती है। यह परिच्छिन्न अहं अज्ञानका प्रथम कार्य है। यही विपर्यय है और यही आवरण है। इसीसे मुक्त होनेके लिए वेदान्तका विचार किया जाता है।

सुषुप्तिमें जो शुद्ध चैतन्य है और जगत्‌की प्रलयावस्थामे जो शुद्ध चैतन्य है, वे दो नही एक हैं। जिसमे बुद्धिका बीज है उसीमे आकृतियोका भी बीज है, क्योकि सुषुप्तिमे दोनो (बुद्धि और आकृति) एक हो जाती है और साक्षी बिलकुल अलग रहता है।

अब ये जो हमारे विविध ज्ञान हैं और शासन हैं; जिसकी मनमे स्थिति होती है वह वासनाके अनुसार चलता है, उसका जीवन वासनानुसारी जीवन होता है; और जिसकी बुद्धिमे स्थिति होती है वह शासनके अनुसार चलता है, उसका जीवन शासनानुसारी जीवन होता है।

एक अवस्था सृष्टिकी ऐसी होती है जहाँ शब्द और आकृति दोनो एकमे मिलकर लीन बुद्धिमे विद्यमान रहती है और उससे चैतन्य

मिला हुआ रहता है। तो वह जो सर्वज्ञ ईश्वर है उसीसे जैसे रूपका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार नामका भी होता है, और 'इस-रूपका यह नाम है' इस सम्बन्ध-बुद्धिका भी आविर्भाव होता है।

नामरूपे व्याकरवाणी

यह जो श्रुति कहती है कि मैं नाम रूप दोनोको प्रकट करता हूँ, वहाँ रूपका अर्थ है आकृतिवाला प्रपञ्च और नामका अर्थ है शब्दात्मक प्रपञ्च अर्थात् शब्दात्मक बुद्धि। बिना बुद्धिके नाम और रूपका भेद नही होता।

नामरूपका विभाजन करनेवाली जो बुद्धि है वह भी प्रलयावस्थामे सो रही थी या नही? कार्यकी जो शक्ति है वह उपादानमें विद्यमान रहती है। जैसे दीपकमे प्रकाशनका सामर्थ्य है तो अग्नि विद्यमान है। परन्तु अग्निमे कारणता है अर्थात् वह प्रकाशनका साधन है, अतः वह चेतन नही है, जड है। और हमारी जो चैतन्यशक्ति है वह (ज्ञानका) करण नही है, द्रष्टा है, ज्ञाता है, और ज्ञाता ही नही स्वय ज्ञान है।

इसिलए जैसे ज्ञातामे सर्वप्रकाशन-शक्ति विद्यमान है, इसी प्रकार जब वह (ज्ञान) शब्दारूढ होकर प्रकट होता है तो शास्त्रके रूपमे सर्वप्रकाशन-सामर्थ्यको लेकर प्रकट होता है।

ये छुटभैय्ये लोग जो शब्दकी चर्चा करते है, वाक्यकी चर्चा करते हैं, उसका कारण यही है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी चर्चा और उसके विचारसे बचना चाहते है। वे कहते है कि हमारी बुद्धि बची रहेगी तो पैसा कमानेके काम आयेगी, भोगके काम आयेगी। इसलिए उनका कहना हैं कि 'आओ, थोडी देरके लिए बुद्धिको शान्त कर ले, फिर जब सोकर नौ-जवान होकर उठेगी (सोनेसे बुद्धिकी जवानी बढती है) तो फिर भोगेंगे।

जैसे ईश्वर समस्त प्रपञ्चका उपादान है—नामका, रूपका, कर्मका, वैसे बुद्धिका भी वही उपादान है। इसलिए बुद्धिमे जो प्रत्येक वस्तुका नाम है और नामका जो अर्थके साथ सम्बन्ध है—उनका भी उपादान वही ईश्वर है।

'चिन्तामणि' पत्रिकाके लिए मै ऋग्वेदके एक मन्त्रका अर्थ लिखवा रहा था। उस मन्त्रमे था कि ईश्वरने सप्त सिन्धुओंकी रचना की। वेदके एक टीकाकारने लिखा था कि सप्तसिन्धु अर्थात् भारतदेशकी गंगा, यमुना आदि सात नदियोकी ईश्वरने रचना की। बात कुछ जमी नही। क्योंकि इस मन्त्रमे क्या वेद केवल सनातनधर्मावलम्बी भारतेदेशके हिन्दुओका ही प्रतिपादन कर रहा है या समस्त विश्वमे जो सप्तसिन्धु हैं उनको प्रकाशित कर रहा है? जब सन्तोष न हुआ तो दूसरी टीका देखी। उसमें-से अर्थ निकला कि सृष्टिके वातावरणमें जो नमक उत्पन्न करनेवाला रस है, जो दूध उत्पन्न करनेवाला रस है, जो शक्कर उत्पन्न करनेवाला रस है, जो दही उत्पन्न करनेवाला रस है, जो खटास उत्पन्न करनेवाला रस है, जो मधु (शहद) उत्पन्न करनेवाला रस है—उन सात प्रकारके रसोका वाचक यहाँ सप्तसिन्धु-पद है और उनकी सृष्टि ईश्वरने की।

अब देखो जो बुद्धि ईश्वरको हिन्दुस्तानकी एक जाति या संस्कृतिसे महत्त्व प्राप्त सात नदियोका कारण बताती है वह ईश्वरके अधिक निकट है या वह बुद्धि जो विश्वव्यापी सातरसोका स्रष्टा ईश्वरको बताती है? निश्चय ही रसोका स्रष्टा ईश्वरको बतानेवाली बुद्धि ईश्वरके अधिक निकट है।

दुनियामे हिताहितका विचार करनेवाली बुद्धि है और 'यह करना, यह नही करना' इस कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विधान भी बुद्धिमे ही है। यह हुआ शासन। परन्तु 'यह सत्य है और यह असत्य

है', यह शासन नही शसन (स्वरूप कथन) है। यह शंसन भी वुद्धिमे ही है।

शास्त्रके दो रूप होते हैं · प्रथम शासन—यह करो तो हित, यह न करो तो हित और यह करो तो अहित और यह न करो तो अहित, और द्वितीय शंसन—यह वस्तु सत्य है, यह वस्तु असत् है और यह वस्तु मिथ्या है।

यह दोनो प्रकारका शास्त्र कहाँ रहता है ? वुद्धिमे। व्यष्टि वुद्धिमे या समष्टिमे ? विना वीजके तो यह पैदा हुआ नही, इसका वीज तो था। जैसे गेहूँ—जौ आदिका वीज होता है वैसे प्रत्येक विशेष वुद्धिका भी वीज होता है। वह वीज कहाँ था ? ईश्वर ही सब शास्त्र वुद्धियोका वीज है। 'शास्त्रयोनित्वात्'।

एकने कहा—स्वामीजी, हम विचारके इस पचडेमे नही पडते। हम तो माला लेकर सीताराम, सीताराम या राधेश्याम, राधेश्याम कहते रहते हैं, वडा आनन्द आता है। हम कहते है—बहुत बढिया है भाई, तुम इसमे निष्ठावान हो जाओ। परन्तु यह मत मानो कि यही अवधि है। श्रीउडियाबाबाजी महाराज कहते थे कि सत्यको अस्वीकार मत करो और राधेश्याम या सीताराममे तन्मय हो जाओ।

दूसरे सज्जन कहते है—स्वामीजी, विचार भी तो एक विक्षेप ही है। हम तो जरा किनाराकश (तटस्थ) हुए जाते हैं। हम तो आँखें बन्द कर लेते हैं और देखो हो गये सबसे तटस्थ, कूटस्थ। हम कहते हैं—वहुत वढिया है भाई; तुम इसमे निष्ठा-वान हो जाओ। परन्तु यह मत मानो कि यही अवधि है।)

हम धर्म, भक्ति, समाधि सबको स्वीकार करते हैं, इनसे बहुत बडा लाभ है; और जहाँतक लाभका प्रश्न है, जादू-टोटकासे भी लाभ है। परन्तु वेदान्त कुछ और ही चीज है। जहाँतक

'हम', 'हमारा' और 'स्थिति' बनी हुई हैं वहाँतक सत्यसे एक इञ्च नीचे हो—माने वहाँतक मैकी परिच्छिन्नता और उसका द्वैत सम्बन्ध बना हुआ है।

आओ, इस द्वैतका मूल खोजे। अर्थात् ब्रह्मको खोजें। ब्रह्म माने वह अद्वय वस्तु जिसमें समस्त जगत्का बीज और शास्त्रका बीज विद्यमान रहता है: शास्त्र-बीज अर्थात् विधि-निषेधमय शासन और सत्यासत्यका शंसन करनेवाली बुद्धिका बीज। वह बुद्धि जो नाम और रूपका सम्बन्ध बताकर, हित और अहितका सम्बन्ध बताकर धर्माधर्म बताती है और जो सत्यासत्यका भेद करके 'सत्य ही एकमात्र वस्तु है असत्य होता ही नहीं', यह बात समझा देती है। ये दोनों बुद्धियाँ ब्रह्मसे ही निकलती हैं।

जगत् और शास्त्रके बीजसे उपहित चैतन्य ईश्वर है।

जब 'जन्माद्यस्य यत.'के 'अस्य' पदपर तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' के 'शास्त्र'पदपर विचार करते हैं (अर्थात् इदंतया वर्तमान और बुद्धिवृत्तिके रूपमे दृश्ययानके स्वरूपपर विचार करते हैं) तो मालूम पड़ता है कि यह बुद्धि क्या है, बस, सर्वज्ञकी बेटी ही है! ऐसी-ऐसी बात बताती है यह कि आश्चर्य होता है।

समझो कि अबसे कोई ११५० वर्ष पहिले (और हम लोगोके हिसाबसे कोई २५०० वर्ष पहिले) कुमारिल भट्ट हुए हैं। उन्होंने ऋग्वेदके पहिले मन्त्र 'अग्निमीले०' की व्याख्या लिखी है। 'रत्नधातमम्'-की व्याख्यामें वे लिखते हैं कि 'अग्निसे हीरा बनता है, या अग्निके भीतर हीरे भरे हुए हैं' यह बात यदि वेद न बताता तो पहिले तो लोग अग्निपर प्रयोग करते कि अग्निमे-से हीरा कैसे निकलता है, परन्तु इस प्रयोग करनेकी प्रेरणा कैसे आती, यदि वेद इस बातको न बताता? तो 'शास्त्रयोनित्वात्'— शास्त्र ब्रह्मसे निकलता है और इसलिए वेद-ज्ञान अपौरुषेय है।

अत. उस अनादि अपौरुषेय वेदमे इस बातका आना कि अग्निसे हीरा निकलता है कोई आश्चर्य नही। इस प्रकार वेद अज्ञातका ज्ञापन करता है। जो बात सामान्य मनुष्योको नही मालूम वह बात वेद बताता है।

जब यह वेद प्रकट हुआ तो किस बुद्धिमे हुआ? ईश्वरकी जो समष्टि बुद्धि है उसमे वेद लीन था। जहाँ यह ब्रह्माण्ड लीन था उस समष्टि बुद्धिमे से ईश्वरने (कल्पके आदिमे) ब्रह्माण्डको निकाला तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोको निकाला और उसी समय ईश्वरने अपने अन्दरसे वेदको भी निकाला।

शब्दोपादानभावात्। ईश्वर केवल आकृतियोका ही उपादान नही है, वह शब्दका उपादान भी है। अर्थ प्रकट करनेवाली जो ध्वनियाँ हैं (**अर्थद्योतनात् ध्वनय**) वे शब्द कहलाते हैं। टेप-रिकार्डर तो सिर्फ ऊँची-नीची ध्वनियाँको जो कण्ठ, तालू, नासिका आदिके प्रभावसे उत्पन्न होती हैं रिकार्ड करता है, उनका अर्थ थोडे ही रिकार्ड करता है और फिर उन ध्वनियोको ज्यो-का-त्यों दोहरा देता है। तो ये जो ध्वनियाँ सृष्टिकालमे लीन थी, वे सबकी सब अर्थ द्योतक ध्वनियाँ थी। जैसे सृष्टिके समय ईश्वरने लीन आकृतियोके बीजको अकुरित किया उसी प्रकार उसने लीन ध्वनियोके बीजको भी अकुरित किया—अर्थात् ध्वनिकी अर्थद्योतन आनुपूर्वीको ईश्वरने सृष्टिकालमे प्रकट किया।

वह प्रकट करनेवाला जो सर्वज्ञ ईश्वर है और यह जो जाग्रत्-स्वप्नको प्रकट करनेवाला और सुषुप्तिको जाननेवाला जीवात्मा है; वे चैतन्यत दोनो एक है। सोते समय जैसे शब्द और आकृति और शब्द-अर्थ सम्बन्धी ज्ञान तथा उनकी आनुपूर्वी—सब बीजावस्थाको प्राप्त होकर सुषुप्तिके साक्षीभास्य बनते हैं और जाग्रत् होने पर वे सब पुन ज्यो-के-त्यो उदय हो जाते हैं उसी प्रकार

प्रलयावस्थामे सब आकृतियाँ और ध्वनियाँ और उनकी आनुपूर्वी बीजरूपमे लीन होकर ईश्वर-भाष्य रहती हैं और सृष्टिके समय ज्यो-की-त्यों पुनः अंकुरित हो जाती हैं। ये दोनो अवस्थाएँ बिलकुल एक है, भले ही उनमे एक बडी अवस्था और एक छोटी अवस्था हो या एक बडेकी अवस्था और एक छोटेकी अवस्था हो। अतः इन अवस्थाओंमे भेद होनेपर भी जो अवस्थाकी प्रकृति है वह बिलकुल एक है। इसलिए इनमें जो सर्वज्ञ चैतन्य है वह भी एक है। वही आत्म-चैतन्य है और वही ईश्वर-चैतन्य है।

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ है कि सबके मूलमें ब्रह्म है। ब्रह्म वह चीज है जिसने केवल दुनियाँकी सब चीजें ही पैदा नहीकी बल्कि जिसने जातियाँ भी पैदा की, शब्द प्रकट किये, उनके धर्माधर्म-ज्ञान प्रकट किये और उनमे सत्य और मिथ्याका ज्ञान प्रकट किया।

सत्य और मिथ्या तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी बोधक जो ध्वनियाँ-विशेष हैं उनकी आनुपूर्वीका नाम वेद है। यह चित्त और प्राणकी विशेष दशामे देखनेमे आता है। जैसे यदि हम अपने चित्तको वैखरीसे मध्यमामे, मध्यमासे पश्यन्तीमे और पश्यन्तीसे परामें ले जाकर बैठा दे, तो परावाक्से तादात्म्यापन्न होते ही वेद-मन्त्रोका साक्षात्कार होता है—वेद-मन्त्र दीखते हैं, सुनायी पड़ते हैं:

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे....

(ऋग्वेद २.२३.१)

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् होतारं रत्नधातम्।

(ऋग्वेद १.१ १)

वेद-मन्त्रोमे केवल भारतवर्षका वर्णन नही है, समग्र सृष्टिका वर्णन है और भूत-भविष्य-वर्तमान सब सृष्टियोका वर्णन है;

इसमे पथाई ईश्वरोका वर्णन नही है, समग्र ईश्वरका वर्णन है। वहाँ वेद बोलता है कि प्रत्येक नाम परमेश्वर है, प्रत्येक रूप परमेश्वर है, प्रत्येक आकृति परमेश्वर है, प्रत्येक वृद्धि परमेश्वर है, क्योंकि ये सब अधिष्ठान सत्तासे ही सत्तावान हैं; अधिष्ठान सबका एक है और अध्यस्त कुछ होता ही नही। ऐसे अखण्ड परब्रह्म परमात्माका वर्णन वेदमे प्राप्त होता है। ऐसी अनादि अविच्छिन्न सम्प्रदायसे प्राप्त अस्मर्यमाणकर्तृक जो नियतानुपूर्वीका ज्ञान है उसका नाम वेद है। उस ज्ञानके अनन्तर कालका भेद हुआ, पूर्व नही; उस ज्ञानके अनन्तर कर्तृत्व और कर्ता उत्पन्न हुआ, पूर्व नही। इसलिए ज्ञान किसी कर्ताका बनाया हुआ नही है, वह कर्ताका प्रकाशक है। ज्ञान कालमे बना नही, वह कालका प्रकाशक है। ज्ञानमे भूत-भविष्यका भेद नही क्योंकि वह भूत-भविष्यका प्रकाशक है। ज्ञानका नाश कभी नही होता क्योंकि वह सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त है, सम्प्रदाय उसमे पैदा होते हैं और मर जाते हैं। ऐसी जो ज्ञानराशि है उसका नाम वेद है। उसे ज्ञानराशिका मूल ब्रह्म है।

इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म जो जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, वह चेतन है और चेतन होनेसे जड़-सृष्टि ब्रह्मका विवर्त है। इसलिए जड-सृष्टि मिथ्या है और केवल चेतन-तत्त्व सत्य है।

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'से ब्रह्मका अखण्ड चेतनत्व और 'जन्माद्यस्य यत.'से ब्रह्मका अखण्ड सत्त्व और 'तत्तु समन्वयात्' के द्वारा दोनोकी बिलकुल एकता प्रतिपादित की गयी है। उस ब्रह्ममे यह सृष्टि-प्रपञ्च—जीवरूपसे भी, ईश्वररूपसे भी और सृष्टिरूपसे भी—ब्रह्मका विवर्त है।

●

वेदमूल ईश्वर !

जो अद्वैत-वेदान्ती होते है वे जगत्के व्यवहारमे कार्य-कारण-भावका बड़ा जोरदार निरूपण करते हैं। उनका कहना है कि बिना बीजके वृक्ष नही हो सकता। वृक्ष बीजावस्थामे रहता है और बोजसे ही अकुरित होता है। वे अभावसे भावकी और असत्से सत्की उत्पत्तिका अनुमोदन नही करते। नैयायिकोके इस मतका खण्डन कि अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है तथा पर-माणुमे कार्य नही था—इतने जोरदार ढंगसे भगवान् श्री शङ्करा-चार्यने अपने बृहदारण्यक-भाष्यके प्रारम्भमे ही कहा है कि पढकर आश्चर्य होता है। वह कार्य-कारणभाव मायाका है या वास्तविक है, यह बात दूसरी है। श्री गौड़पादाचार्यने इस बातको माण्डूक्य-कारिकाके तृतीय प्रकरणमे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

'कार्य-कारणभाव चाहे वास्तविक हो या मायाका हो श्रुति तो उसका एक-सा ही वर्णन करेगी।' यह प्रसग क्यो उठाता हूँ इस बातपर ध्यान दीजिये।

यदि सुषुप्तिमे बीज न रहे तो पूर्वदिनकी स्मृति उत्तरदिनमे नही हो सकती। अमुक मेरी माँ है, अमुक मेरा बाप है, अमुक मेरा सम्बन्धी या मित्र है, अमुकको देना है अमुकसे लेना है इत्यादि ये सब सोकर उठनेके बाद यथापूर्व याद रहते हैं, इससे पता चलता है कि सुषुप्तिमे भी इनका बीज रहता है। इसी प्रकार यदि प्रलयमे जगत्की वस्तुओका बीज न रहे तो फिर उनकी उत्पत्ति नही हो सकती। अखण्ड सत्तामे अखण्ड चेतनामें, अखण्ड आनन्दमें विना बीजभावके हुए यह त्रिविधात्मक सृष्टि नही हो सकती। किसानके घरमे यदि तरह-तरहके बीज न हो तो तरह-

तरहकी फसल नही हो सकती और यदि मिट्टीमे तरह-तरहके बीज न डाले जायँ तब भी तरह-तरहके अङ्कुर नही हो सकते। न माटीमे अनेक प्रकारके पौधे उत्पन्न करनेकी शक्ति है और न तो किसानमे वह शक्ति है। वह तो बीजकी विलक्षणतासे ही विविध फसलें होती हैं। इसलिए प्रलयकालमे सम्पूर्ण अशेष-विशेष बीजावस्थामे (कारणमे) लीन हो जाता है और सृष्टिकालमे वही पुन: प्रकट हो जाता है।

लोग कहते हैं अद्वैतियोंसे कि 'तुम्हारा अभेद अच्छा है कि कार्य भी है, कारण भी है और बीजभाव भी है और फिर भी अद्वैत है।' असलमे जो लोग शास्त्रीय रीतिसे अद्वैत-प्रक्रियाका स्वाध्याय नही करते; उनको समझमे यह बात नही आती। जो लोग केवल समाधिमे, निवृत्तिमें या स्वरूपस्थितिमे अद्वैत मानते हैं वे तो सचमुच व्यवहारसे विमुख होनेके मार्गमे है। वह तो दुनियाके लिए बड़ा अहितकारी है, उससे तो अर्थका, धर्मका, कामका, संस्कृतिका, इतिहासका सबका लोप हो जायेगा। वह स्थित्यात्मक अद्वैत बोध तो लोपात्मक हो जायेगा। ऐसा माननेवाले लोगोने तो मानो अद्वैतको किसी गुफामे कैद कर दिया। परन्तु यह जो औपनिषद अद्वैत है वह गुफामे कैद नही है, वह तो महाभारतमें भी कृष्णाद्वैत है, अर्जुनाद्वैत है, भीष्माद्वैत है। श्रीकृष्ण अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं सारथी भी, अर्जुन अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं और योद्धा भी; भीष्म अपनेको ब्रह्म भी देख रहे हैं और संग्राम भी कर रहे हैं।

जो प्रवृत्ति-निवृत्तिमे समत्व होता है वह शास्त्रीय प्रक्रियासे अद्वैत बोधमे होता है और अशास्त्रीय प्रक्रियामे जैसे कोई भाग-कर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और अपनी मनोवृत्तियोसे भागकर गुफामे बैठकर कोई अनुभव करे कि अब मैं अद्वैत हूँ, अब

मैं अकेला हूँ, मै ही मै हूँ। योगका अद्वैत कमरा बन्द करके अकेले-पनका अद्वैत है, भले उस योगी बेचारेको यह न मालूम हो कि उस कमरेमे उसके सिवाय कितनी मक्खी, कितने मच्छर, कितने कीट-पतंगादि हैं। वह तो अकेलेपनका अभिमान ही कर रहा है बस !

परन्तु यह जो हमारा शांकर-प्रक्रियारूढ औपनिषद वेदान्त है उसमें व्यावहारिक बीजांकुरभाव सत्य होनेपर भी परमार्थ दृष्टिसे वह अकिंचित्कर है। इसलिए न उसमें कार्यमे बन्धन है न कारणमे बन्धन है। गुफामे रहो तो ठीक और मैदानमे रहो तो ठीक। व्यवहारका इतना स्वातन्त्र्य द्वैतके अद्वैत हुए बिना और द्वैतमें अद्वैत हुए बिना सम्भव नही है। बाधित द्वैत और पारमार्थिक अद्वैत। द्वैत भी भासमान है और अद्वैत भी भासमान है। अद्वैत स्वरूप-रूपसे भासमान है और अबाधित है। द्वैत अन्यरूपसे भास-मान है और बाधित है; वह देशकालमे परिवर्तनशील होता हुआ स्वरूपका विवर्त है और इसलिए मिथ्या है। जादूके खेलमे साँपसे खेलनेमे डर कैसा ? द्वैत तो दाँत टूटा हुआ साँप है। जो लोग अद्वैतको व्यवहार-विरोधी मानते हैं वह ठीक नही जानते हैं।

बीज और अङ्कुरकी थोड़ी बात और सुनाते है।

प्रलयमें भी समग्र सृष्टिका बीज रहता है; उपादानरूपसे अज्ञान रहता है। कोई कहते है कि ब्रह्म उपादान है और कोई कहते हैं कि माया (अज्ञान) उपादान है। अद्वैत-वेदान्तमें इसका बड़ा भारी विचार है, परन्तु ये मात्र प्रक्रियाभेद है; लक्ष्य दोनोका एक है। माया निमित्त है और ब्रह्मरूप उपादानमे वह अनेकताको दिखाती है, यह एक पक्ष है। और दूसरा पक्ष वह है कि ब्रह्म निमित्त है और मायारूप उपादानमे जो बीजभूत अनेकता है, उसको वह प्रकट करता है।

यदि बीजकी सत्ताको न मानें तो सोनेके वाद जाग्रत् नही हो सकता, मुक्ति होनेके वाद फिर जन्म होगा, अनावृत्तिका वर्णन लुप्त हो जायेगा, क्योकि जब बिना बीजके ही जन्म होता है तो निर्बीज मुक्तिसे भी जन्म सम्भव है। जीवन्मुक्ति नामकी चीज ही गायब हो जायेगी, मुक्ति सिद्ध नही होगी और सृष्टि-प्रलयकी प्रक्रिया भङ्ग हो जायेगी। इसलिए प्रलय और सुषुप्तिदशामे बीजको स्वीकार करते हैं।

परमार्थमे बीज है या नही ? इसको भी काट देते है। देखो, बीज भी पञ्चभूत हैं और खेत भी पञ्चभूत है। दोनोमे फरक क्या है ? खेतकी सत्ता निर्बीज है, माने मृत्तिका निर्बीज है और संस्कार-युक्त जो मृत्तिका—पिण्ड है वह सबीज है। अब देखो गोली मारो ! जहाँ सत्-दृष्टि है वहाँ बीजाङ्कुरभाव नही है। जहाँ चित्-दृष्टि है वहाँ भी बीजाकुरभाव नही है। परन्तु यदि बीज ही न हो तो ज्ञान प्राप्त करके भी क्या करोगे ? वेदान्तज्ञानका प्रयोजन ही व्यर्थ हो जायेगा।

ज्ञानदाह्यबीजाभावे च अनिर्मोक्ष-प्रसंग.

यदि ज्ञानसे जलानेके लिए कोई बीज ही न हो तो ज्ञान काम ही क्या करेगा ? मोक्ष ही सिद्ध नही होगा।

अब यदि पचभूतमे सस्कारयुक्त कोई बीज है और आप उसे नष्ट करना चाहते हैं तो आप आगसे उसे जला दीजिये। चनाको भून दो तो उसको बोनेपर भी उसमे से अकुर नही निकलेगा। अच्छा ठीक है, यदि जड़ बीज और अकुरका स्थल होवे तो वहाँ आगसे बीज जलाया जा सकता है। परन्तु जहाँ चेतनमे ही बीजा-ङ्कुर-प्रसंग हो तो ? चेतन स्वरूपके अज्ञानसे ही जो बीजाङ्कुर है उसमे अज्ञानको जलानेके लिए ज्ञानकी जरूरत पड़ेगी। असलमे, शुद्ध स्वरूपमे कार्य-कारणभाव बुद्धिकी एक ग्रन्थि है अर्थात् भ्रान्ति है और नासमझीसे आयी हुई है।

एक महात्मा कहते है कि नासमझीको जान लो तो नासमझी मिट जाती है। अर्थात् नासमझी (अज्ञान) को समझना ही ज्ञान है। शास्त्रीय दृष्टिसे इसमें थोड़ा परिष्कार अपेक्षित है। नासमझीके विषय अर्थात् ब्रह्मको और नासमझीके आश्रय अर्थात् स्वयं अपने आपको—इन दोनोके ऐक्यको समझना ज्ञान है। असलमें नासमझीने इन आश्रय और विषयको अलग-अलग कर दिया है। इसलिए यदि आश्रय विषय-सहित नासमझीको जान लो तो नासमझी मिट जायेगी। इसका अर्थ है कि अधिष्ठान और प्रकाशकके ऐक्य-ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होता है, न कि अज्ञानके ज्ञानसे।

वेदने प्रश्न किया कि विराट्में ये घोड़े पैदा हो रहे हैं, ये भेड़-बकरियाँ पैदा हो रही हैं, ये कहाँसे पैदा हो रही है? और उत्तर दिया कि उसी परमेश्वरसे ये सब पैदा हो रहे हैं—

अस्माद् अश्वा अजायन्त ·· ··तस्माज् जाता अजा वयः।

(ऋग्वेद १०.९०.१०)

तो बोले कि बस, ये वेद भी उसी परमेश्वरसे पैदा होते हैं। वेदके भी बीज होते हैं—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत॥

(ऋग्वेद १०.९०. ९)

उसीसे ऋग्वेद प्रकट हुआ, उसीसे सामवेद प्रकट हुआ, उसीसे यजुर्वेद प्रकट हुआ। यह वेद भी विराट्में प्रकट हुआ। जैसे बीजसे घोड़े-बकरी पैदा होते हैं वैसे ही बीजसे वेद भी प्रकट हुए।

कार्य-कारणके अन्तर्गत ही वेद है। यह सृष्टि अनादि है—इसमें नाम-रूप अनादि हैं, भेद अनादि हैं, वेद अनादि हैं। परन्तु यह अनादित्व कबतक? वेदकी यह महिमा है कि प्रयोजनकी

निवृत्तिके बाद स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। जैसे प्यास लगी तो पानी पीआ। जब प्यास निवृत्त हो गयी तो गिलासमे बचे हुए पानीका मूल्य क्या ? उसे फेक दोगे न। प्यासके लिए जलकी कितनी आवश्यकता है परन्तु प्यास बुझनेपर शेप जलको फेंक देते हैं। उसी प्रकार अज्ञान मिटानेके लिए ज्ञानरूप वेदकी वहुत जरूरत है परन्तु अज्ञान-निवृत्त होनेपर वह वेद भी निष्प्रयोजन हो जाता है।

वेद ऐसा ज्ञान देता है कि उसके बाद कोई ज्ञान शेप नही रहता :

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। (मुण्डक १.१.३)

उपनिषद्की यह प्रतिज्ञा है कि वह ऐसा ज्ञान देता है कि जिसको जान लेनेपर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। इन्द्रियोके द्वारा बुद्धिमें जो ज्ञान भरा जाता है वह उपनिषद्-ज्ञान नही है। इसी बातको श्रीकृष्ण गीतामे इस प्रकार कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते। (७.२)

'जिसको जान लेनेपर कोई अन्य ज्ञातव्य शेष नही रह जाता।'

यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। (१३.१३)

'जिसको जानकर अमृतका भोग करता है।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं एवं यास्यसि पाण्डव। (४.३५)

'हे अर्जुन, जिसको जानकर फिर पुनः मोहको प्राप्त नही होता।'

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति नचिरेणाधिगच्छति। (४.४९)

'ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही परं शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ये सब वृन्दावनके ग्वारियाकी वाणी है महाराज! श्रुतिका सार!

जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि जहाँ ज्ञानका ज्ञाता ज्ञानके पीछे नही रहता और ज्ञेय ज्ञानके सामने नही रहता,

अर्थात् जब ज्ञानकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है और ज्ञान ही अखण्ड ब्रह्मके रूपका अनुभव हो जाता है तो वहाँ वेदकी निवृत्ति हो जाती है। वेद अनादि रहकर भी प्रयोजन-पर्यन्त रहते हैं और बाधित हो जाते है—**षडस्माकं अनादयः** (संक्षेपशारीरक)। जगत्, जीव, ईश्वर और इनका भेद अनादि होनेपर भी सब अनन्त नही होते, सान्त होते हैं।

स्वर्गीय बाबू सम्पूर्णानन्द जी (उत्तर प्रदेशके भूतपूर्व मुख्य मन्त्री) कहते थे कि जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है। परन्तु यह बात ठीक नही है। वैज्ञानिक लोगोको पहिले परमाणु विखण्डनकी प्रक्रियाका अज्ञान था। कबसे था? अनादि कालसे। परन्तु जब १९४५ मे परमाणु बम्ब बना तो उसका अज्ञान निवृत्त हो गया। आप मान लो रूसी भाषा नही जानते। कब तक उसका अज्ञान रहेगा आपको? जब तक आप भाषा सीख नही लेते। मतलब यह कि अज्ञान अनादि होनेपर भी ज्ञान द्वारा सान्त है; अनन्त नही है।

वेद अर्थात् विशेष-विशेष ज्ञानोंका बीज और उनकी निवृत्ति परमेश्वरसे ही निकलता है। और वेद ही यह बताता है कि चैतन्यमे ही इन सब विशेष-अशेष ज्ञानोका अध्यारोप होता है और उसीमे उनका अपवाद होता है तथा अपवाद हो जानेपर शुद्ध-चैतन्य ही शेष रहता है। फिर अध्यारोप दशामें भी सब कुछ चैतन्याभिन्न ही है।

फूलको अलग-अलग पहिचानना, उनको माला बनाना, एक बात है। फूलोंकी जातियाँ पहिचानना एक बात है। फूलोमें पञ्चभूत पहिचानना यह दूसरी बात है। पञ्चभूतोंमे एक ही सत्ता अनुगत है यह जानना तीसरी बात है। और सत्ता आत्म-स्वरूप ज्ञानसे अभिन्न होती है यह चौथी बात है।

यदि सत्ता आत्मसत्तासे पृथक् हो जाय तो सत्ताकी पृथक्ता-का जो प्रकाशक है और अधिष्ठान है वह सत्ताकी पृथक्ताके अभावका भी प्रकाशक और अधिष्ठान होगा। तब? पृथक्ता अपने अभावके अधिकरणमे प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या हो जायेगी। इसलिए यदि कोई सत्ता हमारी आत्मासे पृथक् होगी तो वह अतथ्य होगी, मिथ्या होगी, वितथ होगी। ज्ञान स्वरूपसे पृथक् सत्ताकी कल्पना ही अमगल है चाहे वह देशकी सत्ता हो, कालकी या इनके कारणकी अथवा उस कारणावच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर)की। हमारी श्रुति भगवती कहती है—

प्रतिबोधविदितं मतम्। (केन २४)

'वह प्रत्येक बोधमे अनुगत है।' घटबोध, मठबोध, पटबोध, स्त्रीबोध, पुरुषबोध, शरीरबोध—विषयके भेदसे अनेक आकार बोधके आते हैं, परन्तु ये आकार तो प्रक्षिप्त है और बोध स्वय निराकार है। आकार और आकारका अभाव दोनो एक अधिष्ठान-मे भास रहे हैं। अत जिस एक प्रकाशमे ये भास रहे हैं उसमे आकार और आकारका अभाव दोनो मिथ्या हैं।

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्व मिथ्यात्वम्।

'अपने अभावके अधिकरणमे भासना मिथ्यात्वका लक्षण है।'

बीज रहता है सुषुप्तिकालमे और प्रलय कालमे और अकुर रहता है जाग्रत् और सृष्टिकालमे। ये बीज और अकुर भी बदलते रहते हैं। बीज अकुर हो जाता है और अकुर बीज हो जाता है। गेहूँसे तना निकलता है और तनेसे गेहूँ। अत बीजाङ्कुररूप यह सृष्टि अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीयसे पूर्व ज्ञान है। अर्थात् अनिर्वचनीयको ज्ञान ही देश, काल, द्रव्य और इनके अभावको प्रकाशित करता है। ज्ञान अपना आपा है।

ज्ञान देश-काल-द्रव्य और अनिर्वचनीय कार्यकारणसे पहिले है। किसी भी व्यक्तिके बननेसे पहिले ज्ञान है, उसके मरनेके बाद ज्ञान है। अन्तःकरणके पहिले ज्ञान है और बादमें ज्ञान है। विषयोसे पहिले ज्ञान है, बादमे ज्ञान है। स्मृतिसे भी पहिले ज्ञान है, बादमे ज्ञान है। ज्ञानका स्वरूप है—कालापरिच्छिन्न, अस्मर्यमाणकर्तृक, सम्प्रदायाविच्छेनप्राप्त, अनादि, अपौरुषेय। वह भोक्ता, स्मृति, पौरुष, सम्प्रदाय और अनुभवसे पूर्व है। यह वेद अर्थात् ज्ञानका स्वरूप हैं।

यदि वेद शब्दका अर्थ ठीक-ठीक समझें तो हमे आत्मज्ञान हो जायेगा। और वेदकी सफलता ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानमे हो जाती है। यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कहाँसे उदय होता है? वेदसे। अकल्पित ज्ञान है वेद और कल्पित ज्ञान भी है वेद। कल्पित्त ज्ञानके द्वारा अकल्पित्त ज्ञानको प्राप्त कराना यह वेदका उद्देश्य है।

वेद कल्पित अनादि है और आत्मा अकल्पित्त अनादि है। वेद अस्मर्यमाणकर्तृक हैं (अनुभूत ज्ञानको याद कर-करके नही बनाये गये) और आत्मारूप ज्ञान अकर्तृक है (आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, उसका ज्ञान औपाधिक या बनाया हुआ नही है)। वेद अपौरुषेय हैं (अर्थात् वृत्ति-विशेष नही हैं) और आत्मा उस अपौरुषेयताका भी प्रकाशक है)। वेद सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त हैं और आत्मा प्रत्येक बोधमे अनुगत है। वेद ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण है।

वेदकी आनुपूर्वी क्या है?

बोधे बोधेऽनुविद्धा श्रुतिशिरसि सदा संविदेका प्रसिद्धा।

जितना अलग-अलग ज्ञान होता है व्यवहारमें, उसमें विषय अलग-अलग होता है परन्तु ज्ञान अलग-अलग नही होता। विषयो-

की उपाधिसे, अन्त:करणकी उपाधिसे, इन्द्रियोकी उपाधिसे अखण्ड ज्ञान अनेक रूप हो रहा है, परन्तु संविद् बिलकुल एक है।

बोधा भिन्ना उपाधेर्निरुपधिकतया भिद्यते सा कथंचित्।

उपाधिके कारण बोध अनेकरूप भासते हैं। निरुपाधिक होनेके कारण यह जो संविद् है, उसमे भेद भला कैसे हो सकता है?

वेद सुषुप्ति और प्रलयावस्थामें बीजके रूपमें रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें वेदका स्मरण तक नही रहता। उस समय वेद कहाँ रहता है? जाग्रत्‌में जिन वेदमन्त्रोका स्मरण करते हैं उनकी योनि कहाँ है? अर्थात् उनका बीज कहाँ है? सुषुप्तिमें। तो वेदकी आनुपूर्वी भी सुषुप्तिमें बीजरूपसे रहती है। आनुपूर्वी अर्थात् क्रम। पहिले कौन-सा मन्त्र, पीछे कौनसा मन्त्र; मन्त्रोमें भी पहिले कौन-सा शब्द, पीछे कौन-सा शब्द, शब्दोमें भी पहिले कौन-सा अक्षर, पीछे कौन-सा अक्षर—इस प्रकार मन्त्रोकी, शब्दोंकी, अक्षरोकी, ध्वनियोकी, अर्थोंकी, सबकी आनुपूर्वी है और ये सब मिलकर वेदकी आनुपूर्वी पूरी होती है। 'शं नो मित्र०' वेदमन्त्र पहिले बोलते हैं और 'स्वस्तिन इन्द्रो०' मन्त्र पीछे बोला जाता है। 'शनो मित्र०' मन्त्रमें पहिले 'श' है पीछे 'नो' और 'मित्र' इत्यादि हैं। मित्रमें भी पहिले 'मि' है फिर 'त्र' है। यह आनुपूर्वी कहलाती है। तो प्रलयावस्था और सुषुप्ति-अवस्थामें वेद और वेदकी आनुपूर्वी बीजरूपमें परमेश्वरमें निवास करते है। जैसे सुषुप्तिकालका ज्ञान कि 'मैने कुछ नही जाना' सुषुप्तिमें रहता है उसी प्रकार प्रलयका साक्षी-ज्ञान प्रलयमें रहता है। उसी साक्षीके सान्निध्यसे बीज-भावका प्रलय और उदय होता है। ●

(३.७)

क्या ईश्वर वेद्की रचना करता है ?–१.

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात् तत्तु-समन्वयात्।

हम चल रहे हैं, परन्तु कहाँसे कहाँको, इसका पता नही। 'अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः' के अनुसार चलना, चलना नही होता। इसके लिए जीवनमें एक 'अथ' चाहिए। जहाँसे अथ' होता है वहाँसे जीवनका प्रारम्भ होता है।

'अथ' अर्थात् जीवनके लक्ष्यके लिए हम अपने जीवनको एक खास रास्तेपर डाल रहे हैं। यह विवेकका मार्ग है, वैराग्यका मार्ग है, मनकी शान्तिका मार्ग है, मर्यादित इन्द्रिय-व्यापारका मार्ग है, कर्मविक्षेपको छोड़नेका मार्ग है, सशयको छोड़नेका मार्ग है। जहाँ फँसे हुए हैं वहाँसे मुक्त होनेका मार्ग है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

परिच्छिन्नके ज्ञानमे अरुचि और अतृप्ति हो और एकमात्र अनन्तके ज्ञानकी इच्छा तथा विवेक हो तो अपने आप ही जीवनमे वैराग्य, शान्ति, उपरामता हो जाती है।

बहुत-सी कक्षाओंमे वेदान्तके ग्रन्थ पढाये जाते हैं। परन्तु पोथीका वेदान्त दूसरी चीज है और अनुभवके मार्गमे वेदान्त पढना दूसरी चीज है। हम परमेश्वरका, परमार्थसत्यका, अनुभव करनेके लिए वेदान्त-शास्त्रका स्वाध्याय करते-कराते हैं।

जिस वस्तुको हम ब्रह्म अर्थात् अनन्त कहते हैं उसको क्या जगत् या अपनी आत्माको छोडकर समझ सकते हो? कहो कि ब्रह्म जो होय सो होय, हमे उससे क्या मतलब? तो यह विचारका मार्ग नही है। इसका अर्थ है कि तुम अज्ञान पसन्द करते हो। जब प्रपञ्चका स्रोत अज्ञात रह जायेगा तो अनन्त ब्रह्मका अनुभव ही कहाँ हुआ? इसी प्रकार यदि आत्मा, जीव, ईश्वर—इनका स्वरूप ज्ञात नही हुआ तो अनन्त ब्रह्मका अनुभव कहाँ हुआ? ब्रह्म तो वह चीज है जिसमे कोई चीज अज्ञात बचती ही नहीं है : "यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञात भवति"।

हम राधास्वामी दयालुके पास गये और अपनी ब्रह्मजिज्ञासा उनके पास प्रकट की। वे बोले : 'ब्रह्म तो बहुत छोटी चीज है। हम तो तुम्हे और ऊपर ले जा सकते हैं। पहिले आज्ञाचक्र, फिर त्रिकुटी (यह ब्रह्मका स्थान है), फिर भ्रमरगुफा इत्यादि (यह परब्रह्मके स्थान हैं); इसके बाद शून्य फिर महाशून्य फिर गुरुधाम और कुल्लेमालिक।' मैंने कहा : 'आप अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख लो तो हमे क्या आपत्ति हो सकती है।'

वेदान्तमे कोई रक्तबिन्दुका नाम ब्रह्म नही है। न किसी व्यक्तिका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म तो वह अनन्त चेतनतत्त्व है जिसके ज्ञान होनेपर सब कुछ विज्ञात हो जाता है। उपनिषद्की यह

प्रतिज्ञा है और ब्रह्मज्ञानकी यह कसौटी है। यदि सब कुछ ब्रह्म न होता तो ब्रह्मज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूरी न होती। बल्कि वस्तुतः ब्रह्मसे सर्व नहीं है। जबतक सर्वका सम्बन्ध—व्यक्तिशः तथा समग्रतः ब्रह्मसे नही होगा, तबतक उपनिषद्की प्रतिज्ञा पूरी नही होगी। श्रुति कहती है :

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य० ६.१.४)

केवल मृत्तिका ही है, मृत्तिकाके विकार (घट, सकोरा इत्यादि) तो केवल नाम मात्र हो हैं। इसी प्रकार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत्की वस्तुएँ, जीव, ईश्वर, सब उसीके नाम मात्र हैं, उसीके विवर्त है। ब्रह्मके बारेमें वेदान्तमे यह बात कही गयी है कि सत्य उसको कहते हैं जो अकेला सच है और दूसरी जितनी चीजें हैं वे केवल कहने भरके लिए है, नाम मात्र हैं। अधिष्ठानके ज्ञानसे सब अध्यस्तोंका ज्ञान हो जाता है।

ब्रह्मके ज्ञानसे यह-यह, तुम-तुम, तुम-मैं, मै-मैं, का सब भेद नष्ट हो जाता है। **अहमो बहुवचनं नास्ति।** क्यो? क्योकि यह, यह-यह, ये (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) अनुभव होता है, तुम, तुम-तुम, तुम सब लोग अनुभव होता है परन्तु मै, मैं-मैं, हम सब यह अनुभव नही होता (अहंका द्विवचन या बहुवचन अनुभव नही होता। अहंकी एक इकाई ही अनुभव होती है)। इसलिए अहका बहुवचन अहका विवर्त्त होता है। 'वयम्'में 'अहम्' कहाँ गया? इसलिए 'वयम्' 'अहम्'का विवर्त है।

एक दूसरा उदाहरण विवर्तका (व्याकरणमें) है कि धातु है दृश् और उसके रूप चलते है पश्यति, पश्यतः, पश्यति। तो ज्ञानार्थक जो दृश् धातु है उसका विवर्त है 'पश्यन्ति'। 'पश्यति' न दृश् धातुका परिणाम है, न विकार, न आरम्भ और न स्वरूप

दृङ्मात्र जो आत्म वस्तु है उसमे पश्यति त्रिपुटोकी औपाधिक क्रिया है।

जितनी चीजें और जितनी वुद्धियाँ दुनियामे दोखती हैं वे ब्रह्म-से जुदा नही है। यदि जुदा होगी तो ब्रह्मके ज्ञानसे उन सवका ज्ञान नही हो सकता। 'वाचारम्भणम्' कहकर यही वताया कि ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नही है और प्रतिज्ञा की कि एकके विज्ञानसे सवका विज्ञान हो जाता है।

हम योगदर्शनकारसे पूछते हैं कि तुम्हारे मतमें कोई ऐसी वस्तु है क्या कि जिस एकके ज्ञानसे सवका ज्ञान हो जाय? ठीक है, समाधिमे दूसरी वस्तुका भान नही होता, परन्तु भाव न होनेसे ही अस्तित्व नही मिटता और न वह वस्तु द्रष्टासे अभिन्न हो जाती है।

साख्यसे पूछा तो वताया कि हमारा पुरुप तो प्रकृति और प्राकृत पदार्थसे न्यारा है। असलमे साख्यमतमे ब्रह्म नामकी कोई वस्तु है ही नही।

आप वेदान्तमतको भले स्वीकार न करें, परन्तु कम-से-कम जो वेदान्त नही है उसको वेदान्त न मानें। वेदान्त वताता है कि द्वैत-प्रपञ्चमे प्रवृत्ति और निवृत्ति समान हैं। व्यापार करो या समाधि लगाओ, कुछ भी करो, सव ब्रह्म है; और कुछ भी न करो तब भी ब्रह्म है। ब्रह्म-ज्ञानमे पराधीनतासे मुक्ति है, निरंकुश स्वतन्त्र्य है।

'जन्माद्यस्य यत'से यह वात वतायी जाती है कि यह जो दुनिया है उसका आधार (स्थिति) और अनन्य उपादान (उत्पत्ति और लय) सब ब्रह्म है। तो क्या परिणामसे उत्पत्ति, सम्बन्धसे धारण और कार्य-कारण भावसे लय होता है? नही।

यह तो तब सम्भव होता जब ब्रह्म जड़ होता। 'यत्' पदका अर्थ है 'चेतन' और 'शास्त्रयोनित्वात्' इस चेतनत्वकी पुष्टि करता है। ब्रह्म चेतन सिद्ध होते ही मामला पलट जाता है। चेतनमें परिणामसे, न सम्बन्धसे और न कार्य-कारण भावसे ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सम्भव है। चेतनमें तो सब विवर्त रूपसे ही (मिथ्या प्रतीतिके रूपमे) सम्भव है।

यदि चैतन्यसे सृष्टि हुई तो चैतन्य आधा-अधूरा सृष्टिमे परिणत हुआ या पूरा-का-पूरा सृष्टिके रूपमे परिणत हो गया ? यदि पूरा परिणामको प्राप्त हो गया तब तो चैतन्य ही नष्ट हो गया और यदि आधा पैदा हुआ तो इस परिणामका ज्ञाता न्यारा रहा। यदि कहो कि बदल-बदल कर कभी चैतन्य और कभी सृष्टि हो जाती है तो यह बदलना किसको मालूम पड़ा ? वह तो न्यारा ही रहा ! इसलिए जब चैतन्यको सृष्टिका उपादान बताया जाता है तो चाहे श्रुति वर्णन करे और चाहे महात्मा, उसका अर्थ होता है कि चेतनमे द्वैतकी प्रतीति होती है, चेतनमे सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय वास्तवमे नही होते। माने, विवर्तमात्र उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-युक्त होता है। चैतन्यके विरुद्ध भासनेका नाम विवर्त है। जड़मे उत्पत्ति होती है, चैतन्यमे प्रतीति होती है; जड़में प्रलय होता है, चैतन्यमे बाध होता है। जड़मे आधार-आधेय भाव होता है। असलमे उत्पत्ति आदि शब्द लोक-शब्दोके अनुवाद हैं। चैतन्य-उत्पत्ति माने प्रतीति, स्थिति माने अध्यस्त-भाव और लय माने बाध होता है। ये चेतनके अतिरिक्त कुछ भी नही हैं। इसलिए 'जन्माद्यस्य यत'से जिस ब्रह्मका लक्षण किया, वह चैतन्य ब्रह्म ।

चैतन्य वस्तु जो होगी, जिसमें जन्म और प्रलय प्रतीत होते हैं, वह कालसे पहिले होनेके कारण कालसे परिच्छिन्न नही है

और आधार होनेके कारण देशसे परिच्छिन्न भी नही है, तथा उपादान होनेके कारण वस्तुसे भी परिच्छिन्न नही है। ऐसी अप-रिच्छिन्न वस्तु चैतन्य होनेसे उसमे कार्य-कारण भावकी प्रतीति, आधार-आधेय भावकी प्रतीति, उपादान-उपादेय भावकी प्रतीति सब चेतनके विवर्त हैं। ऐसा चेतन हमसे एक या जुदा? बिलकुल एक, क्योंकि यदि चेतन आत्मासे न्यारा होगा तो या तो वह दृश्यतः ज्ञात होगा और इसलिए वह सापेक्ष, जड और पराधीन हो जायेगा (तब वह चेतन ही नही रहेगा) और यदि वह ज्ञात नही होगा तो वह परोक्ष और कल्पित होगा। इसलिए चेतन जब होगा, आत्मासे अभिन्न होगा।

चेतनकी अद्वितीयता समझानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति है। न तुमसे जुदा ईश्वर है, न जीव हैं और न जगत् है और न इनका भेद है। वेदान्त कहता है, 'अहं ब्रह्मास्मि।' इस अनुभवका उल्लेख वृत्तिमे होना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बातपर विश्वास करनेका नाम ब्रह्म नही है। विश्वास उपासनामें आवश्यक होता है, साक्षात्कारमें विश्वास नही किया जाता। वहाँ तो वस्तुका अपरोक्ष होता है। सोऽहम्, शिवोऽहम् दोहराना उपासनाके अन्त-र्गत है। वेदान्तके ज्ञानके लिए एक प्रक्रिया होती है।

योगी कहते हैं कि वृत्तिको दोहरानेकी अपेक्षा तो सो जाना ठीक है। समाधि आध्यात्मिक सुषुप्ति होती है। प्रश्न यह नही है कि साधन कौन-सा श्रेष्ठ है। प्रश्न यह है कि आपका व्यावर्त्य क्या है, आपका निवर्त्य क्या है? निवर्त्यके अनुसार साधन होता है। काम निवृत्तिके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत साधन है। क्रोध-निवृत्तिके लिए अहिंसा-व्रत साधन है। लोभके लिए अस्तेय और अपरिग्रह साधन हैं। मोहके लिए अलग रहना और ईश्वरसे मोह करना

साधन है! ससार-वासनासे निवृत्तिके लिए 'अहं ब्रह्मास्मि'को आवृत्ति साधन है।

भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिर जाय।

यह (अहं ब्रह्मास्मिकी आवृत्ति) विक्षेप होनेपर भी साधक-विक्षेप है। यह विवाहित वृत्ति है, वेश्यावृत्ति नही है।

समाधिमे विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है, परन्तु अज्ञान-निवारणका सामर्थ्य समाधिमें नही हैं क्योकि अज्ञान ज्ञानसे निवृत्त होता है। अज्ञानका प्रतिभट है ज्ञान, शान्ति नही।

वेदान्त-ब्रह्म सत्य है और ज्ञान हैं। सत्य जड़ हो सकता है और ज्ञान असत्य हो सकता है; अतः इन सम्भावनाओको दूर करनेके लिए ब्रह्मको 'सत्यम्' और 'ज्ञानम्' दोनो कहा है। सत्य और ज्ञानकी एकता परिच्छिन्न भी तो हो सकती है। इसलिए इस परिच्छिन्नताका निषेध करनेके लिए श्रुतिने ब्रह्मको 'अनन्तम्' भी कहा है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**

ब्रह्म तो सत्य, ज्ञान और अनन्त है, ठीक। परन्तु हम क्या हैं? वेदान्तने कहा: **तत्त्वमसि।** अर्थात् व तुम्ही हो। 'मै' पदसे उपलक्षित चेतन अद्वितीय ब्रह्म है और जीव, माया, ईश्वर, कोई उससे न्यारा नही है।

इसी बातको समझानेके लिए—अधिष्ठान ईश्वरको सर्वज्ञता और ज्ञान-रूपताको समझानेके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र प्रयत्न करता है। सर्वापेक्ष सर्वज्ञ होनेकी अपेक्षा जो ज्ञप्ति-रूप है, वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञता उसका उपलक्षण है। पहिले उपलक्षणको सिद्ध करते है, फिर उपलक्षितको सिद्ध करते हैं।

जैसे गंगाजीको बताना है तो कहते हैं: देखो वह रही गंगा, जहाँ ऊँच-नीची भूमि है, वृक्ष हैं। वहाँ जाओगे तो शीतल-मन्द-

सुगन्ध वायुका स्पर्श होगा। अब न तो ऊँचा-नीचा तट गंगा है, न वृक्ष गगा हैं और न शीतल वायु गगा है। परन्तु सब गंगाको दिखानेमे सहायक हैं। वहाँ जायेंगे तो ऊँची-नीची भूमिके पीछे, वृक्षोके पीछे गगाका दर्शन होगा और शीतल वायुका भी स्पर्श होगा। इसी प्रकार सर्वज्ञता ब्रह्मका उपलक्षण है। सर्वज्ञता और अल्पज्ञता दोनो तट हैं। ईश्वरकी सर्वज्ञता कैसी है? इसपर विचार करो।

शास्त्रयोनित्वात्। वेद (शास्त्र) की योनि होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसमे हमारे नैयायिक और पूर्वमीमासकोमे मतभेद है। नैयायिकोका कहना है कि वेद ईश्वरकी रचना है और पूर्वमीमासकोका कहना है कि वेद ईश्वरकी रचना नही है, वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। इस विवादका मूल तत्त्व आपको सुनाता हूँ।

वेदान्तको दुनियासे वैराग्य कराना इष्ट है। जबतक तुम्हारा अन्त करण रागरजित रहेगा तबतक उसमे अभोग्य वस्तुको जाननेकी इच्छा नही होगी। तबतक उसीको पानेकी कोशिश होगी जिससे भोग मिले। अभोग्यकी जिज्ञासा अन्तःकरणमे टिक नही सकती।

ये जो साधुओंको गाली देनेवाले लोग होते हैं वे अपने इस आचरणसे यह नही प्रकट करते कि साधु कितने बुरे होते हैं। वे यह प्रकट करते हैं कि उनके हृदयमे ससारके प्रति कितना राग है। जब कोई वैराग्यकी, त्यागकी या इनसे सम्बन्धित समर्थक वस्तुओकी निन्दा करता है तो वह ससारके प्रति अपना राग ही प्रदर्शित करता है कि वह न खुद छोडना चाहता है और न किसी का छोडना उसे पसन्द है। खास करके जब कोई गृहस्थ चेला बनाने लगता है, तब वह साधुओका निन्दक हो जाता है। यह बात हम कोई पचास वर्षसे देखते हैं।

संसारमें दो प्रकारके अन्तःकरण होते हैं: रागोपाधिक और वैराग्योपाधिक।

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणम्। (भागवत)

धर्मके दो रूप क्यों हैं, एक प्रवृत्तिरूप और एक निवृत्तिरूप? क्योंकि किसीका अन्तःकरण राग-प्रधान होता है और किसीका वैराग्य-प्रधान। वैराग्य-प्रधान साधक उस अनन्त वस्तुको जानने-की इच्छा करता है जो उसे योग नही दे सकता; और राग-प्रधान साधक बार-बार भोग्य वस्तुओके भोगकी ही इच्छा करता है।

कर्ममें प्रवृत्ति, भोगमें लिप्सा और अर्थ-संग्रहकी इच्छा—इनके त्यागसे जब हम भयभीत होते हैं तो त्यागकी निन्दा करने लगते हैं। साधु जब मण्डलेश्वर हो जाते हैं या उसके इच्छुक होते हैं तो त्याग-वैराग्यकी निन्दा करने लगते हैं। परन्तु यह निन्दा तो उनकी अपनी भोग-संग्रहकी इच्छाका विज्ञापन है। साधक मानो कहते हैं कि देखोजी, हम तो इसको छोड़नेको तैयार नही हैं। ईश्वरको यदि हमसे मिलना हो तो यही आकर मिल जाय!

वेदान्त कहता है कि सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयकी कल्पना करोगे तो संसार नश्वर है, यह बोध होगा और परिणामतः वैराग्य होगा। संन्यासकी ओर प्रवृत्ति होगी।

यहाँ पूर्वमीमांसक कहेगे कि जनेऊ, चोटी, अग्निहोत्र छोड़ना (माने संन्यासी होना) तो भ्रष्ट होना है।

तब क्या करें? वैराग्य तो संसारमे होता है। संसार तो नाशवान् है ही।

पूर्वमीमांसक—नही, संसार नाशवान् नही है। यह अनादि और नित्य है। ईश्वरने इसे नही बनाया। इसलिए इसमें कर्म और भोगकी शृङ्खला भी अनादि और नित्य है।

इस प्रकार दो पन्थ हमारे सामने आते हैं—रागमूलक पूर्व-

मीमासकोका पन्थ और वैराग्यमूलक उत्तरमीमासा (वेदान्त)-का पन्थ। इनमे तत्त्व क्या है? अनिर्वचनीयताका सिद्धान्त आपको कहाँ ले जाकर पहुँचाता है? यह सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है।

ईश्वर सृष्टि बनाता है, यह कहना भी ठीक है। यह जो बिजलीका बल्ब है उसको तुम जलाते हो या नही? जलाते हैं, स्विच खोलकर जलाते है। क्या तुम बिजली भी पैदा करते हो? नही, वह तो लाइनमे पहिलेसे रहती है, परन्तु हाँ पावर-हाउसमे बिजली भी बनती है।

नही, आप पावर हाउसमे भी बिजली नही बनाते हैं। विश्व-सृष्टिमे जो बिजली पहिलेसे ही प्राप्त है उसको आप पकडते भर हैं। इसलिए आप बिजली बनानेवाले नही हैं, आप तो सिर्फ उसका उपयोग करनेवाले हैं।

इसी प्रकार यह जो सृष्टिमे आकृतियोकी धारा, वासनाकी धारा, ज्ञानकी धारा वह रही है वह अनादि और नित्य है। परन्तु इस धाराको खोलना और बन्द करना (प्राकट्य और प्रलोप), यह ईश्वरका काम है। ज्ञानकी धाराको बन्द कर देना या चालू कर देना और ज्ञानकी नित्यता रहना—ये दोनो बातें एक साथ चलती हैं।

अब देखो, अक्षर नित्य है, शब्द नित्य है और उनकी आनुपूर्वी नित्य होनेसे वाक्य नित्य है। अत. वेद नित्य है। इसलिए वेद-को ईश्वरने नही बनाया। वेदका प्राकट्य और लोप ईश्वर द्वारा होता है। इसको आप समझिये।

ये जो वर्ण हैं इनके बारेमे दो मत है : (१) वर्ण नित्य है (२) वर्ण अनित्य हैं। इन मतोका भारी शास्त्रार्थ हम आपको नही सुनाते हैं, परन्तु एक बात है कि जिस वर्ण (अक्षर)का

उच्चारण हम यहाँ करते है, वह सारे विश्वमें फैल जाता है। अक्षर विभु है; और वर्णका उच्चारण हमेशासे होता आया है और हमेशा होता रहेगा, माने यह नित्य है।

'अ' यह वर्ण नित्य भी है और विभु भी। परन्तु वर्णोंसे बना हुआ जो पद है वह नित्य है यह कौन मानेगा? 'घ' और 'ट' वर्ण नित्य हैं और विभु हैं परन्तु इनसे बना हुआ पद 'घट' भी हो सकता है और 'टघ' भी। तब 'घट' पद नित्य नही होगा। और इसी प्रकार पदोसे बने वाक्योंमें भी नित्यता नही होगी! हाँ; यदि अक्षरोकी और पदोकी आनुपूर्वी नित्य हो और विभु हो तब पदों और वाक्योकी नित्यता सम्भव है। परन्तु आनुपूर्वी न तो अक्षरका धर्म है और न पदोका, न वाक्यका; वह तो बोलने-वालेका धर्म है कि वह किस क्रमसे बोले। तब वेद नित्य कैसे होंगे?

वेदकी नित्यतामे न तो पदको नित्य माना जाता है, न वाक्यको और न उनकी आनुपूर्वीको। तब वेदकी नित्यता क्या है? मीमासाकोंने कहा कि सृष्टि ही नित्य है (सृष्टि किसी ईश्वरादिने बनायी नही) इसलिए इसमे वेद भी नित्य हैं—अक्षर, पद, वाक्य, आनुपूर्वी सब नित्य है।

वेदान्ती कहते हैं कि ऐसा नही है। जैसे जीवनमे सोना-जागना होते हैं, वैसे ही सृष्टिका भी सोना-जागना होता है। श्रुति कहती है कि सृष्टि पैदा होती है और मरती है: **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभि-संविशन्ति।** तब वेद नित्य कैसे होगा? असलमे जब ईश्वर सृष्टि-की रचना करता है तो जैसा-जैसा पूर्वकल्पमे होता है उसके लीन बीजसे वैसी-वैसी ही सृष्टि करता है; जैसे पापमय अन्तः-

करणवाले जीवको पाप शरीर देता है और पुण्यमय अन्तःकरण-वाले जीवको पुण्य शरीर देता है। इसी प्रकार जो पूर्व कल्पमें वेदका बीज होता है उसीमे-से ईश्वर वेदको प्रकट करता है। होता यह है कि जैसे कोई स्त्री नृत्य सीखती है तो अपनी चेष्टामे अपने गुरुकी चेष्टाओंका अनुकरण करती है। वैसे ही गुरुजी जैसे वेदका उच्चारण करते हैं शिष्य-वर्ग भी उसी प्रकार वेदका उच्चारण करना सीख जाता है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, जटा, घन, उत्क्रम, व्युत्क्रम कई प्रकारकी शैलियाँ हैं। (पूर्वमीमांसक भी ऐसा ही कहते हैं कि वेदके क्रममे उलटा-पलटा करनेका अधिकार किसीको नही है।) ईश्वर भी जब वेदको प्रकट करता है तो जैसे सारी सृष्टिको बीजके अनुसार प्रकट करता है, वैसे ही शास्त्रको भी पूर्वसृष्टिके बीजके अनुसार ही प्रकट करता है।

(इस प्रकार 'यथा पूर्वमकल्पयत्' परम्परा ही वेदकी नित्यता है।)

शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्म शास्त्रकी योनि है। शास्त्र माने क्या ? वेद। और वेद माने क्या ? क्या ऋक्, यजु, साम और अथर्वके संहिता भाग केवल ? नही। दश-विद्याओंसे उपबृंहित चार वेद हैं :

> पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
> वेदाः स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दशः॥
>
> (याज्ञवल्क्य-स्मृति १.३)

चारो वेद (सहिता भाग, ब्राह्मण भाग, आरण्यक और उपनिषद्) तथा पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—इस प्रकार शास्त्रकी ये चौदह गिनती होती है।

शास्त्रको प्रकट करनेवाला सर्वज्ञ होना चाहिए। अतः ब्रह्म सर्वशास्त्रयोनि होनेसे सर्वज्ञ है। यदि कोई जीव (मनुष्य) शास्त्रकी उद्भावना करे तो उसमे उसका भ्रम (अज्ञान) होगा और प्रमाद, करणापाटव तथा विप्रलिप्सा भी हो सकते हैं। परन्तु जब ईश्वर वेदका आविर्भाव करता है तो न उसमे अज्ञानकी गुंजायश है और न किसी प्रकारके प्रमाद, करणापाटव या विप्रलिप्साकी।

वेदोंमे और उसके अगोमें संसारके सभी विषयोंका वर्णन प्राय. देखनेमे आता है। तो जो उन वेदोको बनानेवाला है या प्रकट करनेवाला है, जिससे उनको जानकर प्रकट किया, वह तो शास्त्रोकी अपेक्षा अधिक जानकार होगा ही। जैसे पाणिनिने व्याकरण बनाया। वह जानता तो न्याय-मीमांसा इत्यादि भी था, परन्तु बनाया उसने व्याकरण ही। इसी प्रकार-जिस ब्रह्मसे सृष्टि हुई (जन्माद्यस्य यतः) उसी ब्रह्मसे शास्त्र भी निकला (शास्त्रयोनित्वात्)। और जब वेद ही विपुल ज्ञानकी राशि है तब वेदका रचयिता तो सर्वापेक्षा अधिक जानकार ही होगा। इसलिए ब्रह्म या ईश्वर सर्वज्ञ है।

वह शास्त्र स्रष्टा ईश्वर बौद्धोके शून्यको भी जानता है और अर्हत्‌के निर्मल आत्म-स्वरूपको भी। वह चार्वाकके अर्थ और कामको भी जानता है और पूर्वमीमासकोके धर्मको भी। वह सर्वशक्ति है अर्थात् उसमे सर्व-भुवन-सामर्थ्य है और वह सर्वज्ञ है अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है। ऐसा ईश्वर कहाँ है ? वेदान्त कहता है कि वह इतना निकट है कि तुम्हारे और उसके बीचमे केवल एक मानसिक लकीर है। वेदान्त उसी लकीरको मिटा देनेकी विद्या है। •

(३. ८)

क्या ईश्वर वेदकी रचना करता है ?–२

जिन लोगोके मनमे वेद और वेदके निर्माताके प्रति कोई आस्था या जिज्ञासा नही है उनके लिए यह चर्चा वहुत महत्त्व नही रखती। अपना-अपना पन्थ अपना-अपना ग्रन्थ। जो नया पन्थ चलाते हैं वे ग्रन्थ भी नया ही वनाते हैं। उनका प्राचीनसे काम नही चलता। कुछ-न-कुछ मिलाना पड़ता है।

वेदके प्राकट्यके सम्वन्धमे यह विचार है कि क्या वेद किसी मनुष्यने या किन्ही मनुष्योने वनाया ?

चार्वाकने तो गाली देकर यह वात कही कि धोखेवाज़ लोगोने वेद वनाया ·

तयो वेदस्य कर्तार: भण्डधूर्तनिशाचरा:

वे वेद किसी भण्डने या धूर्तने या निशाचरने वनाये। और लोगोको गुमराह करनेके लिए वनाया। असलमे चार्वाकके समयमे वेद तो था ही। परन्तु वेद कहता था · आत्मा है, पुनर्जन्म है, परलोक है, कर्ता है, साक्षी है, ईश्वर है, ब्रह्म है। ये वाते चार्वाकके विरुद्ध पडती थी। अत उसका गाली देना स्वाभाविक ही था।

अब दूसरे (**बौद्ध और जैन**) आये। उन्होने कहा कि वेद मनुष्योने ही बनाये। परन्तु वे धूर्त नही थे, अच्छे मनुष्य थे। फिर भी जैसे किसी भी मनुष्यके अन्त करणमे भूल हो सकती है वैसे ही वेद बनानेवाले मनुष्योकी बुद्धिमे भ्रम था, उनसे वस्तुके साक्षात्कारमे प्रमाद भी होता था, उनका अन्त करण वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण भी नही कर पाता था और उनमे-से कोई-कोई मनुष्य ठगी भी करते थे। इस प्रकार जैन और बौद्धोने वेदके कर्ता मनुष्य या मनुष्योमे ये चार दोष माने—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव। इस प्रकार उनका कहना था कि वेदको प्रमाण मानना ठीक नही है, बल्कि उनके जो वीतराग शुद्धान्त.करण महापुरुष है उनके वचनको मानना चाहिए और उनकी अनुभूतिको प्रमाण मानना चाहिए, वेदको प्रमाण नही मानना चाहिए। इस कक्षामे आत्मवादी जैन और निरात्मवादी बौद्ध आते है।

न्याय-वैशेषिकने कहा कि वेदकी रचना मनुष्योने नही, ईश्वरने की। सृष्टिके मूलमे चार भूतोके परमाणु रहते है। और आकाश बिना परमाणुका रहता है और ईश्वर परमाणुओको जोडकर सृष्टि बनाता है। इसप्रकार ईश्वर सृष्टिका निमित्त कारण है उपादान कारण नही। उपादान कारण परमाणु है। इसलिए ईश्वर जब-जब सृष्टि बनाता है तब-तब ईश्वर वेद बनाता है। वेद क्या है ? सृष्टिका ईश्वरकृत सविधान। इसमे भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्साके लिए अवकाश नही है क्योकि ईश्वर सर्वज्ञ है। वह एक नजरसे भूत-भविष्यत्-वर्तमानको देखता है, उसका एक सकल्प है जिससे वह सृष्टिका निर्माण करता है। उसी सकल्पसे वह वेदका भी निर्माता है।

ईश्वरकी चर्चा न्यायमे ज्यादा है, वैशेषिकमे कम है। न्यायाचार्य उदनाचार्यने ईश्वरकी सिद्धिके लिए एक महान् ग्रन्थ ही

लिखा है—'न्याय-कुसुमाञ्जलि'। उदयनाचार्य जगन्नाथपुरी गये। मन्दिरका फाटक बन्द था। उन्होने क्रोधमे भगवान्‌को सम्बोधित करके कहा—

> ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तते :
> उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

'तू ऐश्वर्यमदमे मत्त मेरी अवज्ञा करता हुआ यहाँ बैठा है। बौद्धोकी उपस्थितिमे तेरी स्थिति मेरे ही अधीन होगी।' कहते है इतना कहते ही फाटक खुल गया और उन्हे परमेश्वरका दर्शन हुआ।

सब न्यायाचार्योका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञ है क्योकि बिना बुद्धिके कोई व्यवस्थित कार्य होता ही नही है। ससारमे व्यवस्था है, अत इसके पीछे किसी सर्वज्ञकी बुद्धि होनी चाहिए। उसी सर्वज्ञ ईश्वरने जिसने यह सुन्दर और व्यवस्थित ससार बनाया उसीने वेद भी बनाया।

निराकार ईश्वरवादियोके सामने बड़ी समस्या आयी कि निराकार ईश्वरने आखिर शास्त्र बनाया कैसे ? कुरानकी आयते आसमानमे लिखी दिखायी पडती है या किसी कागज़पर लिखी आती हैं, इमलीके खोहडमे-से लिखी आती हैं और मोहम्मद साहब उसे बाँच लेते है। इसका अर्थ है कि कुरानसे पूर्व भाषा-ज्ञान और लिपि-ज्ञान होना चाहिए।

यदि वेद भी ईश्वरने ऐसे ही बनाये तब तो भाषा और लिपि वेदसे पूर्व सिद्ध हो जायेगे। शास्त्रका निर्माण आसमानमे नही हुआ, वह तो उस हृदयमे हुआ जहाँ अर्थज्ञान और लिपिज्ञान था। आर्यसमाजियोने बहुत ठीक माना कि वेद आसमानमे नही, ऋषियोके हृदयमे प्रकट हुआ, जैसे विश्वामित्रके हृदयमे गायत्री

प्रकट हुई। ईश्वरने प्रेरणा करके विश्वामित्रके हृययमे गायत्रीमन्त्र उदय कर दिया।

साकार ईश्वरवादियोने कहा कि नारायणको वेद याद रहता है। वे सृष्टिके आदिमे ब्रह्माजीको वेद बता देते है, ब्रह्माजी ऋपियोको बताते है और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परासे वेद चलता रहता है।

भगवान् श्री शंकराचार्यजी कहते है कि ये जो ऋग्वेवादि शास्त्र है, वे अनेक विद्यास्थानसे उपवृहित है। अर्थात् सब ऋषि वेदको मानकर इसकी व्याख्या करते है, इसको बढ़ाते है। कोई ऐसा ऋषि नही है जो वेदको न मानकर अपनी बात कहता हो। गौतम मानते हैं, कणाद मानते है, कपिल, पन्तञ्जलि, जैमिनि, व्यास, वसिष्ट, विश्वामित्र सब मानते है, सैकडो ऋषि जो दर्शन-पुराणोके रचयिता हैं वे अपने व्याख्यानो द्वारा वेदका उपवृहण करते है (सवर्धन करते है)। ऐसे जो ज्ञाननिधान वेद है, **प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिन** (अर्थात् जिससे दीपकके समान सब अर्थोका द्योतन होता है), उनका रचयिता कोई ठग नही हो सकता, कोई अल्पज्ञ वीतराग जीव भी नही हो सकता। असली सर्वज्ञ ईश्वरके सिवाय वेदका कोई और कर्ता भी नही हो सकता ।

वेदका निर्माता ईश्वर है और ईश्वर नित्य है, इसलिए उसकी रचना वेद भी नित्य है। ईश्वरके अनेक संकल्प नही होते, वे तो जीवमे होते हैं। एक सकल्पमे उसने सृष्टि बनायी है। ईश्वरक सर्वविषया एक ही इच्छा होती है और उस इच्छाके द्वारा वह समूची सृष्टिको बना देता है। जीना भी, मरना भी, सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय भी परमाणुओको जोडना भी बिखेरना भी सब एक ही सकल्पमे ऐसा कर देता है कि सृष्टि अपने-आप चलती रहती है और वह मौज करता रहता है।

हमारे पतञ्जलि (योग-दर्शनकार) और कपिल (सांख्य दर्शनकार) भी ईश्वरकी चर्चा करते है। पतञ्जलिने स्पष्टरूपसे ईश्वरकी चर्चा की है और साख्यने अस्पष्ट रूपसे की है। पतञ्जलि पुरुष विशेषके रूपमे ईश्वरको मानते है '

क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर

(योग० १ २४)

अन्य जीव क्लेश और कर्माशयसे युक्त रहते हैं, परन्तु ईश्वर क्लेश और कर्माशयसे मुक्त है। जबतक तत्त्वख्याति नही होती तबतक ये दोनो (पुरुषसामान्य और पुरुषविशेष) बने रहते है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश है जो ईश्वरमे नही होते। दूसरे कर्मविपाक अर्थात् कर्मसे उत्पन्न जो फलरूप सुख और दु ख है वे भी ईश्वरमे नही होते। इन सुख-दु.खोका आशय अर्थात् वासना भी ईश्वरमे नही होती। इस प्रकार ये तीन बातें ईश्वरमे नही होती (१) पचक्लेश (२) कर्मविपाक-रूप सुख दु ख (३) कर्मविपाकका आशय अर्थात् वासना।

अब ईश्वरमे क्या होता है, यह बताते है प्रथम

तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् (योग० १ २५)

उसमे निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है। अर्थात् सर्वज्ञताकी पराकाष्ठा है ईश्वर।

द्वितीय —**पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्** (योग० १ २६)

'आदि कालसे लेकर अबतकके ब्रह्मादिक जीवोका भी वह गुरु है और कालसे वह परिच्छिन्न नही है।'

इस प्रकार क्लेश, कर्मविपाक और वासनासे मुक्त, सर्वज्ञताकी पराकाष्ठारूप तथा कालसे अबाधित पुरुषविशेषका नाम (योग-दर्शनमे) ईश्वर है। ऐसे ईश्वरकी जब शरण जायेगे, उसका ध्यान करेंगे तो समाधि लग जायेगी।

समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात् (योग० २४५)

अब योगदर्शनके मतमे वेद क्या है ? इनके मतमे वेद बुद्धिमे रहता है। जब जीवात्मा विवेकख्याति करनेसे बुद्धिसे न्यारा हो जाता है तो दो स्थिति होती है —

१ बुद्धिसामान्यसे अलग होकर द्रष्टा अपने स्वरूपमे स्थित हो जाय।

२ बुद्धिविशेषसे पृथक् होकर बुद्धिगत सब पदार्थोको देख ले।

जब उसकी बुद्धि सर्वज्ञके साथ तादात्म्यापन्न होतो है और द्रष्टा उसको देखता है तो सर्वज्ञकी बुद्धिमे जो विराजमान वेद है उस वेदका दर्शन उस पुरुषको होता है। योगकी रीतिसे वैखरी वाणीका उद्भव जिह्वामे होता है, मध्यमाका कण्ठमे, पश्यन्तीका हृदयमे और पराका मूलाधारमे। जब योगीमे परावाणीकी योग्यता आजाती है तब विशिष्ट पुरुषोको जैसे वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मन्त्रद्रष्टाओको वेदके मन्त्रोका दर्शन होता है।

सांख्यमतमे भी वेद नित्य है। जैसे प्रकृति और प्रकृतिके विशेष नित्य है, वैसे ही प्रकृति और प्रकृतिके प्रथम विकार बुद्धिमे सम्पूर्ण वेद सूक्ष्मरूपमे उपस्थित हैं। द्रष्टा उनका दर्शन करता है। असलमे योग साधन है और साख्य साध्य है। द्रष्टाका विवेक-वर्णन है सांख्यमे और उस विवेकका साधन जो योग है उसका वर्णन है योगदर्शनमे। इसलिए साख्यमतमे भी द्रष्टा वेदमन्त्रोका दर्शन तादात्म्य प्राप्त उसी प्रकार करता है जैसे योगमे, अर्थात् सर्वज्ञ-बुद्धिके साथ करके।

तान्त्रिक—लोग भी ऐसा ही मानते है जैसे योगमे। तान्त्रिकोमे भी कई प्रकार है वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र, शक्तितन्त्र इत्यादि। बौद्ध और जैनोमे भी तन्त्र-मन्त्र-टोना-टोटका बहुत हैं। ये लोग ईश्वर और वेदको तो नही मानते परन्तु जिन्नको मानते है, भूतको मानते

है, पुनर्जन्मको मानते है, स्वर्ग-नरकको मानते है। ये मार्क्स-वादियोकी तरह सफाचट नही है। जैनोमे लक्ष्मीका नाम पद्मादेवी है। उसकी उपासनासे पैसा मिलता है। हम यह उपासना कई लोगोको वता चुके है। इनमे सव है, वस पाँच वाते नही है—ईश्वर, वेद, यज्ञ, ब्राह्मण और स्नान। ये वाते मै खण्डनके लिए नही जानकारीके लिए वताता हूँ। यदि आपको भटकनेका डर न हो तो सवकी जानकारी प्राप्त कीजिये और यदि डर लगता हो तो अपने गुरु, इष्ट और मन्त्रमे मगन रहिये। तरह-तरहकी वाते अपने दिमागमे भरकर वोझ मत वढाइये।

ये हमारे वौद्ध, जैन और तान्त्रिक सव योगकी कक्षामे ही आते है—कोई सालम्व, कोई निरालम्व, कोई तत्-प्रधान तो कोई त्व-प्रधान और कोई पदार्थनिषेधप्रधान अर्थात् शून्य-प्रधान।

पूर्वमीमासाके अभिप्रायसे वेद-वाक्यके रूपमे नित्य है। यह उनकी सवसे वडी विशेपता है। वे कहते है कि वाक्य भी नित्य है, पद भी नित्य है और वर्ण भी नित्य है।

जो लोग कहते है कि अनुभवसे विशेप ज्ञानकी उत्पत्ति होती है वे लोग कभी ज्ञान, ज्ञेयके वारेमे गभीरतासे विचार नही करते। जैसे कोई मनुष्य पहिले रूमालकी जाँच-पडताल कर लेता है तव रूमालको समझता है और तव रूमालके वारेमे वोलता है। वोलनेसे पहिले समझ होनी चाहिए और समझसे पहिले अनुभव होना चाहिए। तो ऐसे जो दुनियामे अनुभव करके वाते लिखी जाती है वे तो प्रत्यक्षका अनुवाद मात्र होती है। अर्थात् जो चीज़े आँख, नाक, कान, त्वचा और जीभसे जैसी अनुभव की गयीं उसीको फिर दोहरा करके समझते है और समझ करके वोलते हैं। परन्तु वेद एक ऐसी वात वोलता है जो न तो इन प्रत्यक्षादि इन्द्रियोसे और न इनके आधारपर होनेवाले अनुमानोसे जानी जाती है और जो इनसे वनी हुई समझसे भी अलग है। ऐसी

अतीन्द्रिय बातें दुनिया देखकर संस्कारके रूपमे इकट्ठी नही की गयी है। अत वेदज्ञान कोई सस्कार-ज्ञान, अनुभव-ज्ञान या समझ ज्ञान नही है।

मीमांसकोका तो यहाँतक कहना है कि कोई पुरुष भी वेदका बनानेवाला नही है। वह तो कहते हैं कि सृष्टिका भी बनानेवाला नही है। सृष्टि भी अनादिकालसे ज्यो-की-त्यों चल रही है और इसमे वेद भी गुरु-शिष्यपरम्परासे ज्यो-के-त्यो चल रहे है। वेद भी अनादि अनन्त है और सृष्टि भी अनादि अनन्त है।

वेदसे धर्मका और धर्मके फलका बोध होता है, ऐसा पूर्व मीमासक मानते है। यह बात किस अक्कलसे मालूम पड़ेगी कि आगमे घी डालना धर्म है और उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है? यह न आँखसे देखा जायेगा, न नाकसे सूँघा जायेगा, न कानसे सुना जायेगा, न त्वचासे छूआ जायेगा और न जीभसे चखा जायेगा, और न स्वर्गका अनुभव ही वर्तमान शरीरसे होगा। इसलिए ऐसी बात बतानेवाला वेद इन्द्रियोसे अनुभव करके नही लिखा गया। यह तो एक नवीन चूरा है जो तुम्हारे अन्त-करणमे पहिले से नही था और वेदने डाल दिया। यदि इस वेद-ज्ञानके अनुसार आचरण करोगे तो बडी-बडी बातें आयेंगी—तुम्हारे हृदयमे श्रद्धाकी सम्पत्ति आयेगी, देहसे अलग आत्मामें विश्वास होगा। इसी जन्मके भोग भोगनेमे नही लगा रहना चाहिए, परलोकके लिये भी थोड़ा संयम करना चाहिए—यह बुद्धि उत्पन्न होगी, (नही तो दान अर्थात् अपने घरसे पैसा निकालकर दूसरेको दे देना धर्म है यह बात भी कैसे समझमें आयेगी ?), शरीर ही सब कुछ नही है, यह ऐन्द्रियक जगत् ही सब कुछ नहीं है—यह बुद्धि उत्पन्न होगी, इत्यादि-इत्यादि।

तो पूर्वमीमासा शास्त्रका कहना है कि अनादि गुरु-शिष्य-परम्परासे वेद चल रहा है, वेद नित्य है और किसी जीवकी तो बात ही क्या ईश्वरने भी वेदको नही बनाया। सृष्टि अनादि-अनन्त है। जब सृष्टिका ही प्रलय नही होता तो वेदका भी अन्त नही होता। अत वेद अनादि-अनन्त है।

वेदान्त सृष्टिका प्रलय मानता है। उनका कहना है कि जब एक मनुष्यके जीवनमे जन्म और मृत्यु देखनेमे आती है तो ब्रह्माण्डके जीवनमे भी उत्पत्ति, प्रलय स्वाभाविक है। ग्रह टूट जाते हैं, ब्रह्माण्ड फूट जाते है। जो चीज बनी है वह एकदिन टूटेगी भी। जो पैदा होती है वह अनित्य होती है। जो सावयव वस्तु होती है वह टूटती भी है इसलिए वह अनित्य होती है

यज्जन्य तदनित्यम्। यत्सावयव तदनित्यम्।

जो चीज रोज-रोज ह्रासको प्राप्त हो रही है उनका एकदिन नाश भी अवश्य होगा। इसलिए सृष्टिकी उत्पत्ति भी होती है और प्रलय भी होता है। वेदान्त मानता है कि वह काम ईश्वर करता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ईश्वर जो सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है तो उसके लिए कोई आधार होता है या अपने मनसे ही करता है?

इसके उत्तरमे हिन्दू (वेदान्ती) और मुस्लिम-ईसाईकी विचार-शैलीका भेद देखो।

मुसलमान, ईसाई कहते है कि ईश्वर अपनी मौजसे सृष्टि करता है। ईश्वर कहता है 'कुन' या ईश्वरके मनमे होती हे इच्छा और अनबनी सृष्टि बन जाती है। उसमे कोई अधा क्यो पैदा होता है, बुद्धिमान् क्यो पैदा होता है, इसका उत्तर है उनके पास कि ईश्वरकी मौज है। इसमे ईश्वरकी स्वतन्त्रता तो प्रकट हुई परन्तु मौजसे कोई युक्तिपूर्ण उत्तर नही हुआ।

हिन्दू लोग समाधान करते है कि सृष्टि हमेशासे चल रही है और पूर्व-पूर्व जन्मके जीवोके कर्म और कर्मसंस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही ईश्वर सृष्टि करता है। किसीको अधा और किसीको भी मूर्ख बनानेमे ईश्वर नादिरशाही नही बरतता।

तब ईश्वर वेद कैसे बनाता है ? जैसे जीवोके कर्मसस्कार प्रलयावस्थामे सोते रहते है वैसे ही वेद-संस्कार भी सोते रहते है। जव सृष्टिकाल होता है तो जैसे ईश्वर सारी सृष्टिको निकालकर बाहर रखता है वैसे ही वेदको भी बाहर निकालता है। प्रलय-अवस्थामे ईश्वरके बड़े पेटमे (प्रधानमे) कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, उनके ज्ञान-विज्ञान और वेद सब समेटकर रख लिये जाते है और सृष्टिके साथ रखे हुए ही बाहर निकालकर प्रकट कर दिये जाते है।

इस प्रकार वेदान्तियोका मत है कि ईश्वर प्रलयके समय लीन वेदको ही प्रकट करता है। और पूर्वमीमासकोका मत है कि सम्पूर्ण प्रलय नामकी कोई अवस्था सृष्टिकी नही है, इसलिए वेद लीन नही होते और उनको प्रकट करनेके लिए ईश्वरकी भी जरूरत नही पड़ती। वे तो यहाँतक कहते है कि अगर ईश्वरकी भी सिद्धि होगी तो वह वेदसे होगी, वेदकी सिद्धि ईश्वरसे नही होती।

मीमासकोका कहना है कि वेद बनानेमे कोई पुरुष स्वतन्त्र नही है, गुरुशिष्य-परम्परासे वेद प्राप्त रहते है। शिष्य परतन्त्र है और गुरु सापेक्ष स्वतन्त्र, परन्तु गुरु भी किसीका शिष्य रहा है, अतः वह भी परतन्त्र ही है। वेदान्त भी यही मानता है कि ईश्वरने वेदको बनाया नही। वह लीन वेदको ही प्रकट कर देता है।

असुर वेदको चुरा लेजाता है और हयग्रीव भगवान् वेदको पुन प्रकट करते है। यह कथा पुराणोमें आती है (भागवत ११.४

अग्नि० २१६-१७)। हयग्रीव अर्थात् हिनहिनानेवाला। जब सामान्य शब्द जो सृष्टिमे हो रहे हैं वेदके पृथक् शब्दोको ढक लेते है और आसुरी जडता-प्रधान शब्दोमे चैतन्य-प्रधान वेदके शब्द मिल जाते हैं तब चैतन्य-प्रधान भगवान् हयग्रीवके रूपमे प्रगट होते हैं और छिपी हुई वेदकी शब्दराशि और अर्थराशिको प्रगट करते है। तो हयग्रीव भगवान्ने कौन-सा वेद प्रकट किया? वही पुराना जो छिप गया था या नवीन? वही पुराना। इसलिए ईश्वर नया वेद बनाता नही। बीजरूपसे प्राप्त वेदको ही पुन अकुरित करता है ईश्वर।

कुमारिल भट्ट कहते हैं —

यत्नत. प्रतिषेध्यान. पुरुषाणां स्वतन्त्रता।

चाहे जीव हो या ईश्वर कोई पुरुष वेदको बनाने या बदलनेमें स्वतन्त्र नही हैं। भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा आदि दोष जो जैन और बौद्धोने जीवके अन्त करणमे बताये हे और कर्ताके दोषसे वेद भी दूषित हो जाते है ऐसा जो बताते है, वह बात बिलकुल गलत है। कभी किसी जीवने या ईश्वरने या ऋषिने नया वेद नही बनाया। ये तो अनादि-सिद्ध परम्पराको कायम रखनेमें निमित्तमात्र हैं।

इसलिए 'शास्त्रयोनित्वात्' का अर्थ है कि जैसा वेद प्रलीन हुआ था वैसा ही ईश्वरने प्रकट कर दिया। ईश्वरका स्वातन्त्र्य भी इस सम्बन्धमे नही है कि चाहे जैसा वेद बना दे। वह तो जैसे जीवोको उनके कर्मानुसार ही शरीर देता है और उनको अपनी इच्छासे काना-कुबडा बनानेमे स्वतन्त्र नही है, वैसे ही वह प्रलीन वेदको ही जैसा वह पहिले था प्रकट करता है। इसी अर्थमें ईश्वर शास्त्रयोनि कहा गया है।

●

(३.६)

वेद परमेश्वरके निःश्वास हैं

योगके बारेमे लोगोका ऐसा ख्याल होता है कि समाधिको ही योग कहते है। परन्तु ऐसी बात है नही। योग अगी है और उसके आठ अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अत समाधि योगका एक अग है। वह महत्त्वपूर्ण अग है, यह सही होते हुए भी अग अगी नही होता।

योगकी परिभाषा है **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। (योग सू० १ २) चित्तकी वृत्तियोके निरोधका नाम योग है। निरोध और समाधिमे फर्क है। निरोध (योग होनेके कारण) अगी है और समाधि अग, ऐसा भी कह सकते हैं कि समाधिके फलका नाम निरोध है।

जिस समय निरोध सिद्ध होता है उस समय द्रष्टाकी अपने स्वरूपमे अवस्थिति होती है : **तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्** (योग सू० १ ३)। जब निरोध नही होता तब द्रष्टाका वृत्तिसारूप्य (वृत्तिके साथ तादात्म्य) रहता है **वृत्तिसारूप्यमितरत्र** (योग

सू० १४)। तव वह अपनेको कुछ भी मान सकता है समाधि-वान्, ध्यानवान्, धारणावान् या मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, कुछ भी। क्योकि केवल निरुद्धावस्थामे ही द्रष्टाकी स्वरूपावस्थिति होती है, शेप अवस्थाओंमे तो वह तादात्म्यापन्न ही रहता है। इसलिए द्रष्टाकी दोनो स्थितियाँ—स्वरूपावस्थिति और वृत्तिसारूप्या-वस्थिति, कालके पेटमे हैं।

योगका फल न समाधि है न निरोव और न द्रष्टाकी स्वरूपा-वस्थिति। तव? योगका फल है—सत्त्वान्यता ख्याति, अर्थात् हमेशाके लिए उसे यह वोध हो जाना कि मैं वृत्तिसे न्यारा हूँ। वृत्तिके निरुद्ध होनेपर जैसे मै वृत्तिसे न्यारा हूँ, वैसे ही वृत्तियोंके रहनेपर भी और उनके साथ सारूप्य रहनेपर भी मै वृत्तिसे न्यारा हूँ। इसीको पुरुषान्यताख्याति भी कहते हैं। द्रष्टा तो हरकालमे द्रष्टा ही है और वह दृश्यसे न्यारा है, यह वोध ही योगका फल है। योगका फल केवल समाधि या निरोध नही है।

वेदान्तमे इसी द्रष्टाको ब्रह्म जाना जाता है। योगमे द्रष्टा निरुद्ध वृत्तिका साक्षी है और वृत्तिकालमे वृत्ति और तादात्म्यका साक्षी है, परन्तु द्रष्टा रहता परिच्छिन्न ही है। प्रति शरीरका द्रष्टा भिन्न है योगमे। वेदान्तमे द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्म है और उसके सिवाय न निरोधकी सत्ता है और न वृत्ति और तादात्म्यकी। द्रष्टाको प्रतीत होते हुए देश-काल-वस्तु और उनके समस्त भेद सव द्रष्टाके ही विवर्त हैं, अत सत्ताशून्य हैं। यह वेदान्त है।

प्रत्येक दर्शन एक कक्षा तक पहुँचाता है। सीढी चढना अच्छा होता है। **तत्तु समन्वयात्**।

न्यायदर्शनकी कक्षामे भक्ति प्रधान होती है और पूर्वमीमासामे कर्मकी प्रधानता होती है। कर्मकी कक्षामे कर्मका कर्ता आत्मा कर्मसे न्यारा है और न्यायकी कक्षामे जगत्का कर्ता ईश्वर जगत्से

न्यारा है। त्वं-पदार्थको देहसे पृथक् बताता है मीमासाशास्त्र और तत्-पदार्थको जगत्से पृथक् बताता है न्यायशास्त्र। योगमे भी ईश्वर है परन्तु वह समाधिकी सिद्धिमे यन्त्रमात्र है। योगमे त्वं-पदार्थ असग द्रष्टाके रूपमे (निरोधदशामे) ज्ञात होता है। साख्यदर्शन उसी द्रष्टाको विवेकके द्वारा असग साक्षी बताता है। और वेदान्तदर्शन उसी असग साक्षीका तत्-पदवाच्यार्थ ईश्वरके साथ ऐक्य बताता है।

इस ऐक्यकी युक्ति यह है कि :

भेद स साक्षिक इति सर्वजनप्रत्यक्षम्।

भेद जितना भी होता है उसका कोई जाननेवाला होता है। बिना साक्षीके भेदकी सिद्धि नही होती। जीव जीवका भेद, जीव-ईश्वरका भेद, जीव-जगत्का भेद, ईश्वर-जगत्का भेद, जगत-जगत्का भेद, भेद-भेदका भेद और भेद-भेदा-भावका भेद—सम्पूर्ण भेद और भेदके अत्यन्ताभावका जो साक्षी है उसमे भेदकी कल्पना करना ही मूर्खता है। इसलिए भेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो साक्षी है, वह ब्रह्म है। वह देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित है, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे शून्य है, और इसलिए ब्रह्म है। उस ब्रह्ममे भेद, भेद-सामान्य और भेदाभाव प्रतीत होते हुए भी मिथ्या है।

हम जो व्यवहार करते है भेदका, उसका एक और नतीजा निकलता है उसपर ध्यान दो। जैसे रस्सी-रस्सी। उसको ठीक न समझनेके कारण एक उसे साँप समझता है। और दूसरा माला। लेकिन 'यह साँप है' ऐसा प्रत्यय हृदयमे होनेपर भी तथ्य 'यह साँप है' ऐसा शब्दोच्चारण करनेपर भी क्या रस्सी साँप होगयी ? नही। इसी प्रकार 'यह माला है' ऐसा प्रत्यय हृदयमे होनेपर भी और 'यह माला है' ऐसा शब्दोच्चारण होनेपर भी

क्या रस्सी माला होगयी ? नही। तब प्रश्न यह है कि भ्रान्त पुरुष जहाँ सर्प अथवा माला शब्द कहता है वहाँ उसके उन सर्प या माला शब्दोका अर्थ क्या है ? रस्सी ही उन शब्दोका अर्थ है। इसलिए अज्ञानी लोग जिन भिन्न-भिन्न नामसे, रूपसे, प्रत्ययोंसे जिन भिन्न-भिन्न वस्तुओके साथ व्यवहार करते है वह वस्तुत ब्रह्म ही है। अज्ञान कालमे भी जिसको ससारी लोग जगत् कहते हैं, जीव कहते है, ईश्वर कहते है, वे सब ब्रह्मके ही अलग-अलग नाम-रूप-प्रत्यय होते है, वस्तुत भेद कही नही है, एक अखण्ड-अद्वय ब्रह्म ही है। उसी अद्वय ब्रह्मको समझानेके लिए ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति है।

यह ज्ञान व्यवहारमे स्वातन्त्र्य देता है, केवल समाधिमे ही ब्रह्म है, इस भ्रान्त धारणाको मिटाता है। केवल निरोधमे द्रष्टा द्रष्टा है और वृत्तिके तादात्म्य हो जानेपर यह कुछ और हो जाता है, इस भ्रान्तिको भी मिटाता है। ब्रह्मज्ञान व्यवहारमे निरंकुश स्वातन्त्र्य प्रदान करता है। सन्यास और निवृत्ति भी उस ज्ञानका साधन ही है, फल नही है। जिसके अन्त करणमे स्वभावत निवृत्ति है वह यदि तत्त्वज्ञानके अनन्तर सन्यासी होजाय तो उसके लिए कोई बाधा नही है, लेकिन ब्रह्मज्ञान होनेपर या उसके लिए सन्यासी हो जाना आवश्यक नही है। ब्रह्म ज्ञानके लिए तो सिर्फ शुद्धान्त करणकी आवश्यकता होती है। जिस अन्त करणमे बोध होना है वहाँ सन्यास चाहिए, न कि गेरुआ कपडाके ग्रहण या शिखासूत्रके छेदनका नाम सन्यास है।

एक आदमी घडा शब्द बोलता है और उसके मनमे घटाकार वृत्ति होती है, घट प्रत्यय होता है। परन्तु घट तो मृत्तिका ही रहता है, भले घट प्रत्यय और घट शब्दमे भेद होता है। अध्यासी-के अन्त करणमे भेद-भ्रान्ति होनेपर भी मृत्तिकासे भिन्न नही होता।

इसी प्रकार अज्ञान-कालमे यह जीव, जगत् ईश्वरसे भिन्न प्रतीत होनेपर भी, घटप्रत्यय, जीवप्रत्यय, ईश्वरप्रत्यय भिन्न प्रतीत होनेपर भी और इनके शब्द अलग-अलग उच्चरित होनेपर भी ब्रह्मके अतिरिक्त न कोई वस्तु है, न कोई धातु है न और कुछ है। इस अद्वय ब्रह्मका बोध ही वेदान्तका लक्ष्य है।

इसका यह अर्थ बिलकुल नही है कि आँख खुली हो या बन्द, जंगलमे रहे या नगरमे। वह तो जैसी आदत हो। परन्तु सारे नाम-रूपप्रत्यय ब्रह्मके ही हैं इसको समझिये। इसीसे अपरोक्षानुभूतिमे भगवान् श्री शकराचार्य जी कहते है कि .

क्षणमात्र न तिष्ठन्ति वृत्ति ब्रह्ममयी विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥

(१३४, निमेषार्धं न—पाठा०)

'ब्रह्ममयी वृत्तिके विना क्षण मात्र भी न रहे जिस प्रकार कि ब्रह्मादिक देवता, सनकादिक ऋषि और शुकादिक महापुरुष रहते है।' ब्रह्मा प्रवृत्ति-क्रीडाके उदाहरण है, सनकादिक बाल-क्रीडाके और शुकादिक समाधि-क्रीडाके उदाहरण हैं। माने सब ब्रह्मज्ञानसे द्वैत-भ्रान्तिको भूनकर चना-चबैनाकी तरह खाते रहते हैं और अपने सहज स्वभावके अनुकूल प्रवृत्ति या निवृत्तिमे व्यवहार करते रहते है।

मृत्तिकाका बना घडा शब्द और प्रत्ययसे भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुत मृत्तिका ही है, उसी प्रकार इस प्रपञ्चका भी उत्पत्ति-पालन-सहार ब्रह्मे होनेपर भी वस्तुत यह ब्रह्मातिरिक्त नही है 'जन्माद्यस्य यत'।

परिच्छिन्नपर दृष्टि रखोगे तो फँसोगे। पूर्णपर दृष्टि रखोगे तो मुक्त रहोगे। यह मुक्त होना और फँसना अध्यासकी दृष्टिसे ही है, ब्रह्मे नही है। क्योकि .

अविद्यापि अविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येय न कथंचन विद्यते॥

जबतक अज्ञान है तभीतक अज्ञान है, ऐसी कल्पना होती है। ब्रह्मदृष्टिसे तो अज्ञान है ऐसी कल्पना भी नही होती।

ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येय नासीदस्ति भविष्यति

ब्रह्मदृष्टिसे न अविद्या थी, न है और न होगी। जब अविद्यामे बैठकर हम कार्य-कारणका विचार करते है तो जैसे घटशब्दका मृत्तिकामे ही पर्यवसान है, जैसे माला, सर्प आदिका रज्जुमे ही पर्यवसान है, वैसे ही अह, त्व, इद, तत्, यूय, वयं इत्यादि सब शब्दोका और सब प्रत्ययोका भी अद्वय ब्रह्ममे ही पर्यवसान है। सबका उसीमे परम तात्पर्य है।

रूप-सृष्टि और नाम-सृष्टि दोनोको ब्रह्मसे अभिन्न बतानेके लिए दो सूत्र आये—'जन्माद्यस्य यत' और 'शास्त्रयोनित्वात्'।

'जन्माद्यस्य यत' ने कहा कि ब्रह्मसे ही सृष्टिके जन्म-स्थिति भग होते है। हमारे अद्वैतवादी (अभिन्न निमित्तोपादानवादी) प्रलय शब्दका प्रयोग करते है और जो ईश्वरवादी है वे 'भग' शब्दका प्रयोग करते हैं। यह दुनियाका घडा डडा मारकर फोडनेवाला ईश्वर है, प्रलयका निमित्तकारण ईश्वर है। वेदान्ती कहते है कि जैसे घडा फूटकर मिट्टीमे लीन होता है वैसे प्रलय-स्थान ईश्वर है। घडेको फोडकर अलग हो जाना और घडेका फूटकर ईश्वरमे लीन हो जाना—दोनोमे यह फरक है।

तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपनेमे-से ही सृष्टि निकालते हैं, ऐसा वेदान्ती क्यो बोलते हैं? क्योकि ईश्वरने परमाणुसे सृष्टि नही बनायी, अपनेसे ही बनायी, ईश्वरने प्रकृतिसे या शक्तिसे सृष्टि नही बनायी अपनेसे ही बनायी, ईश्वरने चित्तसे या विज्ञानसे सृष्टि नही बनायी, अपने आपसे ही बनायी। यह सृष्टि हमेशासे नही है

अर्थात् सृष्टि अनादि नही है क्योकि यह ईश्वरने बनायी है और अपने आपसे बनायी है। ब्रह्म सृष्टि बन नही गया है क्योकि वह चेतन है। चेतन यदि कुछ बन जायेगा तो वह जड, दृश्य, हो जायेगा इसलिए ब्रह्म सृष्टि बन नही गया, बना-सा दीख रहा है। इसलिए बनी हुई-सी सृष्टिके जितने शब्द और जितने प्रत्यय हैं, वे सब ब्रह्ममात्र ही हैं।

अच्छा, ठीक है। परन्तु शास्त्र ईश्वरसे बना या नही ? लगता है जैसे शास्त्र तो जीव ही बनाते है। वह भी एक जीव नही, अनेक जीव बनाते है, क्योकि एक जीवमे इतना ज्ञान नही हो सकता। इसलिए भिन्न-भिन्न वीतराग शुद्धान्त करण महापुरुष थोड़ा-थोडा करके वेदको बनाते हैं और फिर जब मानो कुम्भका मेला लगता है तो इकट्ठे होकर अपनी-अपनी राय बताकर पोथी तैयार करवा देते है। यह धारणा गलत है।

चार्वाकने वेदोको धूर्तोकी रचना बताया और पाश्चात्योने गडरियोके गीत बताया। कुछने कहा कि वेदमे 'माइथोलोजी' है, सत्य नहीं। (माइथोलोजी 'मिथ्या'से ही मिलता-जुलता है।) फिर लोगोने कहा कि नही, वेद महात्माओने बनाये, इसलिए उसमे भी कमी होनी चाहिए। श्रद्धालुओने कहा कि इसमे कमी नही है। दूसरोने कहा कि हमारे वीतराग शुद्धान्त करण महा-पुरुषोकी वाणी वेद है। भाई मेरे, आप 'यह बुद्ध-वाणी है', 'यह महावीर-वाणी है,' 'यह भैरव-वाणी है' इनमे तो विश्वास करते हो, परन्तु अन्तःकरणाभावसे अवच्छिन्न कारण चेतनकी सत्तामे जिसमे सर्वका बीज भरा रहता है, विश्वास नही है और उससे प्रकट हुए वेदोमे विश्वास नही है, यह क्या बात है ? इसमे अहंकार, पूर्वाग्रह और अज्ञान ही एकमात्र कारण है।

अंग्रेजी ढंगकी चैतन्यकी परिभाषा यह है कि जो सेन्द्रिय तत्त्व होता है वह चेतन होता है। जिसमें इन्द्रियाँ विकसित नहीं हुई, वह जड पदार्थ है। परन्तु वेदान्तकी यह परिभाषा नहीं है चैतन्यकी। यहाँ तो जो जानता है सो चेतन और जो जाना जाता है सो जड है। अंग्रेजी परिभाषाको छोडनेपर वेदान्त समझमें आयेगा। ज्ञानमात्र ही चेतनका लक्षण है और ज्ञेयता जडका लक्षण है।

ब्रह्म जाना जाता है या नहीं? यदि अन्यरूपसे (इदंरूपसे) जाना जायेगा तो वह जड और परिच्छिन्न होगा। यदि परोक्षरूप-से (तत्-रूपसे) जाना जायेगा तो वह कल्पित होगा। इसलिए ब्रह्म न तो मन-इन्द्रियोंके विषयके रूपमें जाना जायेगा और न मन-इन्द्रियोंके अविषयके रूपमें जाना जायेगा। ब्रह्म यदि जाना ही नहीं जाता तो वह अज्ञेय और अज्ञात होगा, वह असत् होगा। तब? ब्रह्म अहंरूपसे जाना जाता है। क्योंकि जब वह अपने स्वरूपके रूपमें जाना जायेगा तभी वह चेतन होगा। ज्ञातासे अभिन्न हुए बिना ब्रह्म चेतन नहीं हो सकता। ज्ञातामें ही ज्ञान है और ज्ञानमें ज्ञाता एक विवर्त है। इसलिए ज्ञाताका जो स्वरूपभूत ज्ञान है वही ब्रह्म होगा।

ब्रह्म अद्वितीय भी तबतक नहीं हो सकता जबतक वह मैंसे जुदाके रूपमें जाना जायेगा। दो हो गये तो अद्वैत कहाँ रहा?

जो मन-इन्द्रियोंके अन्तरमें रहकर मन-इन्द्रियोंको प्रकाशित करनेवाला अपना आत्मा है वही तो चेतन है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु चेतन नहीं हो सकती। वही अद्वय है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु अद्वय नहीं हो सकती।

अद्वय चेतन आत्मामें सृष्टि क्या है, बस विवर्तरूपसे भास है। माने सृष्टि आत्मासे-भिन्नरुपसे विरूद्धरूपसे भास रही है। सृष्टि

अपने अधिष्ठानके विपरीत, अपने साक्षीके विपरीत, अपने असली स्वरूपके विपरीत वर्तन कर रही है, इसलिए सृष्टि आत्माका विवर्त है।

विरुद्ध वर्तन विवर्त । विपरीतं वर्तते इति विवर्तः।

अब आप सृष्टिमे बैठकर विचार करो कि आप वेदके कारण कब बनते है ? आप जितना-जितना अपने आपको आन्तररूपमे अनुभव करते जाओगे, उतना-उतना ही आप वेदके कर्तृत्वको समझते जायेगे। जबतक आप देहके साथ एक बने हुए है तबतक तो आप एक बच्चाके भी कर्ता नही है, भले आप अपनेको बाप मानो। यदि आप बच्चेके कर्ता होते तो जब चाहते तब बच्चा बना लेते। परन्तु चाहनेपर भी बच्चा नही होता और न चाहने पर भी होता है। आप अपनी हड्डी-मासके भी कर्ता नही है।

कर्तृत्व कहाँ आता है ? जब आप विज्ञानसे एक होते है। इन्द्रियोसे एक होनेपर भी कर्ता नही होता। सब इन्द्रियोका एक कर्ता होता है, अलग-अलग इन्द्रियाँ कहाँ कर्ता होती हैं ? अलग-अलग मनोवृत्तियाँ कहाँ कर्ता होती है ? वे समन्वित होकर कर्ता होती है। जबतक विज्ञानात्मासे आप एक नही होगे तबतक दैहिक क्रिया-कलापके भी कर्ता आप नही हो सकते।

अत्यन्त जड़तामे धर्माधर्म, कर्ता, भोक्ता नही होता। अत्यन्त ज्ञान और अत्यन्त आनन्दमे भी कर्ता-भोक्ता, धर्माधर्म नही होते और अत्यन्त अभेदमे भी नही होते। तब वेदका कर्तृत्व ईश्वरमे कहाँ है ?

जबतक आप अपनेको अन्त.करणके रूपमे अनुभव करेंगे कि अन्त करण मै और अन्त करण 'मेरा', तबतक आपका सारा ज्ञान वासना और सस्कारसे अनुप्राणित होगा। इसलिए तबतक शुद्ध

ज्ञान होगा ही नही। यदि अन्त करणको शुद्ध भी कर लिया जाय और वासनाओंको मिटा भी दिया जाय तो भी तो आपका अन्तःकरण नन्हा-सा है, उसमे अनन्तका, पूर्णका, ज्ञान कहाँसे होगा ? इसलिए जो अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य है, प्रमाता, जीव, वह चाहे अन्त करण शुद्ध हो या अशुद्ध सर्वज्ञ, सर्वशक्ति नही होसकता। तव आप अन्त करण समष्टयावच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) के साथ तादात्म्य प्राप्त करें और देखे कि सव अन्त करणोमे जो वासना रहित निर्मल ज्ञान है वह सव आपका ही ज्ञान है।

अल्पज्ञता रहती है अन्त.करणावच्छिन्न चैतन्य, प्रमातामे। उसमे तीन चीजे रहेगी

(१) वह कर्मोका कर्ता रहेगा—कर्म-करणको अपना माननेके कारण।

(२) वह ज्ञाता रहेगा—ज्ञान-करणको अपना माननेके कारण।

(३) वह भोक्ता रहेगा—मनोवृत्तियोको अपना माननेके कारण।

परन्तु चूँकि अन्त करण छोटा सा है इसलिए वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध उसमे पूर्णके ज्ञानकी अयोग्यता है। इसलिए जव अपनी कल्पनामे-से उस अन्त करणको निकाल देते है तव समष्टि-अन्त करणावच्छिन्न चैतन्यके रूपमे आप अपनेको पाते है। वहाँ भेद-ज्ञान होता है—कोटि-कोटि कल्पोका, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोका, कोटि-कोटि व्यक्तियोके ज्ञानका समग्र वीज उसी समष्टि-अन्त. करणावच्छिन्न चैतन्यमे ही वीजरूपसे रहता है।

अन्त करणभावावच्छिन्न चैतन्य जीव (प्रमाता) है, अन्त करणाभावावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है और अन्त करणसे अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। परन्तु चैतन्य तीनो एक है। थोडी देरके लिए भाव, अभाव, अवच्छेदको वट्टे खाते डाल दो और यह देख लो कि

ये तीनो चैतन्य तीन नही है एक है और इस एक चैतन्यकी अखण्डतामे भाव, अभाव और अवच्छेद तीनो बधित है। इसलिए अखण्ड ब्रह्ममे न जीवत्व है, न ईश्वरत्व और न प्रपञ्चत्व। और हमारे समग्र व्यवहारका विषय—चाहे हम स्त्री, पुरुष, मनुष्य, पशु, पक्षी, मिट्टी, पानी कुछ भी कहे—सब वही है। अज्ञानकालमे केवल अज्ञातताके कारण इनको दूसरा जानते-मानते-समझते हैं। परन्तु अज्ञानकी निवृत्ति होते ही हम जान जाते है कि ब्रह्मातिरिक्त आत्मातिरिक्त, स्वरूपातिरिक्त कुछ नही है, सब एक अखण्ड अद्वय ब्रह्म है।

अच्छा तो 'शास्त्रयोनित्वात्'। ईश्वरने वेदकी रचना की होगी तो बडा परिश्रम हुआ होगा। श्रुति कहती है कि कोई परिश्रम नही करना पडता

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद : सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (वृहदारण्यक० २ ४ १०)

'यह जो महान् सिद्ध वस्तु है भूत, परमेश्वर, (प्रमाणसे सिद्ध होते हैं देश-काल-द्रव्य, अत. प्रमाणसे पहिले होनेके कारण चैतन्यका नाम भूत है और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण वह महान् है), उसमे-से श्वासकी तरह विना किसी प्रयास और परिश्रमके ऋग्वेदादि प्रकट हुए।' इससे भी ईश्वरकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है।

श्वास जीवित प्राणीका लक्षण है। वेदका विज्ञान जिन्दा है इसके माने है कि ईश्वर है। ईश्वर श्वासी है, वेद उसका श्वास है। यदि श्वासका ही तिरस्कार कर देगे तो ईश्वर क्या मिलेगा ?

हम ईश्वरको मानते है या नही मानते हैं, जानते है या नही जानते हैं, इसकी पहिचान क्या है ? उसकी पहिचान है कि हम उसके श्वास-रूप वेदको मानते हैं या नही। यह वेदके विज्ञानके

रूपमे ईश्वरकी सास चल रही है। जिस दिन लोग वेदको मानना छोड देगे उसी दिन ईश्वरवाद भी चला जायेगा। बस, अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग हो जायेगा। परन्तु निराश होनेकी आवश्यकता नही है। ईश्वर अविनाशी है इसलिए उसका श्वासरूप वेद भी अविनाशी है।

वेदसे ईश्वरकी सिद्धि होती है और ईश्वर समकाल-वेद रहता है। वेद ईश्वरका प्रयत्नसाध्य नि श्वास नही है, स्वाभाविक नि श्वास है। ज्ञानका प्रपञ्चमे प्रथम आविर्भाव ईश्वरसे होता है और उस ज्ञानका ही नाम वेद हे। परन्तु पूर्वसृष्टिमे तिरोभूत वेदका ही आविर्भाव होता है।

वाचस्पति मिश्र (भामतीकार) ने मगलाचरणमे एक श्लोक लिखा है —

निश्श्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्त महाप्रलयः॥

यह ईश्वर जो सास ले रहा है उसका नाम वेद है। जब सोते-सोते कभी-कभी आवाज घरघराने लगती है तो आँख खुल जाती है कि यह आवाज कहाँसे आयी। इसी प्रकार जब ईश्वरकी आँख खुली तो देखा कि ये पाँचभूत खडे है। तब ईश्वर मुस्करा गया कि देखो यह क्या हमारी आँखोका खेल है। जब मुस्कान आयी तो चराचर सृष्टि बन गयी। पञ्चभूत दीखने लगे। फिर देखा कि अरे यह तो मेरी ही सृष्टि है। तब आँखे बन्द कर ली। तो वहाँ न चराचर है और न पञ्चभूत। उसकी मुस्कानमे चराचर उसकी नजरमे पञ्चभूत हैं, श्वासमें वेद है। ऐसा है यह परमेश्वर।

यहाँ 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रके शाकर भाष्यका प्रथमवर्णक-प्रवचन समाप्त होता है।

•

(३. १०)

शास्त्र ब्रह्मकी योनि है

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । जन्माद्यस्य यत । शास्त्रयोनित्वात् । तत्तु समन्वयात् ।

वेदान्त-दर्शनके ये चार सूत्र मानो ब्रह्मज्ञानके ही चार सूत्र है। 'अथात' कहनेका अर्थ है कि अधिकारी बनकर तब जिज्ञासा करनी चाहिए। जड वस्तुकी जिज्ञासाके लिए अधिकारी होनेकी जरूरत नही है। उसके लिए तो बस, यन्त्र चाहिए और तद्विषयक बुद्धिकी ट्रेनिंग चाहिए। परन्तु यह जो ब्रह्मज्ञानकी इच्छा है यह अल्पज्ञानकी इच्छा निवृत्त होनेपर ही होती हैं।

इस अधिकारके लिए पहिले विवेक चाहिए। विवेक यह कि कर्मका फल अनित्य होता है, साधनका फल अनित्य होता है

और सिद्ध वस्तु तो नित्य होती है। विवेक यह करना है कि बिना बनायी वस्तु क्या है और बनी-बनायी वस्तु क्या है। इसके लिए बनी वस्तुओसे वैराग्य भी अपेक्षित है। वैराग्यसे मनमे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान अपने आप आयेंगे। इस षट्सम्पत्तिका पर्यवसान मुमुक्षा अर्थात् मुक्तिकी इच्छामे होगा। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा, यह अधिकार सम्पत्ति हुई।

'अथात' कहनेका मतलब यही है कि अद्वय तत्त्वका ज्ञान बाजारमे लुटानेके लिए नही है। यह भी जरूरी नही है कि इसके समर्थक बढें। एक ब्रह्मज्ञानी दुनियामे बना रहे तो औपनिषद-परम्परा चलती रहती है। फिर यदि दो-चार ब्रह्मज्ञानी बने रहे तब तो बहुत बडी चीज है। वेशसे या मण्डलेश्वर होनेसे ज्ञानी नही होते। भगवान्ने कहा **'मनुष्याणा सहस्रेषु०'** (गीता ७ ३) अर्थात् (मनुष्याणाम् पदमे बहुवचन होनेसे कमसे-कम) ३००० मेसे कोई एक साधनकी इच्छा करता है। ३००० साधकोमे-से कोई एक सिद्ध होता है और ३००० सिद्धोमे-से कोई एक परमात्माको स्वरूपसे जानता है। गली-गलीमे ब्रह्मज्ञानी हो जायँ, इसकी जरूरत नही है।

अब जब ब्रह्मकी जिज्ञासा हुई तो ब्रह्मको समझनेका तरीका क्या है? आत्मज्ञान दूसरी चीज है और ब्रह्मज्ञान दूसरी चीज है तथा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान अलग चीज है। अपने साक्षी स्वरूपमे बैठना आत्मज्ञान है। सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चके अधिष्ठानको जानना ब्रह्मज्ञान है और तत्त्वमस्यादि महावाक्य द्वारा जगत् और अन्त-करणके अधिष्ठान और प्रकाशकको एक जान करके जगत् और अन्त करणको मिथ्या जान लेना, यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान है।

जो अन्त करणको प्रकाशित कर रहा है वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न रहकर दृश्य-प्रपञ्चको प्रकाशित कर रहा है। जो जगत्‌का प्रकाशक अधिष्ठान है वही अन्त करणका प्रकाशक अधिष्ठान है। उसमे जगत् और अन्त करणका अत्यन्ताभाव है। अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमे प्रकाशित होनेके कारण जगत् और अन्त करण दोनो ही मिथ्या प्रतीतिमात्र हैं। इसी बातको समझानेके लिए जगत्‌का कार्य-कारणभाव है। उसका अध्यारोप और अपवाद करना पडता है। वेदान्त-ज्ञानके लिए यही मुख्य प्रक्रिया है।

'जन्माद्यस्य यत'से कार्य-कारणविवेक प्रारम्भ होता है। यह कोई अनुमान नही है। इसीलिए श्रीवल्लभाचार्यने 'जन्माद्यस्य यत' और 'शास्त्रयोनित्वात्'को एक ही सूत्र माना है, दो नही माना। वे कहते हैं कि 'ब्रह्म जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका कारण है' यह बात शास्त्रसे ही सिद्ध होती है। इसलिए ये दोनो एक सूत्र हैं।

यह मान्यता बहुत पुरानी है। श्रीशकराचार्य भगवान्‌ने इस सूत्रकी दो तरहसे व्याख्या की है। पञ्चपादिकाकारने यह कहा कि एक सूत्रकी भी परम्परा है और दो सूत्रोकी भी परम्परा है, इसलिए शकर भगवान्‌ने पाणिनिके सूत्रोमे योग-विभागकी तरह ब्रह्मसूत्रोमे भी योग-विभाग करके एकके द्वारा शास्त्रकारणत्व और जगत्कारणत्व बताया और सूत्रको अलग करके शास्त्रके द्वारा ब्रह्मके प्रमाणकत्वकी व्याख्या की है। इसका अर्थ है कि भगवान् श्रीशकराचार्यके सामने भी एक सूत्रकी परम्परा थी और पञ्चपादिकाकार तथा विवरणकारने इसे बिलकुल साफ कर दिया।

शास्त्र ब्रह्मज्ञानकी योनि है। अर्थात् ब्रह्मके सम्बन्धमे शास्त्र ही प्रमाण है। आइये, इस बातको समझें।

कार्य-जगत् जितना है वह सब प्रत्यक्ष है। अक्ष्ण अक्ष्णं प्रतिगृह्यते

इति प्रत्यक्षम्। अर्थात् एक-एक इन्द्रियसे जिसका अलग-अलग ग्रहण हो सो प्रत्यक्ष है। (प्रति = एक - एक + अक्ष = ज्ञानेन्द्रिय = प्रत्यक्ष।) तो कार्य जितना है प्रत्यक्ष है, आता है, जाता है, पैदा होता है, मिटता है, बदल रहा है। बाप देखा, बेटा देखा, बेटाका बेटा देखा। कोई-कोई तो पाँच-पाँच पीढी अपनी सन्तानको देख लेते हैं।

कार्य-कारणका सम्बन्ध लोकमे देखनेमे आता है। मिट्टीसे घडा बना, घड़ेमे मिट्टी है। अर्थात् मिट्टी कारण है और घडा कार्य है। परन्तु जहाँ कोई वस्तु अदृश्यसे उत्पन्न होती है वहाँ कार्य-कारण भाव प्रत्यक्ष देखनेमे नही आता। तब अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है। अनुमान = अनु + मान = मान प्रत्यक्षम् अनु, अनु = पश्चात् = प्रत्यक्षके पीछे जो चले सो अनुमान।

अनुमान ऐसेही नही होता कि अमुकके मनमे क्या है या कि ईश्वरके बारेमे अनुमान करें। नैयायिकोने ईश्वरके बारेमे बहुत-सा अनुमान किया है, यह हम जानते हैं। परन्तु अनुमान वहाँ होता है जहाँ धुँये और अग्निका सम्बन्ध पहिले हम देख चुके हो और यह देख चुके हो कि जहाँ-जहाँ धुआ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है।

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्नि:। यत्र यत्र अग्निर्न तत्र तत्र धूमो न

यह अनुमान भी सीखना पडता है, अपनी दिमागी कसरत-मात्रसे नही आता। शास्त्रमे इसे व्याप्तिग्रह, लिंग-परामर्श कहते हैं। रसोई-घरमे जब धुआ और अग्निका सम्बन्ध प्रत्यक्ष देख लेते हैं तब जगलमे धुँआको देखकर अग्निका अनुमान किया जासकता है। व्याप्तिग्रहके बिना अनुमान नही होता।

अब यह जो दुनिया दीख रही है उसके बापको भला किसीने

देखा है ? जिसका जन्म बादमें हुआ और जिसकी मौत पहिले हो जायेगी वह भला अपनेसे पहिले रहनेवाले और बादमें रहने-वालेको कैसे जानेगा ? वेदके मन्त्र भी बादमें प्रकट हुए, उनसे पहिले ईश्वर है। ऋषि, मुनि, इन्द्रिय सब बादमें पैदा हुए उससे पहिले ईश्वर था। वे भला ईश्वरका और उसके साथ जगतके कार्य-कारण भावका कैसे अनुमान करेंगे ?

अनुमान भी तीन तरहका होता है —

(१) कार्यको देखकर कारणका अनुमान (जैसे बच्चेको देखकर बापका अनुमान करना)।

(२) कारणको देखकर कार्यको अनुमान (यह अमुकके बाप है; तो बापको देखकर बेटाका अनुमान करना)।

(३) सामान्यतो दृष्ट कार्य-कारण-सम्बन्धके बिना भी अनुमा न जैसे, देशान्तर प्राप्तिको देखकर गतिका अनुमान करना)।

प्रतीयमान सृष्टिका कारण क्या है ? सामान्यरूपसे अनुमान होता है कि प्रत्येक कार्यका कारण होता है, इसलिए सृष्टिका भी कारण होना चाहिए। परन्तु वह कारण क्या है ? जब इस विशेपकी जिज्ञासा होगी तो नैयायिक कहेगा कि परमाणु है, साख्यवादी कहेगा कि प्रकृति है, बौद्ध कहेगा कि चित्त है, वेदान्ती कहेगा कि माया है। परन्तु माया तो मायावीके आश्रित होती है, इसलिए यह जगत् मायाका खेल है। ऐसा होनेपर भी मायावी अर्थात् जादूगरका ही अनुमान होता है।

असलमें कार्य-कारणके रूपमें जो ब्रह्मका अनुमान है वह अध्यारोप और अपवादकी दृष्टिसे ही है।

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यद् उपादान कारणम् अज्ञानं तदुपाय ब्रह्मकारणमुच्यते।

(वार्तिककार सुरेश्वराचार्य)

यह जो इन्द्रजालरूप द्वैत दिखाई पडता है इसका उपादान कारण क्या है ? अज्ञान है। जब जादूगर खेलमे पशु, पक्षी, मनुष्य दिखाता है तो क्या वे सब वहाँ है ? नही। परन्तु दीखता सब है। क्यो दीखता है ? क्योकि तुम जादूगरको नही देख पाते हो, जादूको देख रहे हो यह माया नही दीख रही है, मायाके विलास दीख रहे है। अपना अज्ञान ही इसमे हेतु है। जब हम असली चीजको नही समझते तब किसी नकली चीजपर विश्वास हो जाता है। असली चीजको न समझना अज्ञान है। जगत्का जो असली स्वरूप है ब्रह्म, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म, वह तो मालूम नही पडना है। उसको न जानना अज्ञान है। यही अज्ञान दुनियाका उपादान है।

यह जो दुनिया मालूम पडती है कि ऐसी है, ऐसी है, किसीसे पैदा हुई है, सो बिलकुल अज्ञानसे पैदा हुई है। उस अज्ञानसे उपहित जो ब्रह्म है उसको हम अज्ञानका अधिष्ठान होनेके कारण अध्यस्तका धर्म ब्रह्ममे अध्यारोपित करके, ब्रह्मको जगत्का कारण कहते हैं, असलमे ब्रह्म कारण नही है। चेतनमे यदि कार्य-कारण भाव हो तो अनर्थ हो जायेगा क्योकि उसे परिणामी होना पडेगा। चेतन स्वय बदलता नही है वह बदलनेका साक्षी होता है।

असलमे हम ब्रह्मके स्वरूपको नही जानते है, इसीलिए उसमे कार्य-कारण भावका अध्यारोप करते है। उसका निषेध कैसे होता है ? जब हम अपने आपको ब्रह्म जानते हैं तब। रस्सीको जान गये तो उसमे न साँप न माला। जो साँप कह रहा था वह भी रस्सीको ही कह रहा था और जो माला कह रहा था वह भी रस्सीको कह रहा था। है तो रस्सी ही। इसी प्रकार स्त्री, पुरुष, परमाणु, प्रकृति, माया, सब ब्रह्मको ही कह रहे है। चीज तो एक ही है, उसको न पहिचाननेके कारण जिसको जैसा मालूम पड रहा है,

बोल रहा है। जब ब्रह्मज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है तो सब भेदोका अपवाद हो जाता है।

तो आओ, ब्रह्मको जाने। किस प्रमाणसे जाने ? इस सदर्भमे थोडी प्रमाण-चर्चा करले।

चार्वाक केवल एक प्रमाण मानते है. प्रत्यक्ष।

बौद्ध दो प्रमाण मानते है : प्रत्यक्ष और अनुमान।

जैन तीन प्रमाण मानते है · प्रत्यक्ष, अनुमान और वीतराग महापुरुषोका अनुभव।

वैशेषिक तीन प्रमाण मानते है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

न्याय चार प्रमाण मानते है. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रभाकारभट्ट पाँच प्रमाण मानते है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापित्ति और शब्द।

कुमारिलभट्ट छ प्रमाण मानते है. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, और शब्द।

ऐतिहासिक सात प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द और ऐतिह्य।

पौराणिक आठ प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य और सभव।

नाट्यशास्त्री नव प्रमाण मानते है · प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य, सभव, चेष्टा।

वेदान्ती छ प्रमाण मानते है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और शब्द।

आपको एक शास्त्रार्थ सुनाता हूँ।

चार्वाक—हम तुम्हारे शास्त्रप्रमाणका खडन करते है।

वेदान्ती—हम जो परस्पर वातचीत करेंगे, उसको तुम प्रमाण मानोगे या नही ?

चा०—नही। हम तो केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हैं।

वेदा०—तव तुमसे वातचीत ही करना व्यर्थ है। माफ करो।

चा०—अच्छा, हम मानते हैं।

वेदा०—तव तुमने शब्दको प्रमाण मान लिया। अपने सिद्धान्तसे च्युत होगये तुम। और फिर यह भी तो कहते हो कि हमारे आचार्य वृहस्पति है, तो क्या तुमने वृहस्पतिको देखा था ?

चा०—नही।

वेदा०—वृहस्पतिकी वातको प्रमाण मानते हो, इसलिए तुम शब्द-प्रमाणको मानते हो। अच्छा, जो वात मै वोल रहा हूँ वह मेरे मनमे है, यह तुम्हे कैसे मालूम पडेगा ?

चा०—अनुमानसे।

वेदा०—तव तुमने अनुमानको भी मान लिया। अच्छा, यदि हम किसी वातको समझानेके लिए दृष्टान्त देंगे तो तुम उस वातको मानोगे या नही ? मानोगे तो उपमान-प्रमाण भी मान लिया। यह शास्त्रार्थ इसलिए सुनाया कि विचार करते समय सब वात कायदेमे चलती है, अड-वड नही।

यह बात हम 'जन्माद्यस्य यत.' के भाष्य प्रवचनमे कह चुके हैं कि ब्रह्मसे सृष्टि होती है, यह अनुमान नही है। इसमे तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मानन्द वल्लीके मन्त्र एकसे मन्त्र पाँच तकका विचार है। **यतो वा इमानि भूतामि जायन्ते०** से जिस जगत्कारण तत्-पद वाच्यार्थ ईश्वरका वर्णन किया उसका त्व-पद वाच्यार्थ आत्मा-मे '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि०**' मन्त्रके द्वारा उपसहार किया गया। क्योकि आनन्द तो अपना स्वरूप आत्मा है। अपनी आत्मासे अभिन्न हुए बिना कोई वस्तु आनन्द नही हो सकती। इसका अर्थ

है कि ईश्वर और आत्मा दोनो एक है और जगत् अपनी उत्पत्ति-स्थितिके साथ बाधित है। यह दोनोकी एकता ही ब्रह्म है।

इस ब्रह्मकी प्राप्तिमे साधन क्या ? प्रमाण क्या ?

पहिले विवेक होना चाहिए। पहिले यह सोचलो कि ये धन, मकान, सम्बन्धी मै नही हूँ। बादमे यह मालूम पड़ जायेगा कि ये मेरे नही है। जबतक उनके मनके अनुसार चले तबतक वे तुम्हारे हैं वर्ना पति-पत्नीका तलाक क्यो होता ? माँ-बाप पुत्र-पुत्रीको और पुत्र-पुत्री माँ-बापको क्यो छोडते ? इनमे मेरापना तभीतक है जवतक इनमे सुखबुद्धि और अनुकूलता-बुद्धि रहती है। विना क्रीडा-मृग हुए कोई किसीका नही होता। तो विवेक यह है कि मैपना शरीरतक सीमित है। जो शरीरसे बाहर है वह मै नही हूँ।

अब शरीरमे भी देखो कि कितना मै है और कितना मेरा है। बाल मेरा है तो सफेद होनेपर झड क्यो जाता है ? हाथ मै हूँ तो हाथ कहनेपर मै क्यो जीवित रहता हूँ ? हाथमे जो ताकत है यदि वह मेरी है तो लकवा लगनेपर क्यों काम नही करती ? शक्ति-प्रयोगकी इच्छा यदि मेरी है तो वह भी सुषुप्तिमे या शॉक लगनेपर क्यो स्तम्भित हो जाती है ? इच्छा हमेशा नही रहती, मै हमेशा रहता हूँ। यदि कर्तापन मै हूँ तो वह भी हमेशा नही रहता। भोक्तापन भी हमेशा नही रहता। आनन्दके भोक्ता भी हम हमेशा नही रहते। दु ख जबरदस्ती आता है और आनन्द खोजता है। यही पचकोष-विवेक है। यह जाग्रत् होना चाहिए। जो मै नही है उसको मै माननेमे अरुचि होनी चाहिए। यही वैराग्य है। शम-दमादि इसीके बच्चे हैं।

इसके बाद जब मुमुक्षा होगी तो ब्रह्मजिज्ञासा होगी। यहाँ ब्रह्मकी प्रेप्सा नही है, जिज्ञासा है। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न

ब्रह्मकी जिज्ञासा। इसमे पानेकी इच्छा नही है, पहिचाननेकी इच्छा है जो सर्वत्र, सर्वरूप, सर्वदा है उसको पहिचाननेकी इच्छा। यह जो तुम्हारा विविक्त आत्मा है उसका ब्रह्मत्व पहिचानने-की इच्छा।

यह विविक्त द्रष्टा अनेक मालूम पडते है। यह जगत् आत्मासे भिन्न ठोस मालूम पडता है। इस जगत्के कारणके बारेमे कौतूहल है और इसके नियन्तासे अपना व्यक्तित्व नितान्त पृथक् और पराधीन मालूम पडता हे। फिर आत्मा ब्रह्म कैसे ? इसके समा-धानके लिए 'जन्माद्यस्य यत' और 'शास्त्रयोनित्वात्' दो सूत्र आये है। इनका परम तात्पर्य आत्माके ब्रह्मत्वमे तथा जगत्को ज्ञानका विवर्त बतानेमे है।

धर्म कहता है करो, उपासना कहती है भावना करो, योग कहता है शान्त बैठ जाओ। मगर वेदान्त कहता है. पहिचान लो।

क्योकि जीवनमे कुछ किये बिना होता नही, विश्वास बिना चलता नही और विश्राम बिना शक्ति नही मिलती, इसीलिए लोग सोचते हैं कि ब्रह्मज्ञानमे भी कुछ करना है, कुछ मानना है और कुछ समाधि लगानी है। कर्म-भक्ति-योगके प्रति अपेक्षा बुद्धि पक्की हो गयी है और ज्ञानकी महिमा आँखसे ओझल हो गयी है। इसलिए ऐसा वे लोग कहते हैं। परन्तु यदि कोई वस्तु खोयी न हो और खोनेका सिर्फ भ्रम हो तो क्या कर्मसे या भावनासे या समाधिसे वह मिल जायेगी ? गोदमे लडका, शहरमे ढिंढोरा।

यह जो आत्मा ब्रह्म है इसको पहिचाननेके लिए न कर्मकी जरूरत है, न भावनाकी और न समाधिकी। इसको तो केवल शास्त्रकी आँखोसे पहिचान भरलो कि हम ही ब्रह्म है। 'शास्त्र-योनित्वात्'का दूसरा वर्णक यही बात बताता है।

शास्त्रं योनि प्रमाणं यस्य तत्शास्त्रयोनि (ब्रह्म)। तस्य भाव शास्त्रयोनित्वम्। तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्र योनि अर्थात् प्रमाण है जिसका उसका नाम है—शास्त्रयोनि। उसका भाव हुआ शास्त्रयोनित्व। ऐसा शास्त्रयोनि होनेसे, यह 'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ हुआ।

पहिले **'शास्त्रस्ययोनिः कारण शास्त्रयोनि'** ऐसा अर्थ करके ब्रह्मकी सर्वज्ञता सिद्ध की। अब 'योनि'का अर्थ कारण न करके प्रमाण करते हैं और शास्त्रको ब्रह्ममे प्रमाण बताते है। शास्त्र कोई मिट्टीकी तरह घटरूप ब्रह्मका कारण तो हो नही सकता। वह तो प्रकाशकत्वेन ही प्रमाणकत्वेन ही ब्रह्मका कारण बन सकता है।

शास्त्र कौन-सा प्रमाण है? असलमे सारा शास्त्र ही प्रमाण है। जो लोग शास्त्रमे घटाते-बढाते है वे ठीक नही करते। इससे बुद्धि भी दुर्बल होती हे। इतिहास तो लम्बा है, अनादिसे अनन्त तक, उसमे कब, कहाँ किसको, किस बातकी जरूरत पड जायेगी कोई नही कह सकता। शास्त्रकी सारी बाते एक ही प्रकारके लोगोके लिए है, ऐसा क्यो मानते हो? हम लोग तो शास्त्रमे प्रक्षेपको भी मान लेते हैं क्योकि जब किसीकी बुद्धिमे कभी कोई बात आती है तो उसके ज्ञानका बीज भी कही-न-कही अवश्य रहा होगा। इसलिए सृष्टिमे उसकी बातकी सगति भी कही-न-कही लग ही जायेगी। अगर प्रक्षेपको काटने लग जाँय तो प्रतिपक्ष हमारी बातको प्रक्षेप बताने लग जायेगा।

सम्पूर्ण शास्त्र आत्मा और ब्रह्मकी एकताके वर्णनमे ही कोई न-कोई कडी है। यह व्याख्या हम समग्र शास्त्रकी—ज्योतिषके होडाचक्रसे लेकर ऋग्वेदपर्यन्त—कर सकते है।

इस द्वितीय वर्णकपर वैयासिक न्यायमालाके निम्न दो श्लोक है—

> अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता ।
> घटवत् सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥१७॥
> रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्यमान्तरयोग्यता ।
> त्व त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥१८॥

अधिकरणके इस वर्णकमे विषय यह है कि ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना है तो किस प्रमाणसे ? उसमे सशय यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान आदि नव प्रमाणोमे-से किसी एकसे या अनेकसे या सबसे ब्रह्म जाना जाता है या केवल वेदान्त-वाक्यसे ही ब्रह्मको जान सकते है। अथवा ब्रह्म किसी प्रमाणसे जाना ही नही जा सकता ?

जो चीज प्रमाणसे जानी जाती है उसमे तीन विभाग होते हैं ·

(१) प्रमाण अर्थात् ज्ञानके करण जैसे नाक, कानादिक इन्द्रियाँ, मन, वुद्धि । (प्रमाकरण प्रमाणम्)

(२) प्रमेय, अर्थात् जो चीज जानी जा रही है। जैसे शब्द, स्पर्शादिक विपय ।

(३) प्रमाता, अर्थात् जाननेवाला ।

प्रमाण सदैव हमारे शरीरमे होते हैं। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब शरीरमे है। असलमे वृत्ति प्रमाण होती हे। इन्द्रियाँ भी विषयाकार वृत्ति उत्पन्न करनेमे माध्यम होनेसे ही प्रमाण हैं। वेद भी जव प्रमाण वताया जाता है तो वह हमारे अन्त करणमे तद्-विपयक वृत्ति उत्पन्न करके ही प्रमाण होते है। इसमे भी यदि वृत्ति-ज्ञान-प्रत्यक्ष होने योग्य नही है तो शास्त्र भी प्रमाण नही होता। उदाहरणाथ यदि शास्त्रमे मान लो लिखा हो कि 'तुम दो हो' अथवा 'तुम नही हो' तो क्या वह प्रमाण होगा ? नही। क्योकि अपने दो होने या न होनेका अनुभव शक्य नही है।

तो प्रमाण ही वृत्ति और उस प्रमाणसे जो काम लेनेवाला है अर्थात् प्रमाणका आश्रय, वह है प्रमाता। जो चीज प्रमाणसे मालूम पड़ती है—वह है प्रमेय। प्रमेय सदैव प्रमातासे अन्य होता है। हम प्रमाणके द्वारा दूसरेको जानते है।

ससारमे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोसे जो कुछ भो जाना जाता है वह सब प्रमातासे भिन्न वस्तुओका ज्ञान होता है। कुछ वस्तुएँ सीधे इन्द्रियोसे जानी जाती है, कुछ यन्त्रोकी सहायतासे इन्द्रियोंसे ही जानी जाती है। कुछ मनसे, कुछ बुद्धिसे जानी जाती है। कुछ साक्षी-भास्य पदार्थ सीधे साक्षीसे ही जाने जाते है। परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी है जिनको आप किसी प्रमाणसे नही जान सकते सिवाय शब्द-प्रमाणके। आप धर्मका प्रत्यक्ष किस प्रमाणसे करेंगे? आप ऋषियोके इस क्रान्तिकारी विचारपर ध्यान दे कि किमी वस्तुमे, किसी क्रियामे, धर्माधर्म नही होता और इसलिए धर्मका प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रियका विषय नही है। धर्म शाश्वत सविधानमे-से अर्थात् शास्त्रके अनादि कालीन विधिनिषेध-मे-से निकलता है।

ब्रह्मको आप कैसे जानना चाहते है? आँख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष-प्रमाणसे? जो आँख सम्पूर्णरूपको भी नही देख सकती, अतिसूक्ष्म खूनमे उपस्थित कीटाणुओको नही देख सकती वह अनन्त ब्रह्मको क्या देखेगी? क्या आप ब्रह्मको चख लेंगे? ब्रह्म बोला जायेगा और आपके कान ब्रह्मको सुन लेंगे? ब्रह्म आपके मनकी छोटी-सी थैलीमे, वृत्तियोंके वर्तनमे आ जायेगा? यदि नही तो फिर कैसे?

वेदान्त पहिले यही बताता है कि जो चीज़ प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे मालूम पड़ती है वह ब्रह्म नही है। ब्रह्म माने अनन्त। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध वस्तुएँ ब्रह्मसे अलग है, यह बतानेमे वेदान्तका

तात्पर्य नही है। ये ब्रह्मसे अलग नही है और ब्रह्म इतना ही नही है, यह बात बतानेमे तात्पर्य है। इसलिए करदो निषेध इनका। नेति-नेति।

एक शरीरमे ही जितने दृश्य पदार्थ है उनसे अलग कर दिया मैंको, आत्माको अलग करके अब यह बताता है कि यह विविक्त आत्मा ब्रह्म है। बिना मनोजागरणके देशका फैलाव, कालका नित्यत्व, वस्तु और उसका अनेकत्व प्रतीत नही होता। अब जो मनका साक्षी है वह कितना बडा ? माने वही देश काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

ऋषिकेशमे एक बालक था। उसने वेदान्त सुना और उसका खूब अभ्यास कर लिया। सब ब्रह्म है, यही उसका अभ्यास था। अब ठडी पडे तो भी गगा नहाय। माँ-बाप मना करे तो कहे सब ब्रह्म है मै भी ब्रह्म, गगा भी ब्रह्म, स्नान भी ब्रह्म। उसके चाचाने चपत मार दिया तो रोने लगा। उससे पूछा तो बोला 'रोना भी ब्रह्म है'। विपिन बाबूने उससे बहुत जिरह की और बहुत सुन्दर जिरह की। परन्तु वह काट देता था. 'प्रश्न और उत्तर सब ब्रह्म है'। जब वह रोने लगा तो उससे पूछा 'एक ब्रह्म तेरेमे रोरहा है और एक ब्रह्म अभी दूसरेमे हँस रहा है तो दो ब्रह्म हुए न ?' वह बोला 'हाँ दो ब्रह्म हुए।' इस पर कहा गया कि 'तेरा ब्रह्म-ज्ञान अभी कच्चा है। ब्रह्म दो नही हो सकते।'

तो **विषय** यह था कि ब्रह्म किस प्रमाणसे जाना जायेगा ? जाना भी जायेगा कि नही ? इस पर **पूर्वपक्ष** यह है कि 'ब्रह्म तो घटवत् सिद्ध वस्तु है। जब वस्तु है तब जानी क्यो नही जायेगी ? इसलिए किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे वह जाना जाना चाहिए। **सिद्धान्ती** कहता है कि ब्रह्म सिवाय वेदान्त-वाक्य प्रमाणके दूसरे किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे जाना नही जा सकता क्योकि उसमे न

कोई रूप है और न लिंग **रूपलिङ्गादिराहित्यात् नास्यमान्तर-योग्यता।**

फिर ब्रह्म कैसे जाना जायेगा ? पहिले एक बार सबका निषेध करदो। उस निपेधावधिके रूपमे जो 'तुम' शेष रहते हो उसको वेदान्तशास्त्रका महावाक्य कहता है कि 'वही तुम देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म हो 'तत्त्वमसि'।

वेदान्त शास्त्रमे दो प्रकारके वाक्य होते हैं एक अवान्तर वाक्य और दूसरे महावाक्य। अवान्तर वाक्योका तात्पर्य धर्म, उपासना, योगमे होता है जिनका पर्यवसान अन्त करणकी शुद्धिमे होता है और उनका परम तात्पर्य महावाक्यार्थधीके धारणकी योग्यतामे होता है। महावाक्य तो शोधित त्व-पदार्थ और शोधित तत्-पदार्थकी एकता बताता है 'तत्त्वमसि', 'अह ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म।'

जब तुम सबसे न्यारे होकर बैठे तो शास्त्रने बताया कि यही अखण्ड ज्ञानस्वरूप ब्रह्मतत्त्व तुम हो। वहाँ तुम परिच्छिन्नताके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान होनेसे परिच्छिन्नता तुममे मिथ्या है।

श्रुतिने कहा. '**तन्त्वौपनिषद पुरुषं पृच्छामि**' (बृहदा० ३ ९ २६) अर्थात् हम उस औपनिपद पुरुषके बारेमे प्रश्न कर रहे है जो केवल उपनिपदके द्वारा ही जाना जाता है। दूसरी जगह श्रुति फिर कहती है '**नावेदविन् मनुते त बृहन्तम्**' 'अवेदवित् पुरुष उस ब्रह्मको नही जानता।'

अतएव **निर्णय** यह हुआ कि वेदान्त शास्त्र और उसमे भी महावाक्यके द्वारा ही आत्माका ब्रह्मरूपमे ज्ञान होता है। अन्य किसी प्रमाणसे यह जाना नही जा सकता। इस प्रक्रियाके अति-रिक्त अन्य प्रक्रिया केवल भावनात्मक होगी।

●

(३. ११)

केवल शास्त्र ही ब्रह्ममें प्रमाण है

जब अनन्त वस्तुका साक्षात्कार करना होता है तब परिच्छिन्न वस्तुकी ओरसे वृत्तिको हटाना पडता है। यदि न हटाया जाय तो एक-एक वस्तुकी विशेषता देखनेमे ही सारी बुद्धि लग जायेगी। यदि कोई यही पता लगानेमे लग जाय कि फलोंके स्वादोमें क्या फर्क है तो उसकी सारी जिन्दगी बीत जायेगी परन्तु यह कार्य पूरा नही होगा। जब फलोका अनुसन्धान भी पूरा नही होगा तो अनन्तका ज्ञान वह बुद्धि कैसे प्राप्त कर सकेगी? इसलिए जो कण-कणकी विशेषताके अनुसन्धानमे लग जाता है उसकी बुद्धि अनन्तके अनुसन्धानमे प्रवेश नही करती। यही तो विवेक, वैराग्य-की आवश्यकता है। जो अनन्त वस्तु है उसमे-से विशेषको निकाल-कर पहिचानना पड़ेगा।

एक आम है और एक अंगूर है। दोनोंके स्वादोंमें अन्तर है। इस अन्तरको बट्टे खाते डालो तो दोनोंमें स्वाद है। स्वादमें भी कुछ मिट्टी है, कुछ पानी है, कुछ अग्नि है, कुछ वायु है, कुछ आकाश है। इस अन्तरको भी बट्टेखाते डालो तो दोनोमें सत्ता है। सत्ता तो आममें भी है, अंगूरमे भी है, परन्तु जातिरूप सत्ता दोनोंमें एक है और अखण्ड है। इस अखण्ड सत्ताके साक्षात्कारके लिए विवेक-शक्ति और वैराग्य-शक्ति दोनो जाग्रत् होनी चाहिए। विवेक असली अपरिच्छिन्नका ग्रहण कराता है और वैराग्य परिच्छिन्नमे अपरिच्छिन्नताकी बुद्धि नही होने देता।

विवेकके साथ यह ज्ञान भी चाहिए कि किस साधनसे किस साध्यकी प्राप्ति होती है। धर्मसे धर्मजन्य सुखाकारिता होती है जो अनेकविषया होती है। उपासनासे, जिसमें भावना और अभ्यास दोनों शामिल हैं, इष्टाकारता तथा तज्जन्य सुखाकारता होती है। यह एकविषया होते हुए भी इसमे भी जन्य-जनकभाव रहता है। सगुणमें विशेष वृत्तिका आदर है और निर्गुणोपासनामें विशेषाकार वृत्तिका तिरस्कार है। योगसे वृत्तिका पेट खाली किया जाता है और वह खाली वृत्ति अपने आश्रयमे बैठ जाती है। इसमें वृत्ति शान्त रहती है और इसलिए इसमे शान्त सुखकी अनुभूति होती है। इन सभी साध्य अवस्थाओमे जो एक सर्वनिष्ठ बात है वह यह है कि सब अवस्थाएँ साधनजन्य हैं, अतः विनाशी हैं। चाहे वासनाओका मर्यादित भोग हो (जैसे धर्ममे) या वासनाओका रूपान्तरण हो (जैसे उपासनामे) और या वासनाओकी शान्ति हो (जैसे योगमे), कोई वासनामूलक साधन आत्माके अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानको निवृत्त करनेमे सीधा सक्षम नही है।

वेदान्तका कहना यह है कि केवल अधर्मसे, या केवल वासना,

स्मृतिसे या केवल विक्षेपसे परमात्माका लोप नही हुआ है। यदि ऐसा होता तो धर्म, उपासना, योगसे उसका साक्षात् हो जाता। परन्तु नही होता। इसलिए असलियत यह है कि जो वस्तु अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण, स्वयप्रकाश, सर्वाधिष्ठान होती है वह केवल अज्ञानके कारण ही, न पहिचाननेके कारण ही साक्षाद् अपरोक्ष नही भासती। परमात्माके अनुभवमे यदि कोई प्रतिबन्ध है तो उसको न पहिचानना है।

जैसे मिट्टी न पहिचाननेवाला व्यक्ति घट शब्द बोलता है और घटाकार वृत्ति बनाता है परन्तु ये घट शब्द और घट प्रत्यय मिट्टीको न पहिचाननेके कारण हुए। जब मिट्टीको पहिचान लिया तो घट शब्द और घट प्रत्यय बिलकुल व्यावहारिक (मिथ्या) हो गये और मिट्टी परमार्थ हो गयी। इसी प्रकार रज्जुको न पहिचाननेसे सर्प शब्द और सर्प प्रत्यय होते हैं। रज्जुका ही नाम सर्प शब्द हुआ और रज्जुको ही सर्प समझा यह शब्द और प्रत्यय जबतक वस्तुको न समझकर प्रयुक्त किये जाते हैं तबतक तो वे दूसरेके बोधक होते हैं। परन्तु जब वस्तु पहिचान ली जाती है तब चाहे शब्द कोई हो और वृत्ति कोई हो, वस्तु तो ज्योकी-त्यो रहती है।

यह वेदान्त धर्म, उपासना, योगसे न्यारा है; साख्य, न्याय-वैशेषिक, मीमासासे न्यारा है; बौद्ध-जैनसे भी न्यारा है। क्योकि यह परमात्माके अनुभव न होनेका कारण केवल अज्ञानको मानता है। न तो अधर्मको कारण मानता है, न विक्षेपको, न विस्मृतिको। इसीसे जब लोग दावा करने लगते हैं कि हम परमात्मामे बैठकर उठ आये, तो तुम अभी परमात्मामें नही बैठे थे, अज्ञानमें बैठे थे, उसीमें-से उठ आये हो। बोले हमने अपनी बुद्धिसेपर मात्माको

जान लिया; तो तुमने परमात्माको नही जाना, अपने किसी बच्चेको जाना है :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन उप० २.३)

श्रुति कहती है : जिसने कहा मैने बुद्धिसे परमात्माको जान लिया; उसने नही जाना।

हम एक महात्माके दर्शन करने गये गगा-किनारे। पूनाके थे वे महात्मा। नाम उनका शकर भारती या शकरानन्द भारती था। पूर्वाश्रममें वे महामहोपाध्याय प० श्रीधर पाठक थे। उन्होने कहा : स्वामीजी, आपका हम क्या सत्कार करें। हमारे पास कोई सामग्री नही है। हम आपको **यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः**। इस मन्त्रकी व्याख्या सुना देते हैं।

उन्होने बताया कि "यदि द्रष्टा यह समझता है कि मैंने ब्रह्मको देख लिया तो वह गलत समझता है। और यदि प्रमाता यह समझता है कि मैने ब्रह्मको देख लिया तो वह भी गलत समझता है।" क्योंकि प्रमाता प्रमाणके द्वारा प्रमेयको देखता है। प्रमाणका पक्षपात सदैव प्रमेयको दिखानेमें होता है, प्रमाताको दिखानेमें नही। प्रमाण प्रमेयपक्षपाती होता है और दूसरेको दिखाता है, और प्रमातासे भिन्नको दिखाता है। यह पहिले हमारा अस्तित्व मान करके फिर दूसरेको हमारे सामने लाता है क्योकि यदि हम ही न हो तो प्रमाण ही काम नही कर सकता। प्रमाण जितने मिले दूसरेको दिखानेके लिए है। आत्माको विषयसे मिलानेवाले बिचौले हैं—प्रमाण। कोई अनुमान-रूप बुद्धिको भी प्रमाण मानते हैं और कोई निवृत्तिरूप समाधिको भी प्रमाण मानते हैं (यद्यपि उनको प्रमाण मानना बिलकुल असगत है)। कोई अपने अनुभवको भी प्रमाण मानते हैं, परन्तु यह भी कोई सविधान नही है।

दुनियामें लाखो लोग हो गये, उन्होने लाखो अनुभव करके लाखों सम्प्रदाय चला दिये। अनुभव वह प्रमाण होता है जो प्रमाणसे उत्पन्न प्रमाके अनुकूल होता है और जो मनमाना होता है वह अपनी वासनासे मिश्रित और अपनी परिच्छिन्नताको सतुष्ट करनेवाला होता है; उसमें अहका ही विकास होता है।

श्री उडिया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा : 'महाराजजी, अमुक तो बड़ा मस्त रहता है, हमेशा हँसता रहता है, उसको तो ब्रह्मानुभूति हो गयी होगी ?'

बाबा—मस्ती जीवधर्म है या ब्रह्मधर्म ?

शरीरमे जो अहंका विकास है वह दूसरी चीज है, वह परिच्छिन्नतामे विशेषको लाता है। वेदान्त ऐसे लोगोके लिए नही है। वेदान्त तो परिच्छिन्नताकी विशेषताको बाधित करता है। वेदान्त जीवनमे विशेषता लानेके लिए नही है, बल्कि जीवनमे जो आरोपित विशेष है उसको काटकर निर्विशेपता लानेके लिए है।

मोकलपुरके बाबासे पूछा : 'तुम कौन हो बाबा ?'

बाबा—जो सर्प सो मैं, जो चीटी सो मै, जो मक्खी सो में।

ब्रह्म अद्वितीय वस्तु है। सर्वाधिष्ठान होनेसे परिपूर्ण कहा जाता है , स्वरूपसे नही। पूर्व पश्चिम आदि दिशाओमे व्यापक दिक् तत्त्वका आश्रय होनेसे वह परिपूर्ण कहलाता है। युग, कल्प, मन्वन्तर, वर्ष, मास, दिवस, घण्टा, मिनट, सेकेण्डमे व्याप्य जो काल है उस कालका आश्रय होनेसे वह अविनाशी कहलाता है। स्वय कालकी भी मृत्यु नहीं होती, वह स्वयं अनादि-अनन्त है, परन्तु उसके अधिष्ठान-ज्ञानसे काल भी बाधित हो जाता है। कालकी उपाधिके अध्यारोपका ब्रह्मे अपवाद करनेके कारण ब्रह्मको अविनाशी कहते हैं, स्वरूप नही। यह जो द्रव्यरूप इन्द्र-

प्राप्त है—अलग-अलग वस्तुओंमें जो एक सत्ता-सामान्य व्याप्त है, उसका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्मको सत् कहते हैं, स्वरूपसे नहीं। ब्रह्मको चित् कहते हैं क्योंकि विशेष ज्ञानोमे जैसे घटज्ञान; पटज्ञान मठज्ञानमे जो एक सामान्य ज्ञान है, बुद्धिज्ञान, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। औपाधिक ज्ञानोंका अधिष्ठान होनेसे, माने ज्ञानको उपाधिके अध्यारोपका अपवाद ब्रह्ममें होनेसे, ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप कहते हैं।

ऐसे अनन्त ब्रह्ममें कोई बैठकर उठ आया था उसको बुद्धिसे जान लिया, सम्भव नही। **मतं यस्य न वेद सः।**

इसी बातको प्रस्तुत प्रसंगमें यों कहा कि किसी भी प्रमाण द्वारा स्वरूपभूत देशाधिष्ठान, कालाधिष्ठान, द्रव्याधिष्ठान और अध्यस्तभावाधिष्ठान, प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्मको जाना नही जा सकता—**नास्यमान्तरयोग्यता**—वेदान्त वाक्योंके अतिरिक्त किस भी अन्य साधन या प्रमाणसे अद्वय ब्रह्मका साक्षात्कार सम्भव नही है।

तब ? ब्रह्म चेतन और अद्वितीय होनेसे अपना स्वरूप है और इसलिए अज्ञानके कारण ही उसकी अप्राप्ति है। कल्पित सर्पसे ढका रज्जु ही सर्प भासता है और सर्पाकार-वृत्तिसे ढका हुआ आत्मतत्त्व सर्पाकार वृत्तिमान भासता है परन्तु वास्तवमें जो रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य है वही वृत्त्यवच्छिन्न चेतन है, इस बोधके लिए वेदान्तकी अपेक्षा होती है।

भक्त लोग अन्तर्यामी रूपसे परमेश्वरको नित्य प्राप्त मानते है परन्तु विस्मृति और विमुखतासे अप्राप्त मानते हैं। अतएव वे स्मृति और सन्मुखतासे परमेश्वरका साक्षात्कार मानते हैं। कर्म-वादी चाहे वे वेदोंको माननेवाले परन्तु ईश्वरको न माननेवाले आस्तिक पूर्वमीमांसक हों या वेद और ईश्वर दोनोको न मानने-

।ले नास्तिक जैन हो, तो कर्मजन्य सुखमे और कर्मजन्य आवरण-. भटकते ही रहेंगे। उनका परमार्थ-सत्यके साथ कोई सम्बन्ध नही है। अन्ततोगत्वा उन्हे कर्म छोडना पडेगा और परमार्थ सत्यके साक्षात्कारके लिए वीतरागी होना पडेगा।

'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ है कि विना शास्त्र-उपदेशके स्वाभाविक सस्कारधारामे अज्ञाननिवारक ज्ञानका उदय नही होता।

ईश्वरकी अपेक्षा साधारण लोगोमे गुरुके प्रति प्रेम अधिक होता है। क्योकि ईश्वरसे जो प्रेम है वह शास्त्र-विधिसे प्राप्त है, उसमे सहज प्रेम नही होता, और गुरु प्रत्यक्ष होनके कारण उसमें सहज प्रीति हो जाती है। गुरुकी अपेक्षा माता-पितामे प्रेम अधिक होता है क्योंकि गुरुकी प्रीतिमे केवल शास्त्रका सविधान है और माता-पिताके प्रति प्रीतिमे शास्त्रविधि भी है और रक्त-सम्बन्ध भी है।

माता-पितासे अधिक प्रेम पत्नीमे होता है क्योकि शास्त्रविधि भी है और पत्नीसे अधिक प्रेम प्रेयसी या वेश्यामे होता है क्योकि वहाँ विधानकी गन्ध नही है। विधानके अधीन प्रेम करनेमे कठिनाई होती है। जहाँ इन्द्रियोकी सहज प्रवृत्ति होती है और विधानकी गन्ध भी नही होती वहाँ प्रेम सुगमतासे होता है। निष्कर्ष यह कि परमेश्वरमे मन लगाना अत्यन्त कठिन है। उसमे भी अद्वैत-बोधकी वृत्ति तो असम्भव ही है जबतक अद्वितीयता-बोधक, पूर्णता-बोधक वाक्योसे उद्बोधन न हो।

सृष्टिका स्वाभाविक प्रवाह हमको कहाँ ले जा रहा है, इसका ध्यान करो तो पाओगे कि वह हमे स्वच्छन्द इन्द्रिय-भोगमे, वासनाओंके विस्तारमे, अधर्मकी सीमाओ तक भी ले जा रहा है और परिणाम-स्वरूप दु:खमे, रोगमे, जड़तामे, परिच्छिन्नतामें,

भेदमें ले जा रहा है। धर्म मनुष्यको जो राग-द्वेषमूलक कर्त्तव्यता-भास है उससे रोकनेके लिए है। धर्म-शास्त्रसे ही प्राप्त होता है। उपासना वृत्तियोके परिष्कार और उन्नयनके लिए है। यह भी शास्त्रसे ही प्राप्त होती है।

समाधि-योग विक्षिप्त चित्तके समाधानपूर्वक जीवनमें वासना और कर्ममें समन्वय स्थापित करनेके लिए है। समाधिकी प्रेरणा भी शास्त्र और गुरुसे ही मिलती है। अपनी आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान सम्पूर्ण अनर्थोंकी समाप्ति और परमानन्दकी प्राप्ति तो कराती ही है वह और केवल वही एकमात्र परमार्थ सत्य भी है।

इस अद्वितीयताका बोध भी केवल शास्त्रैकगम्य है। जैसे धर्म बिना बताये किसीको मालूम नही पड़ सकता, जैसे ईश्वर और समाधि बिना बताये किसीको मालूम नही पड़ सकते, उसी प्रकार जो द्वैताभावसे उपलक्षित, विनाशाभावसे उपक्षित, परि-च्छेदाभावसे उपलक्षित, अन्याभावसे उपलक्षित, परिपूर्ण अवि-नाशो, सच्चिदानन्दघन अद्वैत वस्तु है उसका ज्ञान भी बिना शास्त्रके बताये मालूम नही पड़ सकते। इसलिए 'शास्त्रयोनि-त्वात्'।

शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तस्य भावः तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्।

जगत्का कारण ब्रह्म है यह भी शास्त्रसे ही ज्ञात होता है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०** यह श्रुति ब्रह्मको जगत्कारण बताती है। तो यह बात तो 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमे आ ही गयी। अब अलग सूत्रसे ब्रह्मको शास्त्रयोनि क्यों बताया? तो कहा कि स्पष्टीकरणके लिए।

जो कारण बोधक शास्त्र हैं वे तो परमात्माके प्रतिपादक है

ही। परन्तु समग्र सृष्टिके सम्पूर्ण शास्त्र हैं जो वेद, वे उसी परमेश्वरके पदका वर्णन करते हैं :

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति (कठ० १.२.१५)

इस श्रुतिके आधारपर 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रकी प्रवृत्ति हुई। श्रुतिमे जिज्ञासा है कि :

तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृहदा० ३.९.२६)

'हम उस औपनिषद पुरुषके बारेमे पूछते हैं।' दूसरी श्रुति उत्तर देती है :

नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्।

'जो वेदको नही जानता (अर्थात् जो वेदकी अर्थराशिको नहीं जानता) वह उस महान् पुरुषको नही समझ सकता।'

हमारा मार्ग संहित (क्रमबद्ध) है या किसी तीसमार खाँने सातवें आसमानमे निशाना लगाकर पैदा किया है ? इसकी कोई सम्प्रदाय-परम्परा है या नही ? परमार्थके मार्गपर चलनेवालोको इस बातपर ध्यान देना चाहिए।

अपने-अपने ज्ञानको अनन्त बतानेवालोका भी एक अनुशासन है। वह क्या ? यह कि 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'—सम्पूर्ण ज्ञानोका पर्यवसान उस एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वमे है।

जबतक समझनेवाली चीजको ब्रह्म मानोगे तबतक वह ब्रह्म नही हो सकती। क्योकि वह मुझसे अलग है और मैं उससे अलग हूँ। तब वह अद्वय कैसे हुई ? ब्रह्मको जबतक अलगरूपसे समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नही हुआ। जबतक कालमे ब्रह्म समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नही हुआ। जबतक देशमे ब्रह्म समझोगे तब-

तक ब्रह्मज्ञान नही हुआ। जबतक ब्रह्मको कोई प्रत्यक्ष-परोक्ष या अपरोक्ष वस्तु समझोगे तबतक ब्रह्मज्ञान नही हुआ। ब्रह्मज्ञानका भी एक क्रम है और वह क्रम है कि आत्मा ब्रह्म है। जब इस क्रमसे जानते हैं तो जानते हैं कि सम्पूर्ण प्रतीति, सम्पूर्ण दृश्य मुझ अनन्त-अद्वय अधिष्ठानमे भास रही है। सब मैं ही अन्यरूपसे प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्षरूपमें प्रतीत हो रहा हूँ। तब आत्मा अखण्ड ब्रह्म हो जाता है।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(महिम्नस्तोत्र ७)

'वेद, सांख्य, योग, पाशुपतमत (शैव), वैष्णव और जितने भी भिन्न-भिन्न प्रस्थान हैं—सब कहते हैं कि हम बड़े, हमारे मार्गमें चलनेका यह बड़ा सम्बल है। ये सब रुचि-भेदसे ठीक ही है, क्योकि जैसे टेढे-सीधे रास्तोसे बहनेवाली सब सरिताएँ समुद्रमें ही आकर पर्यवसित होती हैं वैसे ही सभी शास्त्र और सभी मतोंका पर्यवसान हे शम्भो! आपमें ही होता है।'

इस प्रकार 'शास्त्रयोनित्वात्'का अर्थ हुआ कि परमात्माको समझनेके लिए शास्त्रका सहारा लेकर पहिले परमात्माके ठीक स्वरूपको समझे तो अज्ञान-आवरण अपने-आप भङ्ग हो जाता है। और आप देखेंगे कि जो ब्रह्म यहाँ है और वहाँ भी है, अब भी है और तब भी है, मैं भी है और यह भी है, वह पहिचाननेके सिवाय किसी और प्रक्रियासे प्राप्त नही है। और वह प्रक्रिया केवल शास्त्रसे ही प्राप्त होती है। •

(३.१२)

ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रिया

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यत.। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

कही भी मनुष्य रहता है और जहाँ कही उसकी मति गति-रति है, उसके और ब्रह्मज्ञानके बीचमे जो कड़ी है उसको बतानेके लिए 'अथ' शब्दका प्रयोग है। मनुष्य अविवेक-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। रागमे, अशान्तिमे, इन्द्रियोकी विकलतामे, काम-धन्धेमे; अश्रद्धामे, चपलतामे, व्यग्रतामे आदमी अपना जीवन नष्ट कर रहा है और तारीफकी बात यह है कि जहाँ फँसा है वहाँ ऐसा फँसा है कि करवट बदलनेको मन नही करता। जब मनुष्य वर्तमानसे असन्तुष्ट होता है तब उसे लगता है कि सत्य कहीं और इससे आगे है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है।

असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय
(बृहदा० १.३.२८)

'हे प्रभु ! हम असत्यमें फँसे हैं । हमे असत्से उठाकर सत्का दर्शन कराओ । हम अन्धकारमें भटक रहे हैं, हमें ज्योतिका दर्शन कराओ ! हमें मृत्युसे छुड़ाओ और अमृतमें ले चलो !'

वेदान्त बताता है कि परम सत्य, परम ज्ञानस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप तुम्हारा आत्मा स्वयं है, तुम स्वयं हो वह सत्, चित् और आनन्द । बस; तुम उसे पहिचान नही रहे, इसीलिए तुम अनर्थमें फँसे हो । साधक सोचता है : यह कैसी लीला है प्रभु ! मै महान् हूँ परन्तु मै ही नही पहिचानता ! आखिर क्यों ? कही ऐसा तो नही कि मेरे कर्म या भावना या वासनामें कोई त्रुटि हो ?

वेदान्त बताता है कि किसी भी कर्म, भावना या स्थितिके द्वारा परमार्थ-सत्यकी प्राप्ति नही हो सकती । अपनी-अपनी जगह सब ठीक है, परन्तु उन सबके फल अनित्य हैं, उनसे किसीसे भी या सम्मिलित रूपसे भी नित्य-परमार्थकी प्राप्ति नही हो सकती ।

धर्मका फल इस लोकमें सुख और मरनेके बाद स्वर्ग-सुख होता है । यह सब कबतक ? जबतक पुण्य क्षीण नही होता : **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।** (गीता ९.२१) पुण्य क्षीण होने-पर पुनः मृत्युलोक ।

भावना विश्वासमूलक हो या आवृत्तिमूलक फल है भगवदाकारता । जबतक करते रहोगे बनी रहेगी । जब कर्तृत्व ढीला पड़ जायेगा या सुषुप्तिमें लीन हो जायेगा तो भगवदाकारता भी छूट जायेगी । हाँ अनन्त सत्यकी प्राप्तिके लिए विश्वास और भावना आधे रास्तेतक तो पहुँचाते ही हैं ।

स्थिति—कबतक रहेगी ? जहाँ बैठोगे वहाँ तुम्हारा सिंहासन या कमरा हो सकता है या तुम्हारे मालिकका कमरा हो सकता है परन्तु वहाँ तुम हमेशा बैठे नही रह सकते। यह स्थिति तो कालकी बच्ची है, वह कालाधिष्ठानका साक्षात्कार कैसे करायेगी। बुद्धने विज्ञानको कालसे बडा माना और जैनमे दिक्तत्त्वको विज्ञानात्मासे बडा माना।

वेदान्तका कहना है कि चाहे कुछ कर्मसे बनाओ, चाहे द्रव्यसे बनाओ, चाहे वृत्तिसे बनाओ और चाहे कही कभी तक बैठो, परन्तु कृतसे अकृत प्राप्त नही हो सकता। **नास्त्यकृतः कृतेन** (मुण्डक० १.२.१२)। जो तुम अपने कर्तापन, भोक्तापनसे बनाते हो वह वस्तु नित्य नही हो सकती।

क्योंकि किसी भी कृत्यके द्वारा नित्य वस्तु उत्पन्न नही की जा सकती, अतः परमात्मा साधन-साध्य नही है। ब्रह्म घटवत् सिद्धवस्तु है : **घटवत् सिद्धवस्तुत्वात्**। ब्रह्म तो एक ऐसी चीज है जैसे कि माटी है, धरती है, आग है, हवा है, आकाश है, दिक् है, काल है। इसलिए ब्रह्मको केवल मात्र जानना है।

श्री उड़िया बाबाजी महाराज कहते थे : मकान बनाया जाता है, घड़ा बनाया जाता है, परन्तु उसमे क्या माटीको भी बनाते हैं ?

इसी प्रकार परमार्थ वस्तु बनायी नही जाती, उसको तो बस जाना जाता है। यही ब्रह्म-जिज्ञासाका अर्थ है।

ये जो अलग-अलग परिच्छेद-सामान्य हैं, उनके अभावसे उपलक्षित तत्त्व ब्रह्म है। घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञानमे जो एक ज्ञान-सामान्य है; घटसत्ता, पट सत्ता, मठ सत्तामे जो एक सामान्य-सत्ता है; घटकी प्रियता, पटकी प्रियता, मठकी प्रियतामें

जो एक सामान्य प्रियता है, उन सामान्य सत्ता, सामान्य ज्ञान और सामान्य प्रियताओंका जो स्वयं प्रकाश आश्रय है, वही आत्मतत्त्व है, अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। आत्मा होनेसे वह नित्य प्राप्त है और नित्य प्राप्त वस्तुकी प्राप्तिमे बस; पहिचानने भरकी देर है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करो।

जब पूर्णको पहिचानना है तो एक तो जो दुनिया दिखायी पड़ रही है यह उस पूर्णमें क्या है इसका ज्ञान होना चाहिए। इसको बतानेके लिए तो कहा 'जन्माद्यस्य यतः'। और दूसरी बात यह ज्ञान होना चाहिए कि पूर्णको देखनेके लिए कौन-सा प्रकाश चाहिए। इसके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' कहा।

यदि तुम पूर्णको दुनियासे अलग आसमानमें कहीं ऊपर टँगी मान लोगे तो वह पूर्ण वस्तु अद्वय तो होगी ही नही, परोक्ष भी हो जायेगी। और यदि पूर्णको आँख, नाक, कान आदि प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय मान लोगे तो तुम उसकी पूर्णताको पहिचान नही सकोगे, अज्ञान शेष रह जायेगा।

वेदान्तकी प्रतिज्ञा है कि एक ब्रह्मको जाननेसे सर्वका ज्ञान हो जायेगा। इसलिए यह जगत् भी ब्रह्माभिन्न होना चाहिए। इसको बोधन करनेके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' कहा और उस पूर्णको जाननेके लिए प्रमाणका सूचक है 'शास्त्रयोनित्वात्'।

जैसी चीज होती है उसको देखनेके लिए प्रमाण भी वैसा ही होना चाहिए। यदि पुस्तकके अक्षर पढ़ते हैं तो किताब, रोशनी, पढ़नेवाला, आँख, मन ये सब चाहिए। परन्तु यह दीपकको ही देखना है तो उक्त चीजोंमे रोशनी अलगसे होना जरूरी नही है। यदि आँख देखनी हो तो मनसे ही देख सकते हैं। अच्छा; यदि मन देखना हो तो? उसके लिए किसी करणकी अपेक्षा नही है।

वह सीधा साक्षी-भास्य है। सुख-दुःखको जाननेके लिए मनकी जरूरत पडती है परन्तु सुषुप्तिके विश्रामको जाननेके लिए मनकी जरूरत नही होती। सुषुप्तिमे सारे प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार लुप्त हो जाते हैं परन्तु सुषुप्तिको हम साक्षात् देखते हैं। दूसरेको देखनेके लिए औजार चाहिए, परन्तु अपनी सुषुप्तिको देखनेके लिए कुछ नही चाहिए। हमने सपना देखा या नही, इसको हम किस यन्त्रसे जानते हैं? किसीसे नही। राग, द्वेप, स्वप्न, सुषुप्ति, सुख-दुःख सब साक्षी-भास्य हैं, स्वसंवेद्य हैं, अपने आपसे सीधे ही जाने जाते है।

सुषुप्तिके द्रष्टाको साक्षी इसीलिए कहते हैं क्योकि वह साक्षात् बिना करणके सुषुप्तिको देखता है।

साक्षी = साक्षात् पश्यति अर्थात् करणानि = इन्द्रियाणि विनैव पश्यति।

यह जो साक्षी है वह रहता जाग्रत्में भी है, परन्तु जाग्रत् अवस्थामें जब हम घडेको देखते हैं तब यह मनोवृत्तिके साथ एक हो जानेके कारण आभासके साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है। अर्थात् हम दुनियामें दो तरहसे चीजोको देखते हैं। एक अहम्से मिलकर और एक अहम्से छूटकर। घट, दीपक, आँख—ये अहम्से मिलकर देखे जाते हैं और सुषुप्ति अहम्से छूटकर देखी जाती है। जिस अहम्से मिलकर देखा जाता है, वह 'छोटा' अहम् है।

अच्छा लो, अब हमने छोटे अहम्से तादात्म्य हटा लिया। अब तो हम ब्रह्म हो गये न! बोले. ठीक है, जब छोटे अहम्से तादात्म्य नही है तो है तो वह बडा, परन्तु एक अविद्या उसके साथ जुडी है। यह ऐसी कि समाधि, मूर्च्छा, सुषुप्तिमें भी नही छोड़ती, साक्षी होकर बैठनेपर भी नही छोडती। वह अविद्या

बया है कि न तो आपने जाग्रत् अवस्थामें—साक्षी दशामे अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जाना और न तो सुषुप्ति दशामे। जैसे सोनेसे पहिले अपनेको चोर समझते थे—वैसे ही सुषुप्तिसे उठनेपर भी अपनेको चोर समझते हैं। तो सुषुप्तिमें भी वह अपनेको चोर समझना कही गया थोड़े ही, बस; दब गया वह। इसी प्रकार अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सम्बन्धी, संसारी, परिच्छिन्न जो कुछ भी समझते हैं वह जैसा सोनेसे या समाधिमें जानेसे पूर्व रहता है वैसे ही सुषुप्ति या समाधिके बाद रहता है और बीचमे दब भर जाता है। अतः अज्ञानको मिटानेका सामर्थ्य किसी स्थितिमें नही है चाहे वह सुषुप्ति हो या समाधि।

वेदान्त कहता है कि अज्ञानको मिटानेके लिए न वस्तु चाहिए, न भावना, न स्थिति। गलेमें मणि लटकानेसे या छाती-पर शालिग्राम या शिवलिंग लटकानेसे अज्ञान नही मिटेगा। सदाचार, दान, जप, होमसे अज्ञान नही मिटेगा। सत्य, अहिंसासे अज्ञान नही मिटेगा। किसी इष्टाकार-वृत्तिसे अज्ञान नही मिटेगा। उसमे तो बस; भावित्त-आकार वृत्तिमें बैठ जायेगा। अपने परि-च्छिन्न होनेका जो भ्रम तुम्हे जाग्रत्-अवस्थामें लगा हुआ है वह जब जाग्रत्-अवस्थामें टूटेगा तब वह टूटेगा। यह भ्रम सुषुप्तिमें नही लगा। उस समय तो यह अज्ञानरूप रहता है। स्वप्नमे भी नही लगा। यह भ्रम जाग्रत्में क्रियाशील रहता है। इसलिए इसे जाग्रत्में ही तोड़नेकी जरूरत है। यह आँख बन्द करके या खोलकर नही लगा, इसलिए यह आँख बन्द या खोलकर नही टूटेगा। यह भ्रम मनके विक्षिप्त होनेसे नही लगा, इसलिए यह शान्ति-समाधिसे नही टूटेगा। यह तो स्वरूपको न समझनेसे लगा है, इसलिए ज्ञानसे ही टूटेगा।

स्वरूपको न समझना एक व्यावहारिक भूल है। यह भ्रम

किसको लगा है? जिसको यह मालूम पडता है कि हमारे अन्दर कुछ भूल है, कुछ अज्ञान है, कुछ कमी है। 'द्रष्टा एक है या अनेक हैं, द्रष्टा साक्षी है या कर्ता है, ईश्वर जगत्से अलग है या जगत्मे ही है, ईश्वर 'मैं' ही है या दूसरा है, ईश्वरको जान लेनेसे मुक्ति होती है या कि नही होती है—ये सब अज्ञान आदमीको लगा है। जो समझदार है, वही उसको मिटाता है; आत्मा या ब्रह्म अज्ञानको नही मिटाता।

जाग्रत् अवस्थामे ही अज्ञानको मिटानेका उपाय बताता है वेदान्त। समाधिमे और सुषुप्तिमे व्यवहार नही होता। स्वप्नमें गुरु और शास्त्र नही मिलते। तब? "जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमे जो एक साक्षी है, चेतन, वह एक है और वह एक चेतन तुम हो, और वह जो तुम एक चेतन हो वही अखण्ड अद्वय ब्रह्म है।" इस प्रकार अज्ञानके विषय ब्रह्म और अज्ञानका आश्रय तुम साक्षी आत्माकी एकताके बीच अज्ञान पिस जाता है। अज्ञान मिटानेकी जाग्रत् अवस्थामे यह प्रक्रिया वेदान्त बताता है।

यह वेदान्त जाग्रत् अवस्थामे समझदार आदमीके लिए उसका भ्रम तोड़नेके लिए है और भ्रमको तोडकर उसे नित्य सुखी करनेके लिए है। यह आपको राज्य देकर सुखी करनेके लिए नही है, स्वर्गमे पहुँचाकर सुखी करनेके लिए नही है, वैकुण्ठमे या गुफामे या समाधिमे बन्द करके सुखी करनेके लिए नही है। इसी समय जो आपको दु खी होनेका भ्रम हो गया है, मरने जीनेका भ्रम हो गया है, पापी-पुण्यात्मा होनेका भ्रम हो गया है, लोक-परलोकमे आने-जानेका भ्रम हो गया है, जन्म-जन्मान्तरमे आने-जानेका भ्रम हो गया है, यह सब अपनेको परिच्छिन्न समझनेके कारण हुआ है। इस परिच्छिन्नताके भ्रमको

मिटानेके लिए जाग्रत् अवस्थामे ही जो ज्ञान या समझदारी अपेक्षित है, उसका नाम वेदान्त है।

आप यहीं श्रवण करते-करते यह समझें कि आपके साथ जो जीवत्व जुड़ा हुआ हैं—पापी-पुण्यात्मा समझना, बाबा-पोता-बाप समझना, सुखी-दुःखी समझना, नरक-स्वर्गमें आने-जानेवाला समझना, जन्म-जन्मान्तरमें आने-जानेवाला समझना, परिच्छिन्न समझना—यह भूल है। इसको इसी समय यहाँ बैठे-बैठे मिटा दीजिए। क्योंकि जब सुषुप्तिदशामें जहाँ ये सब जीवत्वके प्रत्यय प्रतीत नही होते, कालकी वृत्ति, देशकी वृत्तियोंसे रहित दशा, सुषुप्तिका साक्षी है, वही साक्षी स्वप्नमें भी वैसा ही है और जाग्रत्मे भी वैसा ही है और वह अखण्ड ब्रह्म है।

वेदान्त-ज्ञान बिलकुल उधार सौदा नही करता, कलके लिए कोई वायदा नहीं करता। आज लो, और यदि आज नही मिला तो कल फिर लेने आना। न तो पहिले तुमसे कोई कीमत लेते है और न उधार सौदा देनेका वायदा करते है। यह तो साक्षाद् अपरोक्ष वस्तु है। जिनको मजदूरी करनेकी आदत पड़ी है उनकी समझमे यह नकद सौदा नही आता। एक तो हैं पलायनवादी जो मानते हैं कि समाधिमें जाकर ब्रह्म मिलेगा, दूसरे हैं अन्यकी शरणमे जानेवाले। इनको समझमें भी यह नही आता।

कुछ लोगोंको भ्रम हो गया कि किसीने देशपर हमला कर दिया। एक भागा गुफाकी ओर, दूसरा राजाकी शरणमें भागा, तीसरा वही आँख बन्द करके बैठ गया, चौथा बचनेके लिए दान-दक्षिणा लुटाने लगा। किसी जानकारने बताया कि भले मानुषो, तुम लोगोंको आक्रमणका भ्रम हो गया है, कही कुछ आक्रमण नही है, मैं स्वयं देखकर आया हूँ!

साधनोकी भी यही गति है। यह तो बस ऐसा है कि—

मान मान बन्धनमें आयो

हमारे एक महात्मा थे। उन्होंने अद्वैत-कौस्तुभ नामका एक ग्रन्थ लिखा है संस्कृत भाषामे। उन्होने लिखा कि ज्ञान तो बड़ा सुगम है। ईश्वरकी कृपाका विलास तो देखो, यह जाग्रत् तुमको सुख दुःख देनेको नही आता। यह तो प्रतीतिका एक खेल है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तुम्हारे सामने आती हैं। यह तो जैसे अपने स्वरूपके पर्देपर अपने स्वरूपकी ही रोशनी नाना प्रकारके नाच नचाकर नाना दृश्य दिखा रही हो। और उसी दृश्यको अपना दुश्मन समझ करके नासमझीसे लगता है कि 'अरे मरे!' जैसे सिनेचित्रमे पर्देपर दागी हुई बन्दूककी गोली लगती है कि अपने ऊपर ही आयी। वह तो उस चित्रको देखनेवाले चश्मेका दोष है। इसी प्रकार न तो कही मल दुःख दे रहा है और न विक्षेप या आवरण।

सारे दुःखका कारण, सारी भ्रान्तिका कारण, जन्म-मृत्यु, लोक-परलोक, साधन-साध्यका कारण अपने स्वरूपकी नासमझी है और नासमझी कोई अभावरूप पदार्थ नही है कि यह समाधिमे हो, सुषुप्तिमे हो। यह तो बीज है। जबतक इसको तुम जाग्रत्मे नही काट देते, तभीतक वह सुषुप्ति-समाधिमे है। इसलिए अज्ञानको जाग्रत् अवस्थामे ही काटो।

वह कौन-सी चीज है जो अज्ञानको जाग्रत् अवस्थामे काट देती है? तो कहा **शास्त्रयोनित्वात्**। अर्थात् सत्यका वह शंसनात्मक ज्ञान (शासनात्मक नही) जो यथार्थ सत्यका निरूपण करता हो। यह कोई पुरोहितवाद या मौलवीवाद या पादरीवाद या ग्रन्थिवादका शास्त्र नही है जो कहे कि यह करो और यह न

करो। तुम जिस सम्प्रदायमें हो उसको मानो और वैसा करो। वेदान्त कोई धर्मशास्त्र नही है। वेदान्त और धर्मशास्त्र (सम्प्रदाय) का क्षेत्र अलग-अलग है। वेदान्त यह नही बताता कि तुम कितनी बार नहाओ या कितनी बार हाथ धोओ या क्या खाओ और क्या न खाओ। न वह यह बताता है कि मिट्टीसे घड़ा कैसे बनता है या सोनेमें जेवरके डिजाइन कैसे गढे जाते हैं। वेदान्त तो सृष्टिमे मूलतत्त्व क्या है इसको बताता है। यदि इसके बतानेपर तुम समझ गये कि मै कगन, घड़ा, हार नही हूँ, मैं तो सोना हूँ। मैं घडा, सकोरा, भोलुआ नही हूँ, मै तो माटी हूँ। मै तरंग, फेन, बुदबुद नही हूँ, मै तो जल हूँ। मै ज्वाला, चिनगारी, कोयला नही हूँ, मै तो अग्नि हूँ। मैं सुगन्ध, दुर्गन्धका झोंका नही हूँ, मैं तो वायु हूँ। घट, पट, मठसे अवच्छिन्न आकाश मैं नही हूँ, मै तो महाकाश हूँ। देह और अन्तःकरणकी अवस्थाओंसे अनवच्छिन्न अखण्ड ब्रह्मतत्त्व मै हूँ—यदि जाग्रत्-अवस्थामे ही गुरुके सामने बैठे-बैठे, गुरुके बोलते-बोलते तुम यह समझ गये तो वेदान्तका कहना है कि श्रवण-दशामे ही तुम्हारे जीवभावकी निवृत्ति हो जायेगी। क्योंकि जीवभाव केवल न समझनेके कारण है और जब तुम ब्रह्मको समझ जाओगे तो जीवभाव निवृत्त हो जायेगा।

वेदान्त तत्त्व बताता है और तत्त्वको बतानेवाला वेदान्त-शास्त्रके अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र नही है। शास्त्रयोनित्वात्। ●

(३. १३)

प्रमाण-प्रक्रिया-१

अब हम आपको थोडी प्रमाण-प्रक्रिया सुनायेंगे जो सिवाय वेदान्तके आत्माकी अपरोक्षतामे अन्यत्र स्वीकार नही की गयी है। कोई मतवादी यह स्वीकार नही करते कि आत्माकी-ब्रह्मताकी अपरोक्षता प्रमाणसे होती है। वे सब यह मानते हैं कि उसके लिए कुछ-न-कुछ करना पडता है; कुछ क्रिया, कुछ भावना कुछ योग करना पडता है।

कर्ममे विधान होता है कि 'यह करो, यह मत करो! उपासनामे परमात्माको परोक्षतया जानकर उसके भाव और अभ्यासमे लग जाना होता है। योगमे परमात्मा स्वयं प्राप्तव्य नही है वह योगमे सहायक मात्र है। वेदान्तकी प्रणाली इन सबोसे विलक्षण है।

वस्तुका अपरोक्ष तीन प्रकारसे होता है :—

(१) विषय इतना तीक्ष्ण हो कि वह स्वयं हमको आकर जगादे। उदाहरणके लिए हम शान्त बैठे हैं और कोई मैलेकी गाड़ी सामनेसे निकल जाय तो दुर्गन्ध इतनी तीक्ष्ण होती है कि वह स्वयं नाकमें आकर घुस जाती है। और दुर्गन्धका हमको अपरोक्ष हो जाता है। इसको कहते हैं **विषयोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान।**

मान लो कि हम सो रहे हैं और किसीने टार्चसे तेज रोशनी हमारी आँखोंपर डाली। तो वह प्रकाश हमारे नेत्रोमें घुसकर हमको जगा देता है और हमें प्रकाशका अपरोक्ष हो जाता है।

(२) **संविदैक्य प्रक्रियोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान**—सामने कोई वस्तु पड़ी है, वह सोना भी हो सकती है और पीतल भी। अब गौरसे देखेंगे तो चित्त द्वारा वह वस्तु ग्रहण कर ली जायेगी और वह हमारी सवेदनासे एक हो जायेगी। यह ज्ञान अपरोक्ष हो जायेगा कि वस्तु स्वर्ण है (या पीतल है)।

तो प्रमाणवृत्तिपर आरूढ़ चेतन प्रमेयसे तादात्म्यको प्राप्त हो जायेगा। असलमे घट और घटाकार वृत्ति दोनो एक ही ज्ञानसे प्रकाशित हो रहे हैं। वहाँ सविद्का ऐक्य है। अन्त करण है हमारे शरीरके भीतर। जब उसमे घट वस्तु बिलकुल ठीक-ठीक आ गयी तो जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है वही घटावच्छिन्न चेतन्य है। इसका अर्थ है कि वृत्ति द्वारा हमारी घटसे एकता हो गयी (यह हुई वृत्तिव्याप्ति) और 'अहं घटज्ञः' (मै घटको जानता हूँ या जाननेवाला हूँ) यह फलव्याप्तिरूप वृत्तिज्ञान हो गया। इस प्रकार अपरोक्षज्ञानकी यह संविदैक्य प्रक्रिया है।

विषयोत्पन्न-अपरोक्ष ज्ञान-प्रक्रियामे विषय स्वयं संविद्में प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है और सविदैक्य

प्रक्रियामे सविद् विषयमे प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्य, जड़ वस्तुके अपरोक्षमे यही दो नियम हैं।

(३) तीसरी चेतनके अपरोक्षकी प्रक्रिया है। इसको अज्ञान-हान प्रक्रिया कह सकते हैं।

चेतन नित्य अपरोक्ष है। वह परोक्ष तो कभी होता ही नही। मै नही हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नही होती; मै अज्ञानरूप हूँ या मै जडरूप हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नही होती। मै अप्रिय हूँ, यह भ्रान्ति कभी किसीको नही होती। मैं हूँ, मै जानता हूँ, मैं प्रियरूप हूँ—ऐसा अपना आत्मा तो स्वतःसिद्ध है, नित्य अपरोक्ष है। तब चेतनकी अपरोक्षताका क्या अर्थ है?

आत्मामे जो छोटी-छोटी चीजोंसे मिलकर अपनेको छोटा समझनेकी भ्रान्ति हो गयी है, अपने सत्-चित्-आनन्द-अद्वयरूपके विपरीत जो अपनेमे जन्म-मृत्यु, दुःख और परिच्छिन्नताका अध्यास हो गया है, उस अध्यासकी निवृत्ति चेतनकी अपरोक्षतामें अपेक्षित है।

आओ, एक आलम्बन लेते हैं—काशकुशावलम्बन। कोई कुयेंमे गिरा हो तो जैसे काश, कुशका आलम्बन लेकर ऊपर चढ़ते हैं वैसे ही।

भ्रान्ति भ्रान्ति है, यह बात हमको जाग्रत्-स्वप्नमे तो मालूम पड़ सकती है, परन्तु सुषुप्ति दशामे नही मालूम पडती। मैं आपको साफ-साफ बात बताता हूँ कि निरोध दशामे पुरुष-ख्याति नही होती। ख्याति तो एक वृत्ति है जो अविद्याको मिटाती है; वह न समाधिसे मिटती है, न निरोधसे। समाधि योगका साधन है और निरोध योगका फल है। निरोध-कालमे पुरुषका स्वस्वरूपा-वस्थान होता है और उत्थान-कालमे वृत्ति-सारूप्य। इसी प्रकार वह निरोधसे उत्थानमे, उत्थानसे निरोधमे लगा रहता है, परन्तु

'जैसे मै निरोध-कालमे निरोधावस्थाका द्रष्टा हूँ वैसे ही जाग्रत्-कालमें मै जाग्रत्का द्रष्टा हूँ' यह बोध उसे निरोध-कालमे नही हो सकता, निरोध-संस्कारसे सस्कृत चित्तमे होगा। योगदर्शनका यह निश्चित मत है कि पुरुष-ख्यातिके बिना कैवल्य नही होता।

चेतनके साक्षात्कारमे न तो विषयोत्पन्न सवेदन है और न संविदैक्यजन्य सवेदन है। तब? वहाँ अज्ञान-निवृत्ति ही इष्ट है और कुछ इष्ट नही है।

अनुमान आदि जितने प्रमाण हैं (प्रत्यक्षके अतिरिक्त) वे परोक्ष-ज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं। भले उनका प्रत्यक्ष पहिले-पहल दूसरे कालमे, दूसरे देशमे (रसोई घरमे), दूसरे कालमें और दूसरी उपाधिमें (लकड़ीमे या कोयलेमे) हुआ। इसलिए अब जगलमे-जो धूम-दर्शनसे अग्निका अनुभव हुआ उससे परोक्ष अग्निका ज्ञान ही सम्पन्न हुआ, अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न नही हुआ। प्रत्यक्षताके बिना अपरोक्ष साक्षात्कार नही हो सकता। परन्तु चेतन तो प्रत्यक्ष प्रमाणका भी विषय नही हो सकता, क्योकि न तो चेतन घड़ेके समान अन्य जड़रूप पदार्थ है और न तीव्रसवेदन रूप है। संविद्का प्रमाण-वृत्तिपर आरूढ होकर अन्य देशमे जाकर चेतनका अनुभव कर लेना भी शक्य नही हैं, क्योकि चेतन जब 'चला' तभी अज्ञानको स्वीकार करके चला। अतः अज्ञानका निवर्तक जो प्रमाण होगा उस प्रमाणसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होगी।

हमारे विवरणाचार्य कहते हैं—

> **विषयोत्पन्नतः संविदैक्याद् अज्ञानहानतः।**
> **स्वतः सिद्धे अतः शब्दात् अपरोक्षं प्रजायते॥**

तो भाई अज्ञान मिटना चाहिए। अब लोग प्रश्नोत्तर करते हैं, बड़े-बडे शास्त्रार्थ हैं इस विषयमे कि अज्ञान कब पैदा हुआ? कब

तक रहता है अज्ञान ? कहाँ रहता है अज्ञान ? किसको है अज्ञान ? किसके बारेमे है अज्ञान ? इन शास्त्रार्थोंका क्या सुनना ?

देखो 'कब माने होता है 'काल।' 'कहाँ' माने होता है 'देश।' 'किसके बारेमे' माने होता है विषय। 'किसको' माने होता है आश्रय। इसलिए हमारा प्रश्न मानो यह है कि अज्ञान किस कालमे होता है, किस देशमे होता है, किस विषयके बारेमे होता है, किस अभिमानीको होता है और स्वयं अज्ञान क्या है ?

जरा विचार करके देखो कि देश, काल, विषय और अभिमानी—ये सब अज्ञानपूर्वक होते हैं या अज्ञानसे पहिले होते है ? ये तो सब अज्ञानके बाद ही होते हैं। अर्थात् जब एक अनन्त अपरिच्छिन्न स्वयप्रकाश अधिष्ठानको नही जानते हैं तब उसमे पूर्वापररूप काल होता है, दैर्घ्यविस्ताररूप देश होता है, विषय-विषयीरूप आश्रय-विषयकी कल्पना होती है और उसमे अज्ञान है—यह कल्पना होती है। दूसरे शब्दोमे अनन्तका अज्ञान ही देश, काल, आश्रय, विषयके रूपमे प्रतीत होता है। अज्ञानमे रहकर ही अज्ञान है।

इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए चेतन-प्रकृतिक जो शब्द है उनकी आवश्यकता है। जैसे कोई खूब नीदमे सो रहा हो और किसीने उसे पुकारकर कहा: देवदत्त उठो। और वह सोता होता हुआ व्यक्ति उठ बैठा। तो प्रश्न यह हुआ कि सोते हुए व्यक्तिने शब्द सुना कैसे ? शब्द सुनकर वह जगा या पहिले वह जगा, फिर उसने शब्द सुना ? यदि जागता न होता तो शब्द सुनता कैसे ? और सुनता न होता तो जागता कैसे ? निद्राभंग और शब्द-श्रवणके बीच कुछ और है क्या ? इसका समाधान करते हैं कि शब्दमे अचिन्त्य शक्ति है। इसको शब्द-शक्ति कहते हैं :—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विदमत् सम्मोहहानतः।
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः॥

(सुरेश्वरवार्त्तिक)

अब देखो, अज्ञानकी निवृत्ति कैसे हो? यदि पहिले अज्ञान था और फिर निवृत्त हो गया तो कालकी कल्पना कहाँ छूटी? यदि बाहर ज्ञान था (ईश्वर रूप) और भीतर अज्ञान था (जीव-रूप) तो देशकी कल्पना कहाँ छूटी? यदि 'मैं अज्ञानी हूँ और मुझे ब्रह्मके विषयमे अज्ञान है' तो आश्रय-विषयकी कल्पना कहाँ छूटी? और यदि अज्ञानकी कोई वस्तु है—यह कल्पना है तो अज्ञानकी कल्पना तो कर ली। इसलिए पहिले जांच कर लो।

इसके बारेमे दो प्रकारसे हमारे वेदान्ती लोग प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि पहिले सुनो, सुनकर मनन करो और फिर निदिध्यासन करो। तब निदिध्यासनके संस्कारसे सस्कृत जो वृत्ति है वह आत्मा और ब्रह्मकी एकताका प्रत्यक्ष करायेगी। यह एक प्रकार है।

दूसरे जो विवरणाचार्य है उनका कहना है कि पहिले यज्ञादि-के द्वारा अशुभ प्रवृत्तिका (पापका) विधूनन करो और फिर शम-दमादि साधनसम्पत्तिको धारण करके जो कर्मका प्रवृत्ति-प्रतिबन्ध है उसको रोक दो और वेदान्त-वाक्योंका श्रवण करो। यदि तुम्हारे मनमें कोई सशय, विपर्यय नही है तो श्रवणमात्रसे ही आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान हो जायेगा। यदि कुछ संशय, विपर्यय हैं तो संशयके नाशके लिए मनन और विपर्ययके नाशके लिए निदिध्यासन भी आवश्यक है यह दूसरा प्रकार है।

आत्माका अपरोक्ष नही होता। वह तो पशु, पक्षी, मूर्ख मनुष्य और विद्वान् सभीको अपरोक्ष है ही। 'मै हूँ' यह सभीको अनुभव है और 'मै नही हूँ' यह किसीको कभी अनुभव नही हो

सकता। 'मै नही हूँ' यह भ्रान्तिका स्वरूप भी नही है। मैं कर्मसे सम्बन्धित होनेके कारण पापी-पुण्यात्मा हूँ, भोगसे सम्बन्धित होनेके कारण सुखी-दुःखी हूँ, देहादिसे सम्बन्धित होनेके कारण मैं पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमे पड़ा हुआ हूँ, लोक-लोकान्तर-से सम्बन्धित होनेके कारण मैं आता-जाता ससारी जीव हूँ और अन्नमयादि कोषोसे तादात्म्य-सम्बन्धी होनेके कारण मैं परिच्छिन्न हूँ—इन सबका कारण अज्ञान है और ये सब स्वय भ्रान्तियाँ हैं।

भ्रान्ति और अज्ञान, इन शब्दोका भेद समझना भी आवश्यक है। अज्ञान कारण है और भ्रान्ति कार्य है। भ्रान्ति बुद्धिका एक विपर्यास है, माने वस्तुके अन्यथा ग्रहणका नाम भ्रान्ति है। बुद्धिका उल्टा होना भ्रान्ति है और जिस सीधेको न जाननेके कारण बुद्धि उल्टी हुई उसको अज्ञान कहते हैं। आकाशके स्वरूपको न जानना अज्ञान है और उसे नीला समझना भ्रान्ति है। खुले बालोवाली भगवाँ रगकी साडी पहिननेवाली आकृतिको स्त्री न जानना अज्ञान है और उसको महात्मा समझना भ्रान्ति है। पीतलको न जानना अज्ञान है और उसे सोना समझना भ्रान्ति है।

सुषुप्तिकालमे उल्टी बुद्धि नही रहती; बुद्धि ही सो जाती है, परन्तु अज्ञान रहता है। यदि कहो कि भ्रान्तिका पृथक्-पृथक् बीज रहता है तो भ्रान्तिका बीज अविद्या रहती है सो तो ठीक है, परन्तु उसमे व्यक्ति और व्यष्ट्यनुभवकी पृथक्ता आवृत्त है, जैसे पृथ्वीके नीचे अनेक बीज ढँके पडे रहते हैं। समग्र सृष्टिमे जो बीज-सामान्य है, जहाँ भ्रान्तिवृत्ति उद्बुद्ध नही है, उस अनुद्बुद्ध भ्रान्तिमे जो ऐक्य है वह अविद्या है।

जाग्रत्मे अपनेको जीव समझते हैं और सुषुप्तिमे नही समझते हैं; इसका अर्थ है कि भ्रान्ति सुषुप्तिमे नही रहती परन्तु भ्रान्तिका कारण सुषुप्तिमे रहता है क्योकि (जाग्रत्मे) अपरिच्छिन्नताका

साक्षात्कार न होनेसे परिच्छिन्नताकी जो भ्रान्ति है, वह मिटती नहीं है। जबतक मैका अपरिच्छिन्नता-विषयक अज्ञान दूर नहीं होता तबतक अपनी परिच्छिन्नता-विषयक भ्रान्ति भी दूर नहीं होगी। इसलिए वेदान्त-प्रक्रिया आत्माको अपरिच्छिन्न ब्रह्म समझनेकी है।

अब ब्रह्मरूप जो विषय है वह जब तुम्हारी बुद्धिमे घुस आवेगा तब उसका साक्षात्कार होगा? या कि जब तुम्हारी बुद्धि ब्रह्म-रूप विषयमें घुस जायेगी तब उसका साक्षात्कार होगा? बचपनमें हमलोग ब्रह्मकी हँसी उड़ाते थे। हमलोग ३-४ जने बैठ जाते थे और गप्प हाँकते थे। इतने लोगोंको वेदान्त समझानेका काम हो नहीं; उस समय तो हम समझते थे कि जिसके हृदयमें विवेक, वैराग्य होता है, शमादि-सम्पत्ति होती है, वह स्वयं महापुरुषके पास जाता है और अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करता है। उस समय वेदान्तके वोट बढानेका तो ख्याल नहीं था। ब्रह्माकार-वृत्तिके विषयमे हमलोग कहते थे कि क्या वृत्तिकी थैली इतनी बडी है कि उसमें ब्रह्मको ठूँसा जा सके? वह तो बड़ी छोटी-सी चीज है। अथवा क्या वृत्ति कोई ऐसी कठोर नुकीली चीज है कि ठसाठस भरे ब्रह्मतत्त्वमें शूलकी तरह चुभ जायेगी? ऐसा भी नहीं है।

असलमें जो वृत्तिका साक्षी है, वृत्तियोके अभावका साक्षी है, वृत्तियोंकी शान्तिका साक्षी है, वृत्तिकी घटाकारता-पटाकारता (तदाकारता) का साक्षी है, जो दो वृत्तियोकी सन्धिका साक्षी है, वह साक्षी जो आत्मा है, जो ज्ञानमात्र अखण्ड संविद् है, उसको देश, काल, वस्तु स्पर्श नहीं कर सकते।

कहो कि अखण्डके स्वभावसे अखण्डका ज्ञान हो जायेगा तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अखण्ड किसीका विरोधी नहीं

होता। वह तो अज्ञानका भी प्रकाशक है, अतः अखण्ड विषयक अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मके स्वभावसे नही हो सकती। तव ? जिस दृष्टिसे अज्ञान है उसी दृष्टिसे अज्ञान-निवर्तक चूरा उसमे पडना चाहिए।

अज्ञानहानसे ब्रह्म स्वतः सिद्ध है। इसलिए हम यह नही कहते कि वेदान्त ब्रह्मको शब्दके समान ही विषय बनाता है, परन्तु हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म विषयक अज्ञानके साथ वेदान्तजन्य ज्ञान-का निवर्त्य-निवर्तक सम्बन्ध है। आत्मा ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध है ही परन्तु वह ज्ञान कौन सा है जो अज्ञानको निवृत्त करता है? शब्दने ज्यो ही वृत्तिमे ब्रह्मकी अपरोक्षताका ज्ञान डाला कि 'अरे भाई, तू जो यह अपरोक्ष-साक्षी है वह केवल एक अन्त.करण सामान्यका साक्षी है, वृत्तियोकी सन्धिका भी साक्षी है, उनके शावल्य, अभाव और शान्तिका तू भी साक्षी है; तू ब्रह्म है, और ये सब तेरे एक कल्पित अशमे कल्पित-सरीखे ही हैं। तू तो साक्षात् ब्रह्म है' आत्माकी ब्रह्म-विषयक भ्रान्ति दूर हो जाती है। ऐसा कैसे ? तो कहा कि यह शब्दकी शक्ति है।

अपरिच्छिन्न वस्तुमे कोई रूप नही है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण-का विषय नही है; कोई लिङ्ग नही है इसलिए उसमे अनुमान आदि अन्य प्रमाणोकी गम नही है :

रूपलिंगादिराहित्यात् नास्यमान्तरयोग्यता।

(ब्रह्मसूत्र १ १ ३ की वै. न्या. मा. १८)

रूप लिंगादि न होनेसे ब्रह्ममे प्रमाणकी योग्यता नही है। भला, जो प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीको प्रकाशित कर रहा है, वह किसी प्रमाणका विषय होगा ? बस, जैसे उसमे कल्पित अज्ञान है वैसे ही उसमे शब्दजन्य कल्पित अपरोक्षतासे कल्पित अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्म तो ज्योंका-त्यों ब्रह्म ही रहता है।

वेदान्तवाक्य-प्रमाणसे जन्य प्रमा (यथार्थ ज्ञान) उत्पन्न होती है और वह अयथार्थ ज्ञानको निवृत्त कर देती है। उसमे मनन-निदिध्यासन अग हैं तथा श्रवण अंगी है—यह विवरणकारका मत है; और श्रवण मनन अग है तथा निदिध्यासन अगी है—यह भामतीकारका मत है।

धर्मका फल या धर्म जनित फल ब्रह्मज्ञान नही है। वृत्तिको गाढ करनेका नाम भी ब्रह्मज्ञान नही है और वृत्तिसे असग साक्षी हो जानेका नाम भी ब्रह्मज्ञान नही है। क्योकि साक्षीकी ब्रह्म-रूपता (अपरिच्छिन्नता) के अज्ञानको मिटा करके परिच्छिन्नता-की भ्रान्तिको दूर कर देना—माने अज्ञान और भ्रान्ति दोनोको चौपट कर देना, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

विवेकख्यातिसे अपनी असंगता-विषयक, साक्षिता-विषयक, जो अज्ञान है वह दूर होता है। परन्तु तत्त्वज्ञान दो सत्य पदर्थोंको सहन नही करता। दो सत्य पदार्थोंका भेदक क्या होगा ? देश या काल ? दोनोंका एक अधिष्ठान होना चाहिए और वह स्वयं-प्रकाश सत्ता होनी चाहिए। दो वस्तुएँ एकमें एकको मालूम पड़ती हैं। वह एक क्या है ? द्रष्टा-दृश्यका द्वैत किसमे किसको ज्ञात हो रहा है ? उसको जो स्वय प्रकाश चेतन है, जिसमे सम्पूर्ण द्वैत प्रपच मिथ्या भासमान है। साख्यदृष्टिसे जो विवेक-ख्याति है वह वेदान्त नही है। योगदृष्टिसे जो सत्त्वन्यताख्याति (पुरुषा-न्यताख्याति) है, वह भी वेदान्त नही है। न जैन सिद्धान्तोक्त आत्म-विचार वेदान्त है।

पहिले सब सिद्धान्तोंको अलग-अलग जानो, फिर सबमें जो ऐक्य है उसको जानो और तब समन्वयको जानो कि कहाँ बैठकर उस ऐक्यका वर्णन कर रहे हैं।

यदि अज्ञानकी निवृत्ति नही होगी तो फिर भ्रान्ति हो

जायेगी। यदि रज्जुका अज्ञान नही हुआ तो सर्पभ्रान्तिके मिटनेपर मालाकी भ्रान्ति हो सकती है और मालाकी भ्रान्ति हटनेपर दण्ड या भूछिद्रकी भ्रान्ति हो सकती है। एक विकल्पके निषेध कर देनेसे दूसरे विकल्पकी पुनः सभावना है, परन्तु समस्त विकल्पोंके आधार रज्जुका ज्ञान नष्ट होनेपर फिर किसी मिथ्या विकल्पके लिए अवकाश नही है। वेदान्त मूल अज्ञानको नष्ट करता है।

वस्तुका प्रत्यक्ष होनेपर भी जो बौद्ध भ्रम होता है (वस्तुका अन्यथा प्रतीति रूप) उसका उदाहरण है रज्जु-सर्पका दृष्टान्त। और स्वप्न बौद्ध भ्रमका उदाहरण नही है, वह मानसिक विलासका दृष्टान्त है—प्रपञ्चको मानसिक विलास समझानेके लिए।

आप अपनेको कभी सगी और कभी असगी क्यो समझते हैं? कभी कर्ता और कभी अकर्ता क्यो समझते हैं? कभी सुखी और कभी दुःखी क्यो समझते है? कभी ससारी और कभी मुक्त क्यो समझते हैं? कभी परिछिन्न और कभी अपरिच्छिन्न क्यो समझते हैं? माने कभी आपके ऊपर एक भ्रम चढ बैठता है और कभी दूसरा, ऐसा क्यो? क्योकि सभी प्रकारकी परिच्छिन्नताओको काटनेवाला जो आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान है वह अभी उदय नही हुआ। किसी एक भ्रमका निषेध करनेसे भ्रममात्र निवृत्त नही होता।

प्रतीयमान सभी परिच्छेदोके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वय चेतन वस्तु है उसे ब्रह्म बोलते हैं। इसको जाननेका फल यह है कि जो-जहाँ-जैसे है, वह-वहाँ वैसे ही ठीक है। किसीसे न राग करनेकी जरूरत है और न द्वेष करनेकी जरूरत है। परिवर्तनकी वासना ही मिट गयी। जैसा ब्रह्म दीख रहा है वैसा दीखता हुआ ही वह ब्रह्म है। नेतागिरीकी

वासना तत्त्वज्ञानीको स्पर्श नही करती। हमारे जो आदर्श महात्मागण हुए हैं—श्री ब्रह्मप्रकाशजी महाराज, श्री तपोवन जी महाराज, श्री उडियाबाबा जी महाराज, मोकलपुरके बाबा—ये सब मस्ताने लोग थे; न उनमे नेतागिरोका शौक था और न चेला बढ़ानेकी वासना।

वासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहाँ होती है? जहाँ अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम टूटता है और अपनी परिच्छिन्नताके भ्रमके टूटनेके साथ ही सबकी परिच्छिन्नताका भ्रम भी टूट जाता है। श्री गौड़पादाचार्य जी महाराजने कहा :

> **अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।**
> **योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः॥** (३.३९)

दुनियादारीमें फँसे लोगोंके लिए यह अस्पर्श-योग है। तुम्हारा मन इसे नही छूता, तुम्हारी इन्द्रियाँ इसे नही छूती। यह कैसे अस्पर्श-योग है कि हम कपड़ा पहिनते हैं परन्तु धागेको नही छूते; भोजन करते हैं, परन्तु कणको नही छूते, बोलते हैं परन्तु शब्दको नही छूते। यह अस्पर्शयोग योगियोके लिए दुःस्पर्श्य है, क्योकि वे तो देशमे मनकी धारणा करते है, कालमे ध्यान लगाते है और विषय-में समाधि लगाते हैं। वे तो डरते हैं कि इस वेदान्तको सुनकर वे उच्छृङ्खल हो जायेंगे।

परन्तु बादल तो बरसता है, चाहे मालीकी बगिया फूले या कुम्हारका घड़ा फूटे। आप लोग सब वेदान्ती बन जाँय, ऐसी वासना तो है नही। आप लोगोको यदि वेदान्त सुननेसे डर लगता हो कि हमारा कुछ छूट जायेगा अथवा हम उच्छृङ्खल हो जायेंगे तो अपनेको सभालो; और यदि डर नही लगता तो जो हम सुनाते हैं उसका मजा लो। •

(३. १४)

प्रमाण-प्रक्रिया-२

यदि विषय हमारी इन्द्रियोमे आकर घुस जाय तो उसे जानना पडता है। और यदि इन्द्रियोको किसी विषयके ज्ञानमे प्रवृत्त करें तो भी विषयका ज्ञान संविदैक्य-प्रक्रियासे होता है। परन्तु चेतन-को अथवा आत्मा या ब्रह्मको जाननेका तरीका इनमे-से कोई नही होता। क्योकि प्रमाण-प्रमेयका जो व्यवहार है वह दूसरी वस्तुके ज्ञानके लिए होता है, स्वके ज्ञानके लिए नही। इसीसे जब शास्त्रोमे ब्रह्मका वर्णन आता है तो उसे 'अप्रमेयम्' कहते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यात् ॥

(केन १.३)

वहाँ-वाणी-मन बुद्धिकी पहुँच नही है अर्थात् वहाँ प्रत्यक्ष अनुमा-नादि प्रमाणोकी पहुँच नही है। यही नही; श्रुतिने यह भी कह दिया कि—

यद्वाचाऽनभ्युदित येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन १.५)

यत् इति उपाते लोकः तद् इदम् ब्रह्म न भवति—अर्थात् दुनियादार लोग 'यह' करके जिसकी उपासना करते है उसका नाम ब्रह्म नही है। उपास्यत्वेन जिसकी तुम उपासना करते हो भले वह उपास्य निर्गुण हो या सगुण वह ब्रह्म नही है। जो उपासना वृत्तिका विषय है वह ब्रह्म नही है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन १.६)

'जो मनका विषय नही होता, मन जिसका विषय है, उसीको तुम ब्रह्म जानो।' श्रीशङ्कराचार्यने यहाँ भाष्यमें कहा कि **तदेव ब्रह्म त्वं आत्मानम् विद्धि**। अर्थात् वही ब्रह्म है उस ब्रह्मको तुम अपनी आत्मा जानो। जिसकी तुम इद-रूपसे उपासना करते हो वह ब्रह्म नही है।

अब हमसे तो तुम नाराज भी हो जाओ, वेदसे क्या लड़ाई करोगे?

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन २.३)

'जिसके लिए ब्रह्म अमत है अर्थात् मतिका विषय नही है, मतिका कर्म नहीं है, उसने ब्रह्मको जान लिया और जिसने ब्रह्मको अपनी मतिके पेटमें घुसेड़कर बैठा लिया उसने ब्रह्मको नही जाना।'

अविज्ञात विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (केन २.३)

जब यहाँ तक बात कही गयी कि 'जिसने दावा किया कि मैंने ब्रह्मको जान लिया उसने ब्रह्मको नही जाना और जो इसका दावा नही करते वे खुद ही ब्रह्म हैं' तो ब्रह्मको जाननेकी जो रीति है उसको जानना चाहिए।

कैसे जानें उसको? तो कहा: शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रसे ही उसको समझेंगे।

वेदने कहा: **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**। (कठ० १.२.१५)

सब वेद उसी ब्रह्म पदका निरूपण करते हैं। तो कोई तरीका होगा निरूपणका। इन्द्रियोकी पकडमे न आवे, मनमे न आवे, बुद्धिमे न आवे, 'मैं ब्रह्मको जान गया' यह अनुभव भी किसीको न हो, और फिर भी वेद उसका निरूपण करें, तो वर्णन करनेका कोई तरीका तो होना ही चाहिए। विना प्रक्रियाके उसका कोई वर्णन कैसे करेगा ?

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वेताश्व० ३ ८)

तं विदित्वा = उसको जानकर। अर्थात् ब्रह्म जाना अवश्य जाता है। तो कोई न कोई प्रक्रिया अवश्य है उसको जाननेकी। तमेव विदित्वा एव मृत्युम् अत्येति = उसको ही जानकर और केवल जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। इससे ज्ञानसे अतिरिक्त सब मार्गोंका स्पष्ट निषेध कर दिया। नान्यः पंथः विद्यतेऽयनाय। (श्वेताश्व० ३.८) यह दूसरी श्रुति है कि दूसरा कोई रास्ता ही नही है।

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डक० ३.२.९)

ऋते ज्ञानान्नमुक्ति। यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते (गीता १३ १३)

इत्यादि श्रुतियाँ-स्मृतियाँ यही कहती है कि ब्रह्म जाना जाता है।

एक ओर तो कहते है कि ब्रह्म वाणी, मन, बुद्धिसे जाना नही जाता अर्थात् एक ओर तो ब्रह्मज्ञानमे प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणोका निषेध करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि ब्रह्म जाना जाता है। इसका अर्थ है कि ब्रह्मके विषयमे केवल शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रयोनित्वात्।

गीतामे इस शास्त्रयोनित्वात् सूत्रको यो कहा है :—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(गीता १५.१५)

ईश्वर कहाँ रहता है ? तो कहा : 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'। सबके हृदयमे मैं सन्निविष्ट हूँ। पहिले हृदय बना और फिर उसमें ईश्वरने प्रवेश किया—ऐसा नही। पहिले घड़ा बना और फिर उसमे मिट्टीने प्रवेश किया—ऐसा सुना है आपने ? हृदयके निर्माणके पूर्व, हृदयके निर्माण हो जानेपर और हृदयके भंग हो जानेपर मैं सन्निविष्ट ही हूँ क्योकि उपादान तत्त्व हूँ। अतः 'हृदि सन्निविष्ट' से अपनेको चेतन बताया।

चेतन परिणामी नही होता, विवर्ती होता है। अन्यथा परिणामको जानेगा कौन ? परिणामका साक्षी परिणामी नही होता। यह कूटस्थ चिदात्मा ज्यो-का-त्यो रहकर साक्षी होता है। दूसरे, तुम्हारे हृदयमे एक चेतन है या दो ?

एक एव प्रत्यगात्मा भवति न द्वौ प्रत्यगात्मानौ भवतः।

अन्तरात्मा एक ही होता है, दो नही होता। दो होगे तो उनमे भी एक बाहर और एक भीतर हो जायेगा। उनमे जो आन्तर होगा वही द्रष्टा होगा और जो बाहर होगा वह दृश्य होगा। द्रष्टा ही असली चेतन होगा, दृश्य नही। जो अन्तरात्मा द्रष्टा होगा वही प्रत्यगात्मा होगा। इसलिए प्रत्यगात्मा केवल एक होता है। हृदयमे दो चेतन नही होते।

हृदयमे सन्निविष्ट परमेश्वर (चेतन) क्या करता है ? तो कहा—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहन च।' स्मृति-विकासरूप स्वप्न, ज्ञान-विकासरूप जाग्रत् और दोनोके अपोहन अर्थात् निषेधरूप सुषुप्ति—ये तीनो जिससे होते है, वह है परमात्माका अहम्। जितने शरीर-धारी हैं उनके अहंके रूपमे मैं ही फुर रहा हूँ। हृदय नही था तब भी मै था, जब हृदय नही रहेगा तब मै रहूँगा और अब जब हृदय है तब ? तब तो मै हूँ ही, मुझसे ही यह स्मृति, ज्ञान और अपोहन हो रहा है। **मत्तः प्रत्यगभिन्नाच् चैतन्यात्**। प्रत्यक् चैतन्यात्

भिन्न जो मैं हूँ और मुझसे भिन्न जो प्रत्यगात्मा है उसीसे प्रत्येक शरीरमें ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति होती हैं। जो अहम्-अहम् बोल रहा है वही 'मत्त' है। **मत् इति मत्तः**—जो 'मत्'का अर्थ है वही 'मत्तः'का अर्थ है। पचमी विभक्तिमे 'मत्' रूप वनता है।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गीता १५.१५)। सव वेदोके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ।' इसमे जो 'एव' है उसका अन्वय सवके साथ होगा। पहिले 'एव' को 'सर्वै' के साथ लगाओ :

सर्वैरेव वेदैः न तु खण्डितैः मन्त्राणात्मकैव वा ब्राह्मणात्मकैव वा आरण्यात्मकैव वा न वेद्य. किन्तु सर्वैरेव खण्डैर्वेद्यः।

वेदके एक भागसे नही, सारे वेदोंसे—मन्त्र-भागसे, ब्राह्मण-भागसे, आरण्यकोसे या उपनिषदोसे, मैं ही जाना जाता हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण वेदोका तात्पर्य परमात्मा है, सभी वेद परमात्मामे प्रमाण हैं (वेदका कोई हिस्सा छोडना नही) **शास्त्रयोनित्वात्।**

वेदैरेव अहं वेद्यः नान्यैः प्रमाणैः इत्यर्थः।

वेदके द्वारा ही मै जाना जाता हूँ, वेदातिरिक्त अन्य प्रमाण पर-मात्मामे नही है।

अहमेव वेद्य.। सव वेदोके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ, कोई अन्य नही। अर्थात् मेरे सिवाय अन्य कोई तात्पर्य नही है।

वेद्य एव। मुझे जानना हो जानना है वावू ! अगर विना जाने मर गये तो दुर्गति होगी।

पदका अर्थ तो लोक-व्यवहारसे चल सकता है, परन्तु वाक्यके अर्थके लिए सत्सम्प्रदाय चाहिए। खास करके जहाँ अप्रमेय वस्तु-का निरूपण करना हो। उपर्युक्त अर्थ जो मैने किया वह सत्सम्प्र-दायकी रीतिसे है। व्याकरणकी रीतिसे भी यह ठीक है : **सर्वं वाक्यं सावधारणम्।** वाक्यमे सर्वत्र अवधारण जोड़ा जाता

है; एक जगह यदि अवधारण हो तो वह एक ही जगह नहीं रहता।

तो यह हुआ कि सब वेदोंसे मैं ही जान जाता हूँ और जानने योग्य हूँ। प्रश्न हुआ कि वेद कहाँसे आये? उन्हे ईश्वरकर्तृक मानते हो या स्वतःसिद्ध मानते हो? तो जैसे सारे सृष्टिको ईश्वर बनाता है पूर्वकल्पकी सृष्टिके समान, उसी प्रकार ईश्वर वेद भी बनाता है पूर्वकल्पकी आनुपूर्वीके समान। इसी अर्थमे भगवान्‌ने कहा—**वेदान्तकृत्** अर्थात् मै ही वेदोंका बनानेवाला हूँ। यदि कहो कि वेद तो अपौरुषेय है, वे सदा रहते हैं, तो मै ही उन वेदोका सच्चा ज्ञाता हूँ: **वेदविद् एव चाहम्।** और मै ही वह चीज हूँ जहाँ वेदके अन्तिम सिद्धान्तका साक्षात्कार होता है। **शास्त्रयोनित्वात्।**

परमात्माका साक्षात्कार कैसे होता है?

> **वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।**
> **फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्॥**
> **ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।**
> **स्वयं स्फुरणारूपत्वात् नाभास उपयुज्यते॥**

ब्रह्मज्ञानकी रीति जाननी चाहिए। 'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो। देखिये तो तब जब देखिबेकी रीति जानो।'

मै एक सेठके घर गया। वहाँ एक हीरोंका जौहरी हीरा दिखाने आया था। साथमें मशीन भी लाया था जिससे हीरे देखे जाते हैं। मैंने भी उन हीरोको मशीनसे देखा। मगर हमे उसमें कोई विशेषता दिखायी ही नही पड़ी। असलमे हमे हीरोंको देखनेकी रीति ही नही आती थी। ऊपरसे हमारे मनमे बचपनसे ही यह ख्याल रहा है कि हीरा बिलकुल बेकार चीज है—न खानेके काम आवे न पहिननेके। केवल अपना बड़प्पन दिखानेके काम

आता है। फिर इसमे असली-नकलीकी पहिचान बड़ी मुश्किल। अमीर आदमी नकली हीरा पहिन ले तो असली समझा जाय और गरीब आदमी यदि असली भी पहिन ले तो नकली समझा जाय।

तो यदि मैं विशेषताकी ट्रेनिंग लेकर देखता तब तो मुझे कुछ विशेषता उन हीरोंमें दीखती। किसीके पास गया नहीं, सिर झुकाया नहीं, फिर कहाँसे हीरेकी पहिचान लेंगे ? ब्रह्मकी पहिचाननेकी भी रीति जाननी पड़ती है, अपनी अक्कलसे नहीं आती।

घड़ेको देखना हो तो नेत्र भी चाहिए और प्रकाश भी। प्रकाशकी सहायतामे घटका अँधेरा मिटा और चक्षुर्वृत्ति घड़ेमें व्याप्त हुई। यह 'वृत्ति व्याप्ति' हुई : तदनन्तर ज्ञानका एक अभिमान उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैंने घटको जान लिया।' इसको फलव्याप्ति' कहते हैं। विषयज्ञानमें वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिपूर्वक ही ज्ञान होता है। अब यदि दीपकको ही जानना हो तो वृत्तिव्याप्तिके लिए अलगसे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होगी।

जब हम घड़ेको जानते हैं तो उस समय क्या होता है कि जो ज्ञेयावच्छिन्न (घटावच्छिन्न) चैतन्य है वह ज्ञातासे अवच्छिन्न चैतन्यके साथ एक हो जाता है (संविदैक्य)। यह बात आप लोगोंने वेदान्तियोंसे सुनी तो होगी। परन्तु चिन्तन-मनन नहीं किया होगा, क्योंकि आप लोगोंको फुर्सत ही कहाँ है ? मनन-चिन्तन भी तभी होता है जब दूसरे कामोंसे वैराग्य होता है। हम यह जान जाते हैं कि अमुक आदमी ईश्वरका भजन, चिन्तन, मनन करता है या नहीं। जो रागद्वेषमे डूबा हुआ है और जो दूसरोंके हृदयमे राग-द्वेष डाल रहा है, वह ईश्वरका चिन्तन क्या करेगा ? जो व्यक्ति राग-द्वेषसे रहित है और एकान्तमे बैठकर चिन्तन करता है उसको यह मालूम पड़ता है कि ज्ञानकी रीति क्या होती है।

आपका हृदय जबतक घटाकार नही होगा तबतक आप घड़ेको नहीं जान सकते हैं। असलमें, अन्तःकरणका घटाकार होना ही घटको जानना है। एक बार हमने स्वामी योगानन्दजी महाराजसे पूछा : 'महाराज, ब्रह्मज्ञान क्या होता है?' बोले : 'ब्रह्माकार-वृत्तिका नाम ब्रह्मज्ञान है।' फिर मैंने पूछा कि ब्रह्माकार-वृत्ति क्या होती है, तो बोले : ब्रह्मज्ञान (ब्रह्माकार-वृत्ति है)। इसी प्रकार घटाकार-वृत्तिका नाम घट-ज्ञान है और घटज्ञानका ही नाम घटाकार-वृत्ति है।

अन्तःकरणमें घटाकार-वृत्ति हुए बिना क्या आप घटको जान सकते हैं? तो फिर जब आपका अन्त.करण धनाकार है, स्त्री-आकार है, क्रोधाकार है, मोहाकार है, तो आपमें ब्रह्माकार तो आया ही नही। फिर आप ब्रह्मको कैसे जानेंगे?

बाहर घडा देख लिया, भीतर घड़ेका आकार आ गया। अब भीतर घड़ा दीख रहा है। अन्तःकरण घटाकार हो रहा है। अब देखो, घड़ेकी शक्लमें जो चैतन्य है और देखनेवालेका जो चैतन्य है, वे दोनों एक हैं या दो? असलमे चेतन आप हैं एक।

अच्छा; मान लो कि आपके हृदयमें एक देवता दीख रहा है। बाहर नही, भीतर। बाहर तो उसका फोटो दीखता है। आपने देवताका वर्णन सुना है उससे देवताकार-वृत्ति हुई। अब उस देवताका चैतन्य और आपका चैतन्य दोनों दो हैं या एक? वे तो बिलकुल एक हैं।

और देखो! रस्सीमे तो साँपका नाम नही है। सर्पाकार-वृत्ति आपके अन्तःकरणमें है। अब आपके अन्तःकरणमें जो सर्पाकार-वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य है वह और आपका चैतन्य दो हैं या एक? वे बिलकुल एक हैं। सर्पमे जो चैतन्य है वह कल्पित हैं और वृत्तिमे जो चैतन्य है, वह द्रष्टा है। असलमे दोनो चैतन्य एक हैं।

जाग्रत् और स्वप्नमे कुछ चीजें वाहर मालूम पड़ती हैं और कुछ भीतर। परन्तु जो वाहर मालूम पडती है वह दिलमे ही वाहर मालूम पडती है, वह वाहर हो या न हो। इस सम्वन्वमे वौद्धोमे दो मत हैं : एक कहता है कि वाहर है, तव वाहर मालूम पडता है। दूसरा कहता है कि वाहर नही है, फिर भी भीतर ही वाहर मालूम पडता है। वेदान्तियोमे भी त्रिसत्तावादी मानते है कि वाहर भी है और भीतर भी है। दृष्टि-सृष्टिवादी वाहर नही मानते है, भीतर ही मानते हैं।

यह जो वाहर-भीतर मालूम पडता है, जो आज-कल-परसों मालूम पड़ता है, जो घट पट-मठ मालूम पडता है, वह तुम्हारी वृत्तिमे ही मालूम पडता है, वह तुम्हारी वृत्तिमे ही मालूम पड़ता है न। तो वृत्तिमे प्रतीयमान वाहर-भीतर (अर्थात् दिक् तत्त्व), पहिले-पीछे माने काल तत्त्व और घट-पट अर्थात् द्रव्य तत्त्व—ये सव कहाँ मालूम पडते हैं? वृत्तिमे। इसलिए तदवच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) जो वाहर मालूम पडता है वह वाहर नही है, प्रत्यक् चैतन्य अनन्त आत्मासे अभिन्न है।

अव इस वातको यही छोड़कर दर्शनकी प्रक्रिया समझाते हैं।

एक वस्तु होती है आभासभास्य और एक वस्तु है साक्षी-भास्य'। जहाँ हम इन्द्रियोसे किसी वस्तुको देख करके 'मैं इस वस्तुको जानता हूँ' ऐसा अभिमान वनाते हैं, उस वस्तुको आभास-भास्य वोलते हैं। दूसरे शव्दोमे, छोटे अहसे जो चीज दिखती है (जहाँ छोटा अह भी होता है और इद भी होता है) वहाँ उस चीजको (इदको) भास्य वोलते हैं और अहको आभास वोलते हैं 'अय घट' (यह घट है) इसका नाम है वृत्तिव्याप्ति और 'अहं घट जानामि' (मैं घटको जानता हूं) इसका नाम है फलव्याप्ति। आँखने घड़ेको देख लिया (अय घट') यह हुई वृत्तिव्याप्ति, और

उस ज्ञानको अपने साथ जोड़ लिया कि मै घटको जानता हूँ (अहं घटं जानामि) इसका नाम हुआ फलव्याप्ति। वृत्तिव्याप्ति होनेके बाद फलव्याप्ति हो जाती है; दुनियामें यह नियम है कि देखकर उसके अभिमानी हो जाते है। जानना और जाननेका अभिमान, ये दो बाते हैं। मै अणुशक्तिको जानता हूँ, मै इतनो पोथियोंको जानता हूँ, इत्यादि।

अब ब्रह्मज्ञानमे क्या होता है? पहिले यह बताओ कि ब्रह्ममें अज्ञान है या नही? यदि तुम ब्रह्ममे अज्ञान स्वीकार नही करते तो असलमे गुरुके पास जानेकी कोई जरूरत नही है और उपदेश-की भी कोई जरूरत नही है। यदि तुम्हे स्वानुभव-सिद्ध अज्ञान है कि अनन्त ब्रह्म क्या है, अद्वय ब्रह्म क्या है, अपना आत्मा ब्रह्म है या कुछ और है, आत्मामे सचमुच बन्धन लग गया है कि यह भ्रम है; यदि तुम्हे यह अज्ञान सताता हो तो जाओ किसी जान-कारके पास। क्या बतायें आपको, ईश्वरने कुछ ऐसी औषधि खिला दी है सबको कि रोग होनेपर भी रोगका पता नही चलता।

अज्ञानकी प्रतीति हो रही है तो उसको मिटानेका उपाय भी होगा। क्योंकि अज्ञानकी प्रतीति हो रही है इसलिए तुम अज्ञानी नही हो, अज्ञानीपनेकी कल्पना हो रही है। इस कल्पनाको मिटानेके लिए एक दूसरी कल्पना चाहिए। वह कल्पना कहाँसे आवेगी? वह कोई मिट्टी, पानी, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दसे नही आवेगी, वह वाक्य-प्रमाणसे आवेगी। ब्रह्ममे शब्द प्रमाण नही होता, वाक्य प्रमाण होता है।

एक दिन हमारे गुरुजीने हमसे कहा : 'अरे सन्तनु गिलसवा!'
मैने कहा—'हाँ गुरुजी, क्या करूँ? गिलासको मांजूँ कि धोऊँ, कि गिलासमे पानी लाऊँ, क्या करूँ? तो कोई वाक्य होना

चाहिए, तब अर्थका बोध होगा। हम लोग केवल शब्द प्रमाण-वादी नही हैं, वाक्य प्रमाणवादी है। तत्, त्वम्, असि शब्द हैं। इनका अलग-अलग अर्थ हैं। परन्तु आत्माकी ब्रह्मता किसी एक शब्दसे सूचित नही होती। परन्तु 'तत्त्वमसि' इन शब्दोंसे बना वाक्य है और वह यह सूचित करता है कि जो तुम हो वही अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

यदि ब्रह्मको नही जानते तो ब्रह्मकी वृत्ति-व्याप्ति होनी चाहिए जैसे तुम्हारे अन्तःकरणने घटको देख लिया ऐसे ही एक झलक ब्रह्मकी वृत्तिमे आ जाय। कैसे? प्रत्यक्षसे या अनुमानसे या शब्दसे नही। इसके लिए वाक्य चाहिए। कौन-सा वाक्य? तो कहा—'शास्त्रयोनित्वात्।'

शास्त्रवाक्य भी दो प्रकारके हैं। एक निषेधवाक्य और एक विधिवाक्य। नेति-नेति=यह नही, यह नही। यह निषेध वचन है। 'इति' पदका क्या अर्थ है? सुनोगे तो भडक जाओगे। जो कभी भी इदं-पदके रूपमे अनुभव किया जा सकता है उसका नाम है—इति। धर्म, अधर्म, कार्य, कारण, उपासना, अपासना, जीव, ईश्वर, जगत्, भेदमात्र सब 'इति' हैं। सम्पूर्ण शास्त्रो और शास्त्रवाक्योकी संगति इसी कारण वैध है क्योकि वे या तो इति पदकी व्याख्या करते हैं या इतिके निषेधकी। जो 'इदम्' है सो ब्रह्म नही है।

अच्छा लो, 'इदम्' छोड़ दिया। अब 'अहम्'को छोडें या नही? 'अहम्'मे भी जितना छोड़ा जा सके, उतना छोड दो। जो बच जाय उसमे भी जितना छोटापन है उसे छोड़ दो—जैसे कि यह धारणा कि वन अन्तरदेशमे रहता है (देश-परिच्छिन्नता); अथवा यह धारणा कि वह विश्व, तैजस प्राज्ञके रूपमे रहता है (काल-

परिच्छिन्नता)। जडांशके सहित जो 'अहम्' है उसमें-से अन्त-र्बहिर्देश, जाग्रत् आदिकाल, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूप-काल, इन सबको निकाल दो। केवल चेतन रहने दो—यही 'अहम्' पदका मुख्यार्थ है, कूटस्थ-साक्षी। परन्तु अभी ब्रह्मज्ञान नही हुआ।

अब गुरुजीने कहा, शास्त्रने कहा: **तत्त्वमसि** (यही कूटस्थ साक्षी जो 'अहम्' पदका मुख्यार्थ है, अपरिच्छिन्न ब्रह्म है जो सम्पूर्ण देश-काल-द्रव्यका अधिष्ठान है) और तुम्हारी वृत्ति इसके अर्थके आकारमे ढल जाय: अह **ब्रह्मास्मि**। सम्पूर्ण इदमंशको छोड़कर जो 'अहम्' है, वह ब्रह्म है—यह है ब्रह्मज्ञान।

ब्रह्मज्ञानमे केवल वृत्ति-व्याप्ति होती है, फल-व्याप्ति नही होती। माने ब्रह्मज्ञानका यह अभिमान उदय नही होता कि 'मैने ब्रह्मको जान लिया' क्योंकि यहाँ प्रमाताका मुख्यार्थ ही ब्रह्म है; उसमे प्रमेयत्वकी कल्पना ही अनर्थ है। प्रमाता स्वयंसे अज्ञात कब था? प्रमाताकी ब्रह्मरूपता अज्ञात है, यह भ्रम था; सो वाक्य-प्रमाणजन्य अखण्डार्थ-धीके द्वारा वह भ्रम निवृत्त हो गया। अज्ञान निवृत्त होनेपर 'स्वयंप्रकाश ब्रह्म मैं अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित हूँ' इस ज्ञानकी स्वतः स्फूर्ति हो जाती है।

'तत्त्वमसि' अर्थवाला महावाक्य आपने किस शास्त्रसे सुना, किस भाषामें सुना, किस आचार्यसे सुना, हमे इससे कोई मतलब नही है। क्योकि वह तो वेदकी ही बात हुई।

अब ब्रह्मज्ञानकी दूसरी प्रक्रिया विधिमुखसे सुनाते हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्।'

सम्पूर्ण प्रपञ्चका जो अधिष्ठान चेतन है और इस अन्त-करणका जो अधिष्ठान है वह एक है। जो अन्तःकरणका साक्षी चेतन वही सम्पूर्ण प्रपञ्चका साक्षी चेतन है और जो अन्त.करणका अधिष्ठान चेतन है वही सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान चेतन है। अल्प-उपाधि अन्तःकरण और विस्तृत उपाधि (कारण-उपाधि) मायासे उपहितके स्वरूपमे कोई अन्तर नही आता। एक ही महाकाश अल्प-उपाधि घटके कारण घटाकाश कहलाता है और सापेक्षतया महान् मठ-उपाधिके कारण मठाकाश कहलाता है और स्वय भी अल्प-उपाधियोकी अपेक्षा ही महाकाश कहलाता है अन्यथा आकाश स्वरूपत. सर्वत्र भेदरहित और एक है।

तत्-पदार्थ और त्वं पदार्थका विवेक करके महावाक्य द्वारा वाच्यार्थमे अलगाव (पृथक्ता) और लक्ष्यार्थमे एकता ज्ञापित होती है। यदि दुनियामे कही कोई जानता है तो इसीको अद्वैत-ब्रह्मकी अनुभूति बोलते हैं। ब्रह्मातिरिक्त कुछ और नही है—न जीव, न जगत्, न ईश्वर। प्रतीयमान भेद ब्रह्मातिरिक्त कुछ नही है। इसको किसी भी भाषामे, किसी भी आचार्यके द्वारा, किसी भी देशका वासी, किसी भी कालमे यदि प्राप्त कर लेता है तो वह वैदिक सविधानसे ही है।

प्रश्न था, ब्रह्मज्ञान कैसे? उत्तर हुआ शास्त्रसे। शास्त्र-योनित्वात्।

●

❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एव सस्था द्वारा प्रकाशित

पुस्तक	मूल्य
१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	१० ००
२. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	७ ५०
३. माडूक्यकारिका-प्रवचन (अद्वैत-प्रकरण)	४ ५०
४ कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग १	९.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग २	१२ ००
६. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६ ००
७ मुण्डक-सुधा	३ ७५
८. ब्रह्मसूत्र प्रवचन—१	१० ००
९ ब्रह्मसूत्र प्रवचन—२	१० ००
१० स्पन्द-तत्त्व	० ४५
११ साख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
१२ कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१३. ध्यानयोग (छठा अध्याय)	६ ००
१४. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६ ००
१५ विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५ २५
१६. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	६ ००
१७ ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय)	९.७५
१८. पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय)	( )
१९. साधना और ब्रह्मानुभूति	५ २५
२०. श्री उडिया बाबा और मोकलपुरके बाबा	०.३०
२१ चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी)	१.५०
२२. आत्मवोध	३ ००
२३ आनन्दवाणी, भाग ३ और ४ (दूसरा सस्करण)	१.५०
२४. आनन्दवाणी, भाग ५ (गुजराती)	२.२५

२५. नारद-भक्तिदर्शन	१.००
२६ भक्ति-सर्वस्व	७ ५०
२७ गोपीगीत	( )
२८. वेणुगीत	३.००
२९. गोपियोंके पांच प्रेमगीत (तीसरा सम्करण)	०.४०
३०. श्रीभक्तिरसायनम् (सस्कृत)	१२ ००
३१ श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा (सस्कृत)	३ ००
३२ श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
३३ मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
३४ व्यवहार और परमार्थ	३.७५
३५. कपिलोपदेश	३.७५
३६ भागवत-विचार-दोहन (दूसरा सस्करण)	३ ००
३७. आनन्दवाणी, भाग ७	१ ५०
३८ ज्ञान-निर्झर (तीसरा सस्करण)	०.५५
३९ माधुर्य-लहरी (स्वामी सनातन देव जी विरचित)	२.००
४०. माधुर्य-मजूषा " " "	३ ००
४१. माधुर्य-मयक " " "	३ ००
४२ माधुर्य-मकरन्द " " "	३ ००
४३ राम शताब्दी-स्मृति	२०.००
४४. महाराजश्री · एक परिचय	१.००
४५. दिव्य-जीवन एक झाकी (गुजराती)	१.९०
४६ महाराजश्री · एक परिचय (सिन्धी)	( )
४७ विवेक कीजिये	५.५०
४८ Glimpses of life Divine	1.50
४९. An introduction to a realised Soul	0 40
५०. Ideal and Truth	5.25
५१ Import of the Impersonal	0.30